वैदिक-स्वर-समीक्षा



लेखक :—
अमरनाथ शास्त्री व्याकरणाचार्य



प्रकाशक :—
चन्द्रशेखर शास्त्री,
निदेशक
श्रीमालवीय-अनुसन्धान-विभाग
ऋषिकुल विद्यापीठ, हरिद्वार।

जेठ २३ संवत् २०२१, ५ मई सन् १९६४

पुस्तक-प्राप्ति का स्थान—
मन्त्री श्रीऋषिकुल विद्यापीठ
ब्रह्मचर्याश्रम, हरिद्वार

मुद्रक—
श्रीदेवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर
वि. वै. शोध संस्थान प्रेस,
साधुआश्रम, होशियारपुर।

प्राक्-कथन

वर्तमान में वेदों की ११ शाखाएं उपलब्ध हैं। जिनमें से शाकल-शाखा प्रसिद्ध ऋग्वेद है। माध्यन्दिनी शाखा उत्तर-भारत में तथा तत्तिरीय-शाखा दक्षिण-भारत में प्रसिद्ध यजुर्वेद है। कौथुम-शाखा प्रसिद्ध सामवेद और शौनक-शाखा प्रसिद्ध अथर्ववेद है। इन्हीं वेदों का अब यत्र तत्र पठन-पाठन का सम्प्रदाय है।

'षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगम के द्वारा विधान किया गया है कि छः अङ्गों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष) के सहित वेदों के शुद्ध पाठ का अभ्यास एवं ज्ञान का लाभ करना चाहिए। बिना अर्थ-ज्ञान के केवल पाठ को ही अच्छा नहीं समझा गया। यही भावना "यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्" (=जो पढ़ा और जाना नहीं, केवल पाठमात्र से उच्चारण किया जाता है, उसका उसी भांति प्रकाश नहीं होता, जैसे अग्नि-रहित स्थान में रखा हुआ सूखी लकड़ियों का ढेर नहीं जलता) इस आप्त वचन में पाई जाती है।

वेदों में पद-पदार्थों के आधार पर ही उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की व्यवस्था पाई जाती है और उन्हें हृदयंगम कराने के लिए ही शाखा-भेद से अक्षरों के ऊपर-नीचे भिन्न-भिन्न रेखाओं का संकेत मिलता है। इन स्वर-चिह्नों का ज्ञान हुए बिना वेदों का अर्थ-ज्ञान नहीं हो सकता।

शाखा-भेद से प्रत्येक वेद के स्वर-चिह्नों का दिग्दर्शन कराते हुए वेद-पाठियों तथा वेदार्थ-बोध के निमित्त वैदिक-स्वरों के जिज्ञासुओं के लाभ के लिए यह 'वैदिक स्वर-समीक्षा' नाम की पुस्तक अधिकारी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता होती है। इसे हमारे संस्थान के विशिष्ट विद्वान् पण्डित अमरनाथशास्त्री व्याकरणाचार्य ने प्रातिशाख्य शिक्षा, निरुक्त तथा पाणिनीय-व्याकरण के महाभाष्य, काशिका, सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रमुख ग्रन्थों के वर्षों निरन्तर आलोडन के पश्चात् लिखा है।

यह पुस्तक दस अध्यायों में लिखी गई है। प्रथम अध्याय में उपलब्ध वेद-राशि तथा वैदिक-स्वर का महत्त्व बताया गया है। द्वितीय

अध्याय में संहिता-पाठ के विशेष अङ्ग संहिता दीर्घ, संहिता-अनुनासिक, कम्प-स्वर आदि विषयों का विश्लेषण है। तृतीय-अध्याय में शाकल्य के पद-पाठ की विशेषता दिखाते हुए वेद-शाखाओं के उपलब्ध पद-पाठों की तुलनात्मक समीक्षा है, तथा पद-पाठ में 'इति' के योग एवं अवग्रह के साधक-बाधक नियमों का उल्लेख है। चतुर्थ-अध्याय में उपसर्ग, गति, कर्मप्रवचनीय का विवेचन तथा पद-पाठ में गति-स्वर का निर्देश-प्रकार बताया गया है। पञ्चम अध्याय में आमन्त्रित (संबोधन) के स्वर का तथा षष्ठ-अध्याय में विभिन्न वेद-शाखाओं के उदात्त और अनुदात्त के स्वर-चिह्नों का विवेचन है। सप्तम-अध्याय में एकश्रुति का महत्त्व दिखाया है। शेष अष्टम, नवम, दशम, तीन अध्याय क्रम से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों की समीक्षा के हैं। अष्टाध्यायी की स्वर-प्रक्रिया का ही संक्षिप्त हिन्दी-संस्करण अष्टम और नवम अध्याय को कह सकते हैं। उदात्त स्वर के 'तिङन्त-स्वर' शीर्षक में नव गणों की किस क्रिया पर उदात्त-स्वर क्यों किस नियम से होता है, यह प्रसङ्ग विशेष उल्लेखनीय है। समास-स्वर से पृथक् 'नञ्-स्वर' तथा 'सु-स्वर' का विवेचन भी उल्लेख-योग्य है। स्वरित स्वर का विवेचन मुख्य-रूप से प्रातिशाख्यों के आधार पर किया गया है और साथ ही, शाखाओं के स्वरित-चिह्नों का वैदिक उदाहरणों में विश्लेषण किया है।

सब प्रतिपाद्य विषय वैदिक उदाहरणों से पुष्ट किए गए हैं। अधिक उदाहरण ऋग्वेद के शब्दों के हैं। जिस शाखा का जो स्वर सम्प्रदायानुगत है, या पद पाठ सम्प्रदायानुगत है, उन्हें उसी प्रकार से दिखाया गया है।

टिप्पण-भाग में नीचे उद्धृत सूत्र तथा सन्दर्भ या मन्त्र-वाक्य आदि ज्यों के त्यों संस्कृत में प्रस्तुत किए गए हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि योग्य लेखक के चिरकालिक स्वाध्याय और परिश्रम का फल स्वरूप यह उत्तम ग्रन्थ सर्वत्र वैदिक-विद्या के अध्यापकों एवं छात्रों तथा अन्य सब जिज्ञासु जनों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा और वे इससे सदा लाभान्वित होते रहेंगे।

वि. वं. शोध संस्थान,
होशियारपुर
२९-५-६४

विश्व बन्धु
(विश्वबन्धु)

प्रकाशक का निवेदन

भागीरथी के तट पर हरिद्वार में अखिल भारतीय शिक्षण संस्था ऋषिकुल विद्यापीठ ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना आज से ५८ वर्ष पूर्व महामना श्रीमदनमोहन मालवीयजी की प्रेरणा से श्रीदुर्गादत्त पन्त और सरदार इन्द्रराजशर्मा ने की थी। ऋषिकुल में ब्रह्मचर्याश्रम, संस्कृत-महाविद्यालय, आयुर्वेदिक-कालेज, आयुर्वेदिक फार्मेसी, आतुरालय, वेद-कर्मकाण्ड-विद्यालय आदि विभाग उत्तम रीति से कार्य कर रहे हैं। ऋषिकुल के साथ देश के मान्य नेताओं तथा शिक्षा शास्त्रियों का प्रारम्भ से विशेष सम्पर्क रहा है। यहाँ समस्त भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के बालक संस्कृत, आयुर्वेद, ज्योतिष, वेद कर्मकाण्ड, अंग्रेजी हिन्दी, गणित आदि विषयों की शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस संस्था से सहस्रों योग्य स्नातक शिक्षा प्राप्त करके उत्तम पदों पर प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। यह संस्था भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों से मान्य एवं सहायता प्राप्त है।

गत वर्ष से पूज्य महामना मालवीयजी की पुण्य-स्मृति में भारत सरकार की सहायता से ऋषिकुल में मालवीय अनुसन्धान विभाग की स्थापना हुई है। इसके सञ्चालन के लिए निम्न-लिखित व्यक्तियों की एक समिति बनाई गई है, जिसके निरीक्षण में वेद, संस्कृति और पुराण इन तीन विषयों पर अनुसन्धान कार्य हो रहा है। इन विषयों पर योग्य विद्वानों ने अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है।

मालवीय-अनुसन्धान-समिति

१. कुलपति—(प्रधान सभापति) श्रीसत्यनारायणसिंह केन्द्रीय मंत्री भारत सरकार।

२. उपकुलपति—(अध्यक्ष) श्रीस्वामी आनन्द जी।

३ उपाध्यक्ष—श्रीस्वामी वेदव्यास जी।

४. ,, —श्रीप्रसिद्धगोपालशास्त्री जी।

५. प्रधान-मन्त्री —श्रीआनन्दप्रकाश वाशिष्ठ पण्डासरदार।

६ मन्त्री व निदेशक—श्रीचन्द्रशेखरशास्त्री साहित्यायुर्वेदाचार्य

७. सदस्य—श्रीआचार्य प्रभाकर मिश्र एम ए.।

अभी तक इन तीन ग्रन्थों की रचना अनुसन्धान विभाग में हुई है।

१. वेद-विषय मे—'वैदिक-स्वर समीक्षा'—लेखक—विद्याभास्कर श्रीअमरनाथ शास्त्री व्याकरणाचार्य।

२. संस्कृति-विषय मे—'भारतीय संस्कृति'—लेखक—श्रीअमरचन्द्रशास्त्री साहित्याचार्य विद्यावाचस्पति।

३. पुराण विषय मे—'पुराण-मीमांसा'—लेखक—श्रीप्रेमाचार्यशास्त्री साहित्याचार्य एम ए।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों पर भी अनुसन्धान का कार्य आगे भी चलता रहेगा। मालवीय-अनुसन्धान भवन का निर्माण केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार की सहायता से किया गया है। पुस्तक तथा फर्नीचर आदि के लिए भारत सरकार ने सहायता दी है। भविष्य में यह विभाग दिनोंदिन केन्द्रीय सरकार की सहायता से अत्यधिक उन्नति करेगा, यह हमें पूर्ण आशा और विश्वास है।

अन्त में मैं अनुसन्धान विभाग की ओर से "वैदिक स्वर समीक्षा" पुस्तक के लेखक श्रीअमरनाथशास्त्रीजी का अनेक धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने दिन-रात अथक परिश्रम करके इस महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रन्थ की रचना की है। साथ ही माननीय आचार्य श्रीविश्वबन्धुशास्त्री एम ए., एम. ओ. एल. का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने "प्राक् कथन" लिखकर हमें आशीर्वाद दिया है और अपने प्रेस में इस ग्रन्थ का मुद्रण कराया है।

चन्द्रशेखर शास्त्री

प्रस्तावना

१. ग्रन्थ की आवश्यकता—भारतवर्ष की धर्मप्राण जनता का जीवन-चक्र साङ्गोपाङ्ग वेद-राशि की धुरी के चारों ओर घूमता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त वेद मन्त्रों के बिना श्वास लेना भी मानों वर्जित है। क्योंकि धर्म का महान् अनादि ज्योति-स्तम्भ वेद को ही माना गया है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनुस्मृति २, ६)। इसी लिए महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-शास्त्र के प्रयोजनों की विवेचना करते हुए—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' (=ब्राह्मण को निष्कामरूप से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ना चाहिए और उसका अर्थ-ज्ञान करना चाहिए) इस आगम को मुख्य लक्ष्य माना है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी बहुत नहीं तो कम से कम ऋग्वेद को विश्व का सब से पुराना पहला ग्रन्थ माना है।

साहित्य तात्कालिक समाज का दर्पण होता है, जो कुछ भले बुरे सिद्धान्त तात्कालिक समाज के अङ्ग होते हैं, वही साहित्यकार की लेखनी से साहित्य में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। महर्षि की लेखनी ही इस तथ्य में प्रमाण है कि पुष्यमित्र के समकालीन (लगभग दो सौ वर्ष ईसवीपूर्व) महर्षि के काल में द्विज मात्र विशेष कर ब्राह्मण वेद पढ़ने-पढ़ाने में अपना गौरव समझते थे। भारत के नगर नगर ग्राम ग्राम तथा मोहल्लों में घर घर ब्रह्म-घोष सुनाई पड़ता था। यही वेद ज्ञान का स्वर्ण-युग बहुत काल नहीं बीता, गोस्वामी तुलसीदास-जी के जीवन-काल में मुखरित था। इसलिए अपने रामचरितमानस में वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए स्थान-स्थान पर टर्र टर्र करते हुए मेंढकों की उपमा उन्होंने घर घर वेद ध्वनि करते हुए बटु समुदाय से दी है—

'दादुर धुनि चहु दिसा सुहाई। वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
(रामायण किष्किन्धाकाण्ड)

आज दुर्भाग्य से देश की स्वतन्त्रता के साथ वेद-राशि की महिमा विनाशोन्मुख हो गई। स्यात् हरिद्वार या ऋषीकेश में कहीं या फिर बनारस में ब्रह्म घोष सुनने को मिले तो मिले, अन्यथा उत्तर भारत ने मानों वेद को देश-निकाला सा दे दिया है। दाक्षिणात्यों ने आज भी कुछ लाज रखी हुई है। यह तो रही वेद-पाठ की चर्चा।

वेद का अर्थ ज्ञान तो संभवतः सदियों पूर्व से भारतवर्ष से विदा हो चुका है। वेद-पाठ में भी बालकों को गुरु-सम्प्रदायानुगत हस्त-चालन की विधि ही

सिखाई जाती है। जिसका याज्ञवल्क्य-शिक्षा में कुछ आभास मिलता है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर यथार्थ में क्या हैं। किसी शब्द में आद्युदात्त या मध्योदात्त क्यों है, इस विषय की खोज नहीं होती। युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में पाठ्य-क्रम के रूप में अवश्य सिद्धान्तकौमुदी की वैदिक-स्वर-प्रक्रिया को स्थान दिया हुआ है, बनारस की परीक्षाओं में परीक्षार्थी मनोयोग से उसका अध्ययन करते भी हैं, परन्तु भविष्य में उसका कोई उपयोग नहीं होता। पंजाब युनिवर्सिटी ने भी शास्त्री और आचार्य के पाठ्य-क्रम में वैदिक-स्वर-ज्ञान को प्राञ्जल स्थान दिया है, परन्तु प्रायः छात्रों की रुचि उधर न-गण्य है। संस्कृत एम० ए० की परीक्षा में इस विषय को अनिवार्य निश्चित किया हुआ है। एम० ए० के विद्यार्थी परिश्रम और रुचि से इस विषय को समझना भी चाहते हैं, किन्तु संहिता-पाठ और पद-पाठ की विशेषताओं के साथ वैदिक-स्वरों की उपपत्ति समझाने वाला कोई ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में उपलब्ध नहीं। डाक्टर मैकडोनल्ड की 'वैदिक-ग्रामर' अंग्रेजी में अवश्य है, उसी से अभी तक निर्वाह भी हो रहा है, परन्तु एक प्रकार से वह स्वर-नियमों का संग्रहमात्र है, फिर है भी अंग्रेजी में। वैदिक-स्वर क्या हैं, इस बात का उस ग्रन्थ में प्रतिपादन है। 'क्यों हैं' इसकी उपपत्ति नहीं मिलती। आवश्यकता है वेद के अर्थों के समझने के लिए उदात्त स्वर क्यों है? अनुदात्त कैसे कहां होता है? स्वरित कैसे किन नियमों से सम्पन्न होता है? इन प्रश्नों का समाधान ढूंढने की। इसके अतिरिक्त श्रीयुधिष्ठिरजी 'मीमांसक' ने भी 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' नाम की पुस्तक बनारस से प्रकाशित कराई है। परन्तु लेखक विद्वान् ने जितना स्थान उसमें देशी-विदेशी वैदिक विद्वानों की समालोचना को दिया है, उतना वस्तु तत्त्व को नहीं। इन त्रुटियों को पूर्ण करने के लिए हमारा यह लघु प्रयास है। इस ग्रन्थ में भी आचार्यों की समालोचना है, परन्तु स्वल्प। प्रयत्न यही किया गया है कि एक वेदार्थ का जिज्ञासु भी किस प्रकार से वेद-पाठ के अङ्गभूत संहिता-पाठ के नियमों, पद-पाठ के नियमों, पद-पाठ की विशेषताओं, पद-पाठ के तुलनात्मक-अध्ययन की सूक्ष्मताओं, आमन्त्रित-स्वर, गति-स्वर तथा कर्मप्रवचनीय का सूक्ष्म-विवेचन तथा एक-श्रुति का अवगाहन करता हुआ उदात्त-स्वर के प्रत्येक क्षति श्लिष्टस्वर तथा तिङन्त स्वर आदि भेदों की उपपत्ति तथा सिद्धि के साथ, अनुदात्त तथा स्वरित के ज्ञान में योग्यता प्राप्त कर सके और वेद मन्त्रों के शब्दों के ऊपर-नीचे लगी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित की रेखाओं का परिचय प्राप्त कर सके।

२. ग्रन्थ का प्रारम्भ— बहुत समय से एक मौलिक तथा अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ लिखने की उत्कट इच्छा थी। संस्कृत साहित्य

के विषयों पर दृष्टि दौड़ाई, सारे ही उत्तमोत्तम भाष्य, टीका, टिप्पण से सम्पन्न। यहां तक कि विद्वानों ने उन पर कुञ्जियां भी लिख मारीं। मेरे गरीब के लिये लिखने को क्या रहा। उन दिनों लाहौर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान में मैं श्रौत-सूत्र आदि के पदानुक्रम-कोष का कार्य कर रहा था और नित्य-प्रति प्रातिशाख्य, शिक्षा, निरुक्त तथा पाणिनीय व्याकरण के ग्रन्थों के आलोडन का स्वर्ण अवसर प्राप्त था। स्वाध्याय से जो सामग्री मिलती, उन्हें पर्चियों में लिखकर संग्रह कर लेता। यहां होश्यारपुर में सामग्री का संग्रह पुष्कल हो गया, और मौलिक ग्रन्थ को लिखने के लिये वैदिक-स्वरों पर समीक्षा का भाव हृदय में साकार हुआ। सन् १६५७ में उपलब्ध सामग्री के चयन का लघु प्रयास किया। ४०-४५ बड़ी पर्चियों पर सामग्री ग्रथित भी की। छोटी पुस्तिका-सी लिखी गई। परन्तु इतना परिश्रम क्यों करें, कौन छपवायेगा, सन्दूक में ही सरस्वती-शयन कराने से क्या लाभ, ऐसी निराशा ने निरुत्साहित सा कर दिया, और आगे लिखना ठप्प। सन् १६५८ में भ्रमणार्थ मैं ज्वाला-मुखी जी गया, इस भावना से कि खाली समय में इस पुस्तक को आगे बढ़ाऊँगा, पुस्तक भी साथ थैले में लेता गया। वर्षा के दिन थे, व्यास नद यौवन पर था, एक जगह सड़क पर दरिया के २० फुट चौड़े भाग को छाती तक पानी में पार करने लगा कि नीचे से पत्थर खिसक जाने से गठरी और थैला पानी में। झटपट सब वस्तुएं संभाल कर देखा तो पुस्तक दरिया में कुछ दूर बह गई थी। तुरन्त पाँच कदम आगे बढ़कर पुस्तक जा पकड़ी, परन्तु भ्रमण-काल में कोई प्रगति नहीं हुई। फिर निराशा में।

सन् १६६३ में अपने मकान की व्यवस्था के लिये मैं दिल्ली गया। वापिसी में एक रात ऋषिकुल के मान्य स्नातक प्रोफेसर श्रीसिद्धगोपालजी शास्त्री के घर तिब्बिया कालेज क्वार्टर्स करौलबाग में ठहरा। दैवयोग से ऋषिकुल हरिद्वार के मन्त्री श्रीचन्द्रशेखरशास्त्रीजी भी अगले दिन मुझे आ मिले, और उन्होंने विशेष आग्रह किया कि वेद-विषय पर यदि आपका कोई ग्रन्थ तैयार हो, चाहे एक सौ पृष्ठ का ही हो, तो हमें दीजिये, ऋषिकुल कमेटी वह छपवायेगी। मुझे कुछ उत्साह मिला, मैंने उस छोटी पुस्तिका को पूर्ण करके उन्हें देने का वचन दिया, और आज वह मेरा संकल्प साकार हुआ है।

३. सहायक ग्रन्थ—यह ग्रन्थ लिखने में निम्न-लिखित ग्रन्थों से सहायता ली गई है—

१. ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, २. शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य (दोनों पर उव्वट-भाष्य), ३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, ४. अथर्व प्रातिशाख्य, ५. शौनक-चतुरध्यायी, ६. भाषिक-सूत्र, ७. याज्ञवल्क्य-शिक्षा, ८. कौहड-शिक्षा, ९. शैशिरीय-शिक्षा, १०. पाणिनीय-शिक्षा, ११. निरुक्त (दुर्ग-भाष्य तथा स्कन्दस्वामि-भाष्य-सहित, १२ महाभाष्य (प्रदीप तथा उद्योत व्याख्या सहित), १३. वाक्यपदीय, १४. काशिका, १५, सिद्धान्त-कौमुदी (तत्त्व-बोधिनी तथा बालमनोरमा-टीका सहित), १६. लघुशब्देन्दुशेखर, १७. भागवत-पुराण, १८. वेङ्कटमाधव, स्कन्दस्वामी और सायणाचार्य के ऋग्वेद-भाष्य आदि।

४. ग्रन्थ के आधारभूत ज्ञातव्य—१. इस ग्रन्थ में स्वर नियमों के मुख्य आधार अष्टाध्यायी के सूत्र हैं। प्रातिशाख्यों के जटिल तथा कठिन स्वर-नियमों को असंदिग्ध और-प्राञ्जल पाणिनीय स्वर-प्रक्रिया में गूंथ-सा दिया गया है।

२. जो पाणिनीय सूत्रों से लभ्य नहीं, उस सामग्री का प्रातिशाख्य और शिक्षाओं से चयन किया गया है।

३. हिन्दी-भाषा में हो सम्पूर्ण ग्रन्थ सामग्री का सङ्कलन होने के कारण उपपादक शास्त्रीय-प्रमाण मन्त्र, सूत्र या गद्य-पद्य के रूप में नीचे टिप्पण में ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं।

४. स्वर-ज्ञान के लिये अष्टाध्यायी के अत्यावश्यक सामान्य स्वर-नियमों को ही संकलित किया है, सम्पूर्ण स्वर-प्रक्रिया का अक्षरशः अनुवाद नहीं है।

५. वैदिक उदाहरण भी वेदों की सम्पूर्ण शाखाओं तथा शतपथ और काण्व-ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय-आरण्यक से सामान्यतः काशिका और सिद्धान्त-कौमुदी के आधार पर ही संकलित हैं। जो इनमें उपलब्ध नहीं, उनका प्रयत्न से अन्वेषण करके संग्रह किया गया है।

६. ऋग्वेदीय मन्त्रों के ही सब वेद-शाखाओं में अनुस्यूत होने तथा उसके पद-पाठ के अत्यन्त सरल और स्पष्ट होने के कारण प्रायः उदाहरण ढूंढ ढूंढकर ऋग्वेद से दिये गये हैं।

७. पद-पाठ भी जिस वेद-शाखा का सम्प्रदायानुसार जैसा प्रचलित है, वैसा ही दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

८. जिस वेद-शाखा या ब्राह्मण में उदात्त आदि स्वरों के प्रदर्शन का जो अपना-अपना सम्प्रदाय है, उसी के अनुसार उन-उन शाखाओं से उद्धृत मन्त्रों या उदाहरणों में उदात्त आदि स्वरों का अंकन किया गया है। जैसे

मैत्रायणी संहिता के सम्प्रदायानुसार मैत्रायणी से उद्धृत उदाहरणों में उदात्त का चिह्न (⊥) ऊर्ध्व-रेखा और शतपथ-ब्राह्मण के उदाहरणों में उदात्त-स्वर का चिह्न नीचे पड़ी रेखा (–) दिखाया गया है।

९. समास-स्वरों का दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए 'उदात्त प्रकरण' (अष्टम अध्याय) में ही यथा-स्थान उनका संक्षेप से समावेश कर दिया है। अनावश्यक रूप से समास-स्वर प्रक्रिया के संपूर्ण सूत्रों को संकलित नहीं किया है।

१०. सूत्र नियमों के उदाहरण भी निदर्शनमात्र संगृहीत हैं। एक-एक वर्ग के सम्पूर्ण उदाहरणों का संग्रह इस परिमिताकार ग्रन्थ में अशक्य है।

५. कृतज्ञता-प्रकाशन—सर्व-प्रथम मैं श्रीविश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान के आदरी सञ्चालक श्रद्धेय आचार्य श्रीविश्वबन्धुशास्त्रीजी का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने 'प्राक्-कथन' लिखने की मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मेरे उत्साह को और ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ाने की कृपा की है। फिर ऋषिकुल हरिद्वार के योग्य स्नातक, मालवीय-अनुसन्धान-विभाग के प्रधान निदेशक पण्डित श्रीचन्द्रशेखरजी शास्त्री का हृदय से आभारी हूँ, जिनकी उत्साहपूर्ण तत्परता के फलस्वरूप यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है।

मुद्रक श्रीमान् देवदत्तजीशास्त्री, प्रेस के मैनेजर तथा कम्पोजिटरों का भी मैं हार्दिक धन्यवादी हूँ, जिनकी कार्य-तत्परता एवं दक्षता के कारण यह ग्रन्थ यथा समय छप सका है।

इस प्रसङ्ग में मेरे पास अपनी पूज्या स्वर्गीया बुआ 'माता लक्ष्मी' के अभिनन्दन के लिये कोई योग्य शब्द नहीं हैं, जिन्होंने मुझ मातृ-पितृ-हीन दुध-मुहे बालक का लालन-पालन करके मुझे यह ग्रन्थ लिख सकने की योग्यता तथा क्षमता प्रदान की, और जो मेरे जीवन के प्रेरणा-स्रोत हैं।

६. पाठकों से याचना—वैदिक-स्वर-विषय की जटिलता, तथा ग्रन्थ-मुद्रण के प्रारम्भ से ही मेरी निरन्तर शोचनीय रुग्णता के कारण ग्रन्थ में कई प्रकार की अशुद्धियाँ सम्भावित हैं। यद्यपि अन्त में अशुद्धि-शोधक-पत्र लगाया है, तथापि विद्वान् सभा रचनात्मक दृष्टि से ग्रन्थ-विषय का परिशीलन करने की कृपा करेंगे, और किसी भी त्रुटि पर मेरा ध्यान आकृष्ट करके ग्रन्थ का तथा मेरा महान् उपकार करेंगे।

इस ग्रन्थ से वैदिक-स्वरों के ज्ञान की दिशा में पाठकों को रञ्च भी लाभ हुआ तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगा॥

वैशाख पूर्णमासी, १. ज्येष्ठ, संवत् २०२१.
२६ मई सन् १९६४ अमरनाथ

ग्रन्थनाम-संक्षेप

ग्रन्थ में अनावश्यक विस्तार से बचने के लिये संपूर्ण उद्धृत ग्रन्थों का नाम-संकेत संक्षेप में दिया गया है, जो कि निम्न-निर्दिष्ट है—

अप्रा.	अथर्ववेद-प्रातिशाख्य
ऋ.	ऋग्वेद
ऋप्रा.	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य
का., काण्व.	काण्व-संहिता (शुक्ल-यजुर्वेदीया)
काठ.	काठक-संहिता (कृष्ण-यजुर्वेदीया)
काश.	काण्वशाखीय-शतपथ-ब्राह्मण
कौ.	कौथुम-संहिता (प्रसिद्ध सामवेद)
कौशि.	कौहडि-शिक्षा
तै.	तैत्तिरीय-संहिता (कृष्ण-यजुर्वेदीया)
तैआ.	तैत्तिरीय-आरण्यक
तैप्रा.	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तैब्रा.	तैत्तिरीय-ब्राह्मण
पपा.	पद-पाठ
पा.	पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्र
पाग.	पाणिनीय-गणपाठ
पावा.	पाणिनीय-वार्तिक (कात्यायन-कृत)
पाशि.	पाणिनीय-शिक्षा
पै.	पैप्पलाद-संहिता (अथर्ववेदीया)
भाषृ.	भाषिक-सूत्र
मा.	माध्यन्दिनी संहिता (प्रसिद्ध यजुर्वेद)
माश.	माध्यन्दिनशाखीय-शतपथ-ब्राह्मण
मै.	मैत्रायणी संहिता (कृष्णयजुर्वेदीया)
याशि.	याज्ञवल्क्य-शिक्षा
शब्रा.	शतपथ-ब्राह्मण
शुप्रा.	शुक्लयजुर्वेदीय-प्रातिशाख्य
शैशि.	शैशिरीय-शिक्षा
शौ.	शौनक-संहिता (प्रसिद्ध अथर्ववेद)
शौच.	शौनक-चतुरध्यायी
सपा.	संहिता-पाठ
सावे.	सामवेद

विषय-सूची

श्रीगणेशाय नमः

वैदिक-स्वर-समीक्षा

विघ्नाधिपं प्रणम्यादौ मातरं च सरस्वतीम् ।
काशिरामात्मजः कुर्वे वेद-स्वर-समीक्षणम् ॥१॥
प्रातिशाख्यविशेषाणाम् अष्टाध्यायी-पुटान्तरे ।
पर्यालोचनसूत्रेण गुम्फनं दशधा कृतम् ॥२॥

प्रथम अध्याय

[१. वेद-राशि, २. वैदिक-स्वर, ३. स्वर-निर्वचन]

१. वेद-राशि

वैदिक स्वरों के सुचारु रूप से हृदयंगम कराने के लिये ही इस ग्रन्थ की अन्वर्थ-संज्ञा 'वैदिक-स्वर-समीक्षा' (वेद के स्वरों का सम्यक् पर्यालोचन) है। स्वरों का पर्यालोचन करने से पूर्व वेदों की इयत्ता, उपलब्धि तथा शाखाओं का विवेचन करना आवश्यक है।

वेदों को महर्षियों तथा परवर्ती आचार्यों ने अतीत अनागत अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कराने वाली महान् ज्ञान-राशि बताया है। यह संपूर्ण ज्ञान-राशि महर्षि कृष्ण-द्वैपायन (वेद-व्यास) के समय तक अव्यस्त (अविभक्त) थी, उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद इन चार राशियों में उसका व्यास (विश्लेषण) करके अपने चार शिष्यों को चारों वेद पढ़ाये[1], तब से उन्हें वेद-व्यास कहा

---

1. पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः ।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः ।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ॥
तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः ।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥
पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥
(भागवतपुराण १२,६,४९-५३) ।

जाने लगा। आगे चलकर गुरु-शिष्य-परम्परानुगत संप्रदाय के भेद से तथा उनकी शाखा प्रशाखा के विस्तार से वेद-राशि के अनेक भेद हो गये जिन्हें वेद-शाखा कहा जाता है।

व्याकरण-महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि (लगभग २०० वर्ष ईसवी पूर्व) के समय में एक हजार एक सौ इकत्तीस (११३१) वेद-शाखाएँ उपलब्ध थीं, उतने ही प्रत्येक शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषदें भी विद्यमान थीं। जैसा कि महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उन्हीं की अवदात लेखनी से स्पष्ट है—"चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतम् अध्वर्युशाखा (आध्वर्यव-वेद अर्थात् यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ), सहस्रवर्त्मा सामवेद (साम-वेद की १००० शाखाएँ), एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् (बह्वृच अर्थात् ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ), नवधाथर्वणो वेद" (अथर्व-वेद की ९ शाखाएँ)। इनका विशद विवेचन चरण-व्यूह नामक ग्रन्थ में है।

इतनी पुष्कल वेद-राशि के इन बाईस सौ वर्षों में काल-कवलित होते-होते वेद की कुल ११ शाखाएँ आज उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की २१ शाखाओं में से आज एकमात्र शाकल-शाखा स स्वर विद्यमान है, जो ऋग्वेद के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि ऋग्वेद की बाष्कल-शाखा भी कहीं अपरिष्कृत रूप में कुछ अंश में छपी सुनी गई है, परन्तु हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई। आध्वर्यव-वेद (यजुर्वेद) की भी शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद के विभाग से सर्वयोग ६ वेद-शाखाएँ वर्तमान हैं। जिनमें दो वेद-शाखाएँ शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता और काण्व-संहिता के नाम से स-स्वर प्रसिद्ध हैं। काण्व-संहिता की उतनी व्यापक ख्याति नहीं है जितनी माध्यन्दिन-संहिता की। इसलिये प्रसिद्ध यजुर्वेद-ग्रन्थ (विशेषत उत्तर भारत में) माध्यन्दिन-संहिता ही है। इसी का दूसरा प्रसिद्ध नाम वाजसनेयी-संहिता है। उत्तर भारत में यत्र-तत्र यज्ञोपवीत आदि संस्कारों में माध्यन्दिनशाखाध्यायी कह कर बालक को उसकी वेद-शाखा का परिचय दिया जाता है। शेष चार शाखाएँ कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कपिष्ठल नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण भारत में यजुर्वेद के नाम से तैत्तिरीय-शाखा के ही प्राय अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी है। अर्थात् दाक्षिणात्यों का प्रसिद्ध यजुर्वेद तैत्तिरीय-संहिता है। इनमें तैत्तिरीय-संहिता तथा मैत्रायणी-संहिता पर स्वर-चिह्न हैं। काठक संहिता में कहीं कहीं और कपिष्ठल संहिता में सर्वथा नहीं। साम-वेद

की एक हजार शाखाओं में से आज केवल तीन शाखाएँ शेष हैं। कौथुम-संहिता, राणायनी-संहिता तथा जैमिनीय-संहिता। कौथुम-संहिता ही प्रसिद्ध साम-वेद है। इसकी अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी दिनानुदिन कम होती जा रही है। किसी समय बंगाल प्रान्त मे इसकी विशेष ख्याति थी। राणायनी और जैमिनीय-संहिता मे स्वर-चिह्न नहीं है। अथर्व-वेद की ६ शाखाओं मे से आज दो शाखाएँ शेष हैं। शौनक-संहिता तथा पैप्पलाद-संहिता। प्रसिद्ध अथर्व-वेद जिस पर सायणाचार्य का भाष्य भी है शौनक-संहिता ही है। पैप्पलाद-संहिता में कहीं-कहीं स्वर-चिह्न हैं।

इन ११ वेद-शाखाओं के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ तो अंगुलि-गण्य मात्र हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय-ब्राह्मण, शाङ्खायन-ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण यह तीन ब्राह्मण और ऐतरेय-आरण्यक तथा शाङ्खायन-आरण्यक यह दो आरण्यक शेष हैं। इन दोनों पर स्वर के चिह्न नहीं हैं। प्रोफेसर कीथ द्वारा संपादित ऐतरेय-आरण्यक मे कहीं-कहीं अस्पष्ट स्वर है।

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व दोनों वेद-शाखाओं के दोनों ब्राह्मण माध्यन्दिन-शतपथ (१४ प्रपाठक) और काण्व-शतपथ (१६ प्रपाठक) के नाम से स-स्वर प्राप्त हैं। जिनमे काण्व-शतपथ १६ प्रपाठकों मे से केवल सात प्रपाठक तक डाक्टर कैलेण्ड के सत्प्रयत्न से उपलब्ध है। सोलहवां प्रपाठक हस्त-लिखित विना स्वर प्राप्त है।

कृष्ण-यजुर्वेद का भी तैत्तिरीय ब्राह्मण स-स्वर प्राप्त है, संकलित रूप मे काठक ब्राह्मण का भी प्रकीर्ण भाग उपलब्ध है। तैत्तिरीय-आरण्यक भी प्राप्त हैं। परन्तु उसके स्वर-चिह्न ठीक नहीं हैं।

साम-वेद के आर्षेय-ब्राह्मण, जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण, जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण, जैमिनीय-ब्राह्मण, ताण्ड्य-ब्राह्मण (पञ्चविंश ब्राह्मण) दैवत ब्राह्मण, मन्त्र-ब्राह्मण, षड्विंश-ब्राह्मण, सामविधान-ब्राह्मण, संहिता-ब्राह्मण यह दस ब्राह्मण उपलब्ध है। स्वर-चिह्न किसी पर भी नहीं। आरण्यक तो सर्वथा अनुपलब्ध हैं।

अथर्व-वेद का प्रसिद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ गोपथ-ब्राह्मण प्राप्त है। उसमे स्वर-चिह्न नहीं हैं।

उपनिषदें यद्यपि सब मिलाकर १०८ से ऊपर होंगी, किन्तु उनमे

स्वर से बहुव्रीहि समास में (इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य इन्द्र ही जिसका शत्रु मारने वाला है) इस अर्थ से उल्टे इन्द्र ने त्वष्टा का संहार कर दिया[1]।

महान् वेद-भाष्यकार सायणाचार्य ने तैत्तिरीय-संहिता के अपने भाष्य में इन्द्र-शत्रु शब्द का यथार्थ अर्थ विशद किया है।[2]

'ऋग्वेद के महान् भाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधव की तो यह घोषणा

---

१. अथ यदब्रवीत् 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' तस्माद् उ हैनमिन्द्र एव जघान। अथ यद्ध शश्वदवक्ष्यत् 'इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्व' इति, शश्वद् उ ह स एवेन्द्रमहनिष्यत् (शबा १, ६,३,१०)।

२. "त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रं सोममाहरत्। तस्मिन्निन्द्र उपहवमैच्छत्। तं नोपाह्वयत—पुत्रं मेऽवधीरिति। स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। तस्य यद् अत्यशिष्यत, तत् त्वष्टाऽऽहवनीयमुपप्रावर्तयत्—'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति। स यावदूर्ध्वः पराविध्यति, तावति स्वयमेव व्यरमत" (तैत्तिरीयसंहिता २,४,१२,१)

सायण-भाष्यम्—विश्वरूपनाम्नस्त्वष्टृपुत्रस्य इन्द्रेण कृतो वध.।'''स च हतपुत्रस्त्वष्टा कोपाद् इन्द्ररहितं सोमयागं कर्तुमुद्यतः। तस्मिन्यागे 'मामाह्वय' इत्येवमिन्द्रोऽब्रवीत्। स तु त्वष्टा तं 'पुत्रं मेऽवधीः' इत्यवदत्। तमिन्द्रं नोपाह्वयत। स चेन्द्रो यज्ञस्य विघातं कृत्वा बलात्कारेण सोमं पीतवान्। तस्येन्द्रेण बलात् पीतस्य सोमस्य संबन्धि रसरूपं यद् अल्पम् अत्यशिष्यत, तद् गृहीत्वा त्वष्टाऽभिचारं कर्तुम् आहवनीयमुपेत्य, होमेनाऽग्निं वैरोत्पादनाय प्रवृत्तमकरोत्। तस्मिन् होमे मन्त्रमिमम् उच्चारितवान्—'स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इति। तस्याऽयम् अर्थः—'हे अग्ने! तुभ्यमिदं स्वाहुतम्, पुनरिन्द्रस्य शातयिता कश्चित् पुरुषो भूत्वा वर्धस्वेति।' सोऽग्निर्यावता कालेनोर्ध्वज्वालारूपो भूत्वा पराभूतमिन्द्रं कर्तुं 'विध्यामि' इत्युद्यतो भवति, तावति काले वह्निः स्वयमेव विरतोऽभूत्—ज्वाला शान्तेत्यर्थः। तत्र मन्त्रगतस्वरापराधो निमित्तम्। तथाहि—'इन्द्रस्य शातयिता इन्द्रशत्रुः' इति विवक्षायां तत्पुरुषसमासस्याऽन्तोदात्तत्वेन भवितव्यम्। आद्युदात्तस्वरं शब्दः प्रयुक्तः, स च बहुव्रीहितां द्योतयति। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा. ६,२,१) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वविधानात्। सति बहुव्रीहौ 'इन्द्रः शातयिता यस्य' इत्यर्थो भवति, सोऽयं मन्त्रगतः स्वरापराधः। अपराधाऽभावे सति उन्नतया ज्वालया यजमानस्य कार्यसिद्धिः सूचिता भवति, अपराधे त्ववनतया यजमानस्य कार्यसिद्ध्यभाव. सूच्यते।

भावार्थ—विश्वरूप नामक त्वष्टा का पुत्र था। इन्द्र ने उसका वध कर दिया। पुत्रवध से क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने इन्द्रभाग-रहित सोमयाग करने का निश्चय किया। इन्द्र ने कहा—'याग में मुझे भी आमन्त्रित करो।' त्वष्टा

है कि वेद में अर्थ की व्यवस्था स्वर से ही हो सकती है।[1] इसलिए वैदिक शब्दों का उच्चारण करने के लिए, या किसी वैदिक मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसका स्वर-ज्ञान तथा संप्रदायानुगत विनियोग-प्रक्रिया का ज्ञान अत्यावश्यक है। अन्यथा कर्म-वैगुण्य की पूरी पूरी संभावना है। वर्तमान काल में मनोरथासिद्धि का दोष हम चाहे युग-धर्म (कलि-युग) के सिर मढ़ कर आत्म-सन्तोष कर लें, परन्तु दोष यथार्थ में युग-धर्म का नहीं, दोष संप्रदायानुगत मन्त्र-सिद्धि की प्रक्रिया तथा स्वर-ज्ञान से शून्य होने के कारण प्रति-पद अशुद्ध उच्चारण का है।

ने उत्तर दिया—'तुमने मेरे पुत्र का वध किया है।' इसलिये उसने सोमयाग में इन्द्र को आमन्त्रित नहीं किया। इन्द्र ने क्रुद्ध होकर यज्ञ का विध्वंस कर दिया और बलात् सोमपान कर लिया। त्वष्टा ने इन्द्र के पीए हुए सोमरस के उच्छिष्ट अंश से इन्द्र के वध के लिए आभिचारिक प्रयोग प्रारम्भ किया। विधि-पूर्वक आहवनीय-अग्नि का आधान करके इन्द्रशत्रु उत्पन्न करने के लिए त्वष्टा ने 'स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (हे अग्नि, तुम्हारे लिए यह सुस्वादु हवि प्रदान करता हूं, तुम इन्द्र के मारने वाले दिव्य पुरुष का रूप धारण कर बढ़ो) इस मन्त्र से आहुति देनी आरम्भ की। इन्द्र को पराभूत करने के लिए अग्नि ऊर्ध्वज्वाला में बढ़ना ही चाहता था कि अकस्मात् स्वयमेव शान्त हो गया। अग्नि के ऊर्ध्वज्वाला में होते-होते स्वयमेव शान्त हो जाने में एक मात्र निमित्त मन्त्रगत स्वर का दोष था। 'इन्द्रस्य शातयिता' इस षष्ठी-तत्पुरुषसमास की विवक्षा में अन्तोदात्त 'इन्द्रशत्रु' शब्द उच्चारण करने के स्थान में आद्युदात्त का प्रयोग हो गया। इससे बहुव्रीहि समास भासित हो गया। परिणाम यह हुआ कि बहुव्रीहिसमास के कारण 'इन्द्रशत्रु' शब्द का अर्थ 'इन्द्रः शातयिता यस्य' (इन्द्र जिसका मारने वाला है) यह विपरीत अर्थ हो गया। अग्नि की ऊर्ध्वज्वाला से यजमान की कार्यसिद्धि और मन्द ज्वाला से असिद्धि सूचित होती है।

1. माधवस्य स्वयं पश्य स्वरेष्वेव व्यवस्थितिः ॥ (वेङ्कटभूमिका, ऋ. १,१,१)

सर्वेष्वपि समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत्।
कार्यं कुर्यात् व्याख्याता स्वरं तं स्थापयेदिति ॥ (वेङ्कटभूमिका, ऋ. १,२१,१)
सर्वेष्वपि समासेषु कार्या सूक्ष्मेक्षिका बुधैः।
पदेषु चासमस्तेषु शुद्धमर्थमभीप्सुभिः ॥
प्रकृतौ प्रत्यये वापि स्वरो यत्र व्यवस्थितः।
तात्पर्यं तत्र शब्दस्य स्थापयेदिति निर्णयः ॥ (वेङ्कटभूमिका, ऋ. १,४१,१)

वेद-शाखाओं का सम्बन्ध जोड़ना कठिन है। यजुर्वेद की ईशावास्योपनिषद्, ऋग्वेद की ऐतरेयोपनिषद्, तैत्तिरीय-शाखा (कृष्ण-यजुर्वेद) की तैत्तिरीयोपनिषद्, साम-वेद की छान्दोग्योपनिषद्, काण्व-शतपथब्राह्मण की बृहदारण्यकोपनिषद्, तैत्तिरीय-आरण्यक की महानारायणोपनिषद्, तथा कौषीतकि-ब्राह्मण की कौषीतकी उपनिषद्, काठक-शाखा की कठोपनिषद् इतना विवेक कठिनता से किया जा सकता है। स्वर-चिह्न कहीं पर भी नहीं है।

२. वैदिक-स्वर

लौकिक साहित्य में स्वर-शब्द ध्वनि, नाद, रव, रुत, शब्द आदि का पर्याय है। कण्ठ-स्वर, पक्षि-स्वर, कांस्य-स्वर, पञ्चम-स्वर इत्यादि। इस स्वर-शब्द में सजीव निर्जीव पदार्थों की प्राकृतिक ध्वनिमात्र प्रतिबिम्बित है। अर्थ के साथ विशेष संबन्ध नहीं है। इसलिए 'स्वरणं स्वरः' इस भाव-वाचक व्युत्पत्ति से उसका समाधान होगा।

वैदिक-स्वर केवल स्वर-वर्णों (अ, इ, उ आदि) की उदात्त अनुदात्त स्वरित ध्वनियों का निष्कर्षमात्र ही नहीं है, इसका अपना भी अर्थ-प्रत्यायन की योग्यता तथा क्षमता के कारण महत्त्व-पूर्ण स्थान है। वैदिक-शब्दों के संस्कार (व्युत्पत्ति) का यह ठोस आधार है। इसीलिए महर्षि यास्क ने स्वर के साथ अर्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए निरुक्त (१, १५) में—"अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः" इन शब्दों को स्थान दिया है। जिसका भाव स्पष्ट है कि अर्थ-विशेष की प्रतीति ही स्वर और संस्कार (व्याकरण) का उद्देश्य है। यदि अर्थ-ज्ञान अभीष्ट नहीं है तो स्वर और संस्कार का ज्ञान वृथा है, क्योंकि अर्थ-ज्ञान पर ही स्वर-संस्कार दोनों का महत्त्व निर्भर है।[1]

स्वर और संस्कार (व्याकरण) के सह-प्रयोग से महर्षि यास्क को स्वर और व्याकरण का अविनाभाव-संबन्ध ही केवल अभीष्ट नहीं, बल्कि स्वर संस्कार में नियामक है, वैदिक-व्याकरण स्वर की धुरी पर आश्रित है यह अर्थ भी भासित होता है। स्वर संस्कार का उपजीवक है इसीलिए द्वन्द्व-समास में 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' (पावा २, २.

१. "अर्थज्ञानार्थस्य स्वरोद्देशः संस्कारोद्देशश्च (व्याकरणस्य संस्कारार्थत्वं) मार्गाणि शास्त्रतः, अतस्तदर्थः स्वरसंस्कारावधारयितुं शक्नुयात्। अर्थस्तेन हि स्वरसंस्कारावनिश्चेते" इति दुर्गाचार्यः।

२४) के नियम से निरुक्त के उक्त उद्धरण में स्वर का संस्कार से पूर्व प्रयोग उपलब्ध होता है।

इसी रहस्य को महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने 'स्थूल-पृषतीम्' का उदाहरण देकर पुष्ट किया है, यदि 'स्थूल-पृषतीम्' इस समस्त शब्द के पूर्व-पद स्थूल शब्द को स्वर है तो निश्चय ही स्थूल-पृषती शब्द में बहुव्रीहि समास जानना। स्थूलानि पृषन्ति यस्याः (स्थूल बिन्दुओं वाली गाय)। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा ६,२,१)। और यदि समास के अन्त्य अक्षर 'ती' पर उदात्त स्वर है तो निश्चय ही तत्पुरुष समास जानना, क्योंकि तत्पुरुष समास में 'समासस्य' (पा. ६. १. २२३) सूत्र से अन्तोदात्त होता है। और स्थूल-पृषती शब्द का तत्पुरुष (कर्मधारय) में अर्थ होगा 'मोटी और बिन्दुवाली गाय' (स्थूला चासौ पृषती च)।[1]

इस विवरण से यह बात स्पष्ट हो गई कि वैदिक-स्वर केवल ध्वनि नहीं, प्रत्युत सार्थक होने के कारण व्याकरण शास्त्र का भी नियामक है।

इसी प्रकरण में "यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्" (पाणि ५२) इस उद्धरण से महर्षि पतञ्जलि ने इस वास्तविकता की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि सम्यक् ज्ञान रखते हुए शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार एक ही शब्द के यथोचित प्रयोग से यह स्वर्ग में और इस लोक में भी कामधेनु का काम देता है[2]। यह हमारा विश्वास कल्पना-पोढ़ मात्र नहीं है, विपरीत उच्चारण से वही शब्द वाग्-वज्र बन कर प्रयोक्ता का घातक भी हो सकता है। 'जैसे स्वर के अपराध से इन्द्र-शत्रु शब्द ने त्वष्टा का नाश कर दिया।' इन्द्र-शत्रु शब्द में अन्तिम अक्षर 'त्रु' को उदात्त उच्चारण कर तत्पुरुष समास (इन्द्रस्य शत्रु =इन्द्र का शत्रु) करने की अपेक्षा त्वष्टा ने पूर्व-पद की प्रकृति 'इन्द्र' शब्द के आदि 'इ' अक्षर पर उदात्त की ध्वनि कर अर्थ का अनर्थ कर दिया। तत्पुरुष समास में इन्द्र को मारने वाला इन्द्र-शत्रु उत्पन्न करना त्वष्टा को अभीष्ट था, पूर्व-पद की प्रकृति के

१. यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुषः (पस्पशाह्निक)।

२. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति (महाभाष्य ६,१,८४)।

स्वर से बहुव्रीहि समास में (इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य इन्द्र ही जिसका शत्रु मारने वाला है) इस अर्थ से उल्टे इन्द्र ने त्वष्टा का संहार कर दिया[1]।

महान् वेद-भाष्यकार सायणाचार्य ने तैत्तिरीय-संहिता के अपने भाष्य में इन्द्र-शत्रु शब्द का यथार्थ अर्थ विशद किया है।[2]

'ऋग्वेद के महान् भाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधव की तो यह घोषणा

---

१. अथ यदब्रवीत् 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' तस्माद् उ हैनमिन्द्र एव जघान। अथ यद्ध शश्वदवक्ष्यत् 'इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्व' इति, शश्वद् उ ह स एवेन्द्रमहनिष्यत् (शत॰ १, ६,३,१०)।

२. "त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रं सोममाहरत्। तस्मिन्निन्द्र उपहवमैच्छत। तं नोपाह्वयत—पुत्रं मेऽवधीरिति। स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। तस्य यद् अत्यशिष्यत, तत् त्वष्टाऽऽहवनीयमुपप्रावर्तयत्—'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति। स यावदूर्ध्वः पराविध्यति, तावति स्वयमेव व्यरमत" (तैत्तिरीयसंहिता २,४,१२,१)

सायण-भाष्यम्—विश्वरूपनाम्नस्त्वष्टृपुत्रस्य इन्द्रेण कृतो वधः।...स च हतपुत्रस्त्वष्टा क्रोधाद् इन्द्ररहितं सोमयागं कर्तुमुद्यतः। तस्मिन्यागे 'मामाह्वय' इत्येवमिन्द्रोऽब्रवीत्। स तु त्वष्टा तं 'पुत्रं मेऽवधीः' इत्यवदत्। तमिन्द्रं नोपाह्वयत। स चेन्द्रो यज्ञस्य विघातं कृत्वा बलात्कारेण सोमं पीतवान्। तस्येन्द्रेण बलात् पीतस्य सोमस्य संबन्धि रसरूपं यद् अल्पम् अत्यशिष्यत, तद् गृहीत्वा त्वष्टाऽभिचारं कर्तुम् आहवनीयमुपेत्य, होमेनाऽग्निं वर्धयितुं प्रवृत्तमकरोत्। तस्मिन् होमे मन्त्रमिमम् उच्चारितवान्—'स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इति। तस्याऽयम् अर्थः—'हे अग्ने! तुभ्यमिदं स्वाहुतम्, पुनरिन्द्रस्य शातयिता कश्चित् पुरुषो भूत्वा वर्धस्वेति।' सोऽग्निर्यावता कालेनोर्ध्वज्वालारूपो भूत्वा पराभूतमिन्द्रं कर्तुं 'विध्यामि' इत्युद्यतो भवति, तावति काले वह्निः स्वयमेव विरतोऽभूत्—ज्वाला शान्तेत्यर्थः। तत्र मन्त्रगतस्वरापराधो निमित्तम्। तथाहि—'इन्द्रस्य शातयिता इन्द्रशत्रुः' इति विवक्षायां तत्पुरुषसमासस्याऽन्तोदात्तत्वेन भवितव्यम्। आद्युदात्तस्त्वयं शब्दः प्रयुक्तः, स च बहुव्रीहितां द्योतयति। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा. ६,२,१) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वविधानात्। सति बहुव्रीहौ 'इन्द्रः शातयिता यस्य' इत्यर्थो भवति, सोऽयं मन्त्रगतः स्वरापराधः। अपराधाऽभावे सति उक्तया गाथया यजमानस्य कार्यसिद्धिः सूचिता भवति, अपराधे त्वनया यजमानस्य कार्यसिद्ध्यभावः सूच्यते।

भावार्थ—विश्वरूप नामक त्वष्टा का पुत्र था। इन्द्र ने उसका वध कर दिया। पुत्रवध से क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने इन्द्रभाग-रहित सोमयाग करने का निश्चय किया। इन्द्र ने कहा—'याग में मुझे भी आमन्त्रित करो।' त्वष्टा

है कि वेद में अर्थ की व्यवस्था स्वर से ही हो सकती है।[1] इसलिए वैदिक शब्दों का उच्चारण करने के लिए, या किसी वैदिक मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसका स्वर-ज्ञान तथा संप्रदायानुगत विनियोग-प्रक्रिया का ज्ञान अत्यावश्यक है। अन्यथा कर्म-वैगुण्य की पूरी पूरी संभावना है। वर्तमान काल में मनोरथासिद्धि का दोष हम चाहे युग-धर्म (कलि-युग) के सिर मढ़ कर आत्म-सन्तोष कर लें, परन्तु दोष यथार्थ में युग-धर्म का नहीं, दोष संप्रदायानुगत मन्त्र-सिद्धि की प्रक्रिया तथा स्वर-ज्ञान से शून्य होने के कारण प्रति-पद अशुद्ध उच्चारण का है।

ने उत्तर दिया—'तुमने मेरे पुत्र का वध किया है।' इसलिये उसने सोमयाग में इन्द्र को आमन्त्रित नहीं किया। इन्द्र ने क्रुद्ध होकर यज्ञ का विध्वंस कर दिया और बलात् सोमपान कर लिया। त्वष्टा ने इन्द्र के पीए हुए सोमरस के उच्छिष्ट अंश से इन्द्र के वध के लिए आभिचारिक प्रयोग प्रारम्भ किया। विधि-पूर्वक आहवनीय-अग्नि का आधान करके इन्द्रशत्रु उत्पन्न करने के लिए त्वष्टा ने 'स्वाहा, इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (हे अग्नि, तुम्हारे लिए यह सुस्वादु हवि प्रदान करता हूँ, तुम इन्द्र के मारने वाले दिव्य पुरुष का रूप धारण कर बढ़ो) इस मन्त्र से आहुति देनी आरम्भ की। इन्द्र को पराभूत करने के लिए अग्नि ऊर्ध्वज्वाला में बढ़ना ही चाहता था कि अकस्मात् स्वयमेव शान्त हो गया। अग्नि के ऊर्ध्वज्वाला में होते-होते स्वयमेव शान्त हो जाने में एक मात्र निमित्त मन्त्रगत स्वर का दोष था। 'इन्द्रस्य शातयिता' इस षष्ठी-तत्पुरुषसमास की विवक्षा में अन्तोदात्त 'इन्द्रशत्रु' शब्द उच्चारण करने के स्थान में आद्युदात्त का प्रयोग हो गया। इससे बहुव्रीहि समास भासित हो गया। परिणाम यह हुआ कि बहुव्रीहिसमास के कारण 'इन्द्रशत्रु' शब्द का अर्थ 'इन्द्रः शातयिता यस्य' (इन्द्र जिसका मारने वाला है) यह विपरीत अर्थ हो गया। अग्नि की ऊर्ध्वज्वाला से यजमान की कार्यसिद्धि और मन्द ज्वाला से असिद्धि सूचित होती है।

1. माधवस्य स्वरं एव स्वरेणैव व्यवस्थितिः ॥ (वेङ्कटभूमिका, अ. १,१,१)

सर्वेष्वपि समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत् ।

कार्यं कुर्वन् बाधकस्य स्वरं तं स्थापयेदिति ॥ (वेङ्कटभूमिका, अ. १,११,१)

सर्वेष्वपि समासेषु कार्यं पूर्वेदिका युवै. ।

परेषु चासमस्तेषु गुरुमर्थमवेक्षुमि ॥

प्रयोगे मन्त्रे यदि स्वरो यत्र व्यवस्थितः ।

तत्पर्वं तत्र स्वरस्य स्थापयेदिति निर्णयः ॥ (वेङ्कटभूमिका, अ. १,४०,१)

३. स्वर-निर्वचन

स्वर के उदात्त अनुदात्त स्वरित यह तीन भेद हैं। यह वर्ण के धर्म हैं। यद्यपि अ इ उ इत्यादि स्वरों के उच्चारण में दूसरे सहायक वर्ण की अपेक्षा नहीं होती। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि के अनुसार "स्वयं राजन्ते स्वराः" (महाभाष्य १, २, २९) जो स्वयं-प्रकाश हों यह स्वर-वर्णों की अन्वर्थ व्युत्पत्ति है। तथापि धर्म-धर्मी सम्बन्ध से जब उन्हीं स्वर-वर्णों में हम उदात्त अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरों के धर्म का दर्शन करते हैं तो उनकी उक्त व्युत्पत्ति से हमारा कार्य नहीं चलता, 'उच्चैरुदात्तः' (पा. १, २, २९), 'नीचैरनुदात्तः' (पा. १,२,३०) सूत्रों के 'उच्चैः' और 'नीचैः' शब्द उच्चारण में विलक्षण तारतम्य की संभावना की ओर वक्ता को मुखरित करते हैं। इसी लिए आस्य के अन्तर्वर्ती कण्ठ, तालु आदि स्थानों में उच्चारण की उत्कृष्टता तथा अपकृष्टता, तथा दोनों धर्मों की सह-स्थिति[२] की योग्यता के माध्यम से हम उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीनों स्वरों की अभिव्यक्ति करते हैं। इस अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है। पारिभाषिक शब्दों में उदात्त की अभिव्यक्ति के लिए इसी प्रयत्न को आयाम, अनुदात्त की अभिव्यक्ति के लिए विश्रम्भ तथा स्वरित की अभिव्यक्ति के लिए आक्षेप कहा गया है।[३] इसलिए इस वैदिकस्वर की व्युत्पत्ति 'स्वर्यते उच्चाऽधो-तिर्यग्भागैरुच्चार्यते इति स्वरः' इस प्रकार उपपन्न होगी।

---

२. समाहारः स्वरितः (पा. १, २, ३१)। उभयवान् स्वरितः। (शुप्रा. १, ११०)

३. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः।
आयाम-विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः॥ (ऋग्वेदप्रातिशाख्य ३, १)
आयामो दारुण्यम् अणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः। दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता। अणुता खस्य कण्ठस्य संवृतता। उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवम् उरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता। मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य (महाभाष्य १, २, २९)।
उच्चैरुच्चार्यते यस्तु स उदात्त उदाहृतः।
आयामो रूक्षता सौक्ष्म्यं गात्रेऽङ्गेषु तथा गते।
उच्चत्वकारकानेतानाहुः प्राज्ञा विशेषतः॥
नीचैरुच्चार्यते यस्तु सोऽनुदात्तोऽभिधीयते।
मधता मृदुता स्थौल्यं गात्रादेः कारकं विदुः॥ (कौहलिशिक्षा २·४)

द्वितीय अध्याय

संहिता-प्रकरण

[१. संहिता-पाठ, २. संहिता-पाठ मे दीर्घ-श्रुति, ३. संहिता-पाठ मे अनुनासिक-श्रुति, ४. सहिता-पाठ मे शाखाकृत अनुनासिक-भेद, ५. संहिता पाठ में अन्य विशेष, ६. संहिता पाठ में कम्प-स्वर, ७. कम्प-स्वर मे शाखाकृत-भेद]

१. संहिता-पाठ

वैदिक संहिता-पाठ अनादि-काल से जीवित और समुन्नत मनुष्य-जाति का जीवन-संगीत है। सरस्वती के वरद-पुत्रों ऋषि-मुनियों से गाये हुए इस जीवन-संगीत में प्रागैतिहासिक काल से जीवित आर्य-जाति के उज्ज्वल चरित्रों का संदेश आज भी सामान्य-रूप में मनुष्य-मात्र को, विशेष कर जीर्ण-शीर्ण आर्य-मर्यादा को अनुप्राणित कर रहा है। इसके उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-एकश्रुति के लय-ताल से मुखरित आरोह-अवरोह-क्रम में वीचितरङ्ग-न्याय से लय-ताल के साथ आरोह और अवरोह-क्रम का अनादि संगीत गाती हुई समुद्र की महान् ऊर्मियों का सजीव चित्रण है।

ऋग्वेद की ऋचाओं पर ही लय-ताल के समन्वय तथा सामञ्जस्य के साथ साम-वेद के साम गाये जाते हैं (ऋचि अध्यूढं साम गीयते)। यह कथन सर्वथा सत्य है। इसीलिये साम-वेद के सात्यमुग्रि राणायनीयों के साम-गान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए 'एओड' सूत्र के महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने 'सुजाते अश्वसूनृते' (ऋ. ५,७९,१) साम-वेद (१,४२१) इस ऋग्वेद की ऋचा का साम-गान-प्रकार 'सुजाते ए (ए, अ) श्वसूनृते', 'अध्वर्यो अद्रिभि सुतम्' (ऋ ९,५१,१; सावे १,४९९) का 'अध्वर्यो ओ (ओ, अ) द्रिभिः सुतम्' और 'शुक्रं ते अन्यद् यजतं ते अन्यत्' (ऋ. ६,५८,१; सावे १,७५) का 'शुक्रं ते ए (ए अ) न्यद् यजतं ते ए (ए-अ) न्यत्' दिखाया है।

मो षू णः (ऋ. १,१७३,१२) इत्यादि के रूप में षत्व-णत्व-दीर्घापत्ति की संपुटित लय के साथ गाया हुआ छन्दो-बद्ध पद-समाहार वैदिक संहिता-पाठ का एक पद प्रतीत होता है। जो कि लौकिक छन्दो-रचना के पद से सर्वथा भिन्न है। छन्दो-रचना के इसी अनादि-स्रोत से वाल्मीकि-व्यास आदि की अनवद्य हृद्य पद्यावली अनुप्राणित हुई है।

संहिता-पाठ का सरल अर्थ है संहिता के साथ या संहिता में वेद-ऋचाओं का पढ़ना। वर्णों के अत्यन्त संनिकट सम्बन्ध को महर्षि पाणिनि ने संहिता माना है[1]। महर्षि कात्यायन ने शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य में वर्णों की अ-विच्छिन्न आनुपूर्वी को संहिता कहा है[2]। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में पूर्व-पद के अन्तिम अक्षर के साथ आगामी पद के आद्यक्षर के अव्यवहित सम्बन्ध को संहिता कहा गया है[3]। महर्षि यास्क के मत में तथा अथर्ववेद-प्रातिशाख्य (१,१,२) की परिभाषा में पद-समुदाय की प्रकृति ही संहिता है[4]। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की विष्णुमित्र-कृता वृत्ति में वेद-मन्त्रों के अविच्छिन्न अध्ययन को निर्भुज (संहिता) माना है[5]।

वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मणों का मूल-पाठ उदात्त अनुदात्त स्वरित और एक-श्रुति (प्रचय) की स्वर-शृङ्खला में अनुस्यूत होने के कारण सर्वथा संश्लिष्ट है। इसी लिये उस पाठ को संहिता-पाठ कहा गया है। जैसे—'अभीमवन्वन्त्स्वभिष्टिमूतयः' (ऋ. १,५१,२) यह संहिता-पाठ है। ऐसे क्लिष्ट संहिता-पाठ में उदात्त आदि स्वरों का विवेचन तो दूर रहा, पद-च्छेद भी असम्भव है, जब तक इस संहिता-पाठ का पद-पाठ न पढ़ा जाय। जब 'अभि। ईम्। अवन्वन्। सुऽअभिष्टिम्। ऊतयः।' इस पद-पाठ के साथ निर्दिष्ट संहिता-पाठ को पढ़ते हैं तो एक-एक पद का स्वर और उसका अर्थ हृदयंगम हो जाता है। स्वर-शृङ्खला का ज्ञान कराने के लिये 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ. १,१,१) इस मन्त्रांश का उदाहरण पर्याप्त है। 'अग्निमीळे' इतने वाक्य में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा एक-श्रुति का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। यह मन्त्र ऋग्वेद का है। ऋग्वेद में यदि शब्द अन्तोदात्त है तो उदात्त

१. परः संनिकर्षः संहिता (पा. १,४,१०९)। २. वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता (शुप्रा. १,१५८)। ३. पदान्तान् पदादिभिः संदधदेति यत् सा कालाव्यवायेन (ऋप्रा. २,१-२)। ४. पद-प्रकृतिः संहिता, पदप्रकृतीनि सर्व-चरणानां पार्षदानि (निरुक्त १,१७)। अत्र द्विधा वर्णयन्ति—पदानां या प्रकृतिः सेयं पद-प्रकृतिः संहिता। किं कारणम्? संहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते, तस्मात् संहितैव प्रकृतिः, विकारः पदानीत्येवमेके मन्यन्ते। अपरे पुनः पद-प्रकृतिः संहितेति पदानि प्रकृतिर्यस्याः सेयं पद-प्रकृतिरिति। किं कारणम्? पदान्येव संहन्य-मानानि संहिता भवन्ति, तस्मात् पदान्येव प्रकृतिः, विकारः संहितेति (दुर्गाचार्य-भाष्यम्)। संहिता पद-प्रकृतिः। यथा तन्तूनां वासो यथा दारु-शिला-मृदां प्रासादः, तथा च संधि-शास्त्राणि पदसंधानार्थं प्रोक्तानि (अप्रा. १,१,२)। ५. सन्धेर्विवर्तनं निर्भुजं

अक्षर का चिह्न पता करने के लिये उसके पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (-) पड़ी रेखा पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। ऋग्वेद में उदात्त अक्षर का अपना कोई चिह्न नहीं होता। जिस अक्षर से पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (-) पड़ी रेखा अनुदात्त (सन्नतर) की होगी[1], उस अनुदात्त रेखा वाले अक्षर के अनन्तर बिना चिह्न का अक्षर उदात्त माना जायेगा। और ऊर्ध्व रेखा से युक्त अक्षर स्वरित[2]। 'अ॒ग्निमी॑ळे' इस वाक्य में नीचे पड़ी रेखा 'अ॒' के नीचे है, इस लिये 'अ॒' अनुदात्त है। और इस 'अ॒' के अनन्तरवर्ती अक्षर 'ग्नि' पर ऊपर नीचे कोई रेखा या किसी प्रकार का चिह्न नहीं है इसलिये 'ग्नि' अक्षर उदात्त कहलायेगा। और बिना रेखा वाले उदात्त 'ग्नि' अक्षर के अनन्तर 'मी' अक्षर के सिर पर ⊥ यह खड़ी रेखा स्वरित अक्षर की सूचक है। और खड़ी रेखा वाले 'मी' इस स्वरित अक्षर के अनन्तर 'ळे' यह अक्षर फिर बिना रेखा का है। स्वरित के बाद बिना रेखा का अक्षर एक-श्रुति है।[3]

यही उदात्त अनुदात्त स्वरित और एक-श्रुति के ज्ञान का क्रम 'पु॒रोहि॑तम्' शब्द में भी विद्यमान है। 'पु॒रःऽहि॑तम्' शब्द समस्त है। शाकल्य पद-पाठ में समस्त शब्दों के मध्य में (ऽ) इस प्रकार का विच्छेदक चिह्न लगता है। समास में पूर्व-पद 'पुरस्' शब्द अव्यय है और इसके अन्तिम 'रस्' के 'र' पर उदात्त का चिह्न है। वार्तिक-नियम[4] के अनुसार स्वर-विधि में व्यञ्जनों को अविद्यमान के तुल्य मान कर उनकी स्थिति न-गण्य होती है, इस लिए 'रस्' के 'स्' को न-गण्य (अविद्यमान-वत्) मान कर उदात्त का श्रवण 'र' पर ही होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि समास का पूर्ववर्ती 'पुरस्' शब्द अन्तोदात्त है।

पद्न्ति ॥३॥ सर्वोदात्तं नम पश्चिद्दैर्घ्यवनम। (१ स्वारोदात्तपरश्चेद् स्वार तदा निहत दृश्यते (कौशि. १०)। स्वारे स्वरिते उदात्ते च परत सति पूर्वस्वरं निहत अनुदात्त दृश्यते इत्यर्थः। २. (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (पा ८,४,६६)। उदात्तादुत्तरो नीच स्थाने स्वरित स्मृत (कौशि ६)। (३. स्वरितात् संहितायाम् अनुदात्तानाम् (पा. १,२,३९)। स्वरिताद् उत्तर संहितायामनुदात्तानाम् एकश्रुति भवतीत्यर्थः। 'स्वरितादुत्तरो नीच' सर्वो प्रचय इष्यते। अनुदात्त तथा ते स्यु स्वारोदात्तपरो न तु (कौशि. ११)। यावत् स्वरितो वा उदात्तो वा पर न भवेत्, स्वरिताद् उत्तर सर्वेषामेवानुदात्तानां प्रचय (एकश्रुति) भवन्ति तदा।
४. व्यञ्जनानामविद्यमानवत् (तात्र 5, 1, २२१)। व्यञ्जने स्वरितं न-स्वरम् (शुक्ल १,१०७)।

'अग्निमींळे' इस वाक्य में भी 'अग्निम्' शब्द अन्तोदात्त था। अन्तोदात्त शब्द यदि वाक्य के या समस्त शब्द के पूर्वावयव के रूप में उपलब्ध हो तो उदात्त अक्षर का ज्ञान कराने के लिए 'अग्निमींळे' इस वाक्य में बतायी गई स्वर-शृङ्खला का परिशीलन सहायक होगा। तदनुसार 'पुरोऽहितम्' इस समास में भी 'पु' के नीचे अनुदात्त की रेखा के अनन्तर 'रो' इस रेखा-शून्य अक्षर को उदात्त कहना होगा। 'रो' इस उदात्त के अनन्तर-भावी 'हिं' पर खड़ी रेखा वाला स्वरित-चिह्न तथा उसके अनन्तर बिना रेखा वाला 'तम्' एक-श्रुति मानना होगा। यह प्रक्रिया उन वाक्यों या समस्त शब्दों में चरितार्थ होती है, जहां अन्तोदात्त शब्द है।

प्रारम्भ में या पूर्व-पद में, वाक्य में या समस्त पद में, यदि शब्द का आदि अक्षर उदात्त हो तो दूसरी प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ इस मन्त्र में 'होतारम्' शब्द को ले सकते हैं। 'होतृ' शब्द तृन्-प्रत्ययान्त नित्-स्वर से आद्युदात्त है। इस शब्द का आद्यक्षर 'हो' उदात्त है, जो चिह्न-रहित है, और यह पाद के आदि में होने से किसी पूर्ववर्ती अनुदात्त के अनन्तर भी नहीं है। ऐसे उदाहरणों में पूर्ववर्ती अनुदात्त (सन्नतर) की रेखा उदात्त अक्षर से पूर्व अनिवार्य नहीं है। 'हो' उदात्त, उसके अनन्तर 'तां' स्वरित और अन्त में 'रम्' एक-श्रुति यह अनुगम करना होगा। इसी प्रकार 'स्वग्नित्व नु मेंधुं' (ऋ २,११,१५) है। इसका पद-पाठ 'स्वग्नुं, इत्, तु, मेंधुं' है। यहां 'धुं' के स्वरित-चिह्न तक सब चिह्न-शून्य अक्षर उदात्त हैं। तीसरी प्रक्रिया में आगे-पीछे चिह्न-शून्य उदात्त अक्षर होंगे, और दोनों के मध्य में अनुदात्त (सन्नतर) की नीचे पड़ी रेखा (-) से युक्त अक्षर। यथा—'प्र य आरुः' (ऋ ३,७,१)। यहां मध्य में 'आ' अनुदात्त है, और आगे-पीछे क्रम से 'य' तथा 'रु' चिह्न-रहित उदात्त हैं। स्वरानुसन्धान की विलक्षणता के कारण चौथी प्रक्रिया 'त्र्यम्बकं यजामहे' (ऋ ७,८,१२) इस मन्त्र-भाग में है। यहां मन्त्र का आद्यक्षर 'त्रि' उदात्त है जो कि अनन्तरवर्ती अनुदात्त 'अ' के साथ क्षैप्र-स्वरित की परिभाषा से स्वरित होकर 'त्र्यं' इस स्वरूप में परिणत है। 'होतारम्' की प्रक्रिया से इस में इतनी ही विशेषता है कि वहां उदात्त 'हो' की श्रुति स्वतन्त्र है, और परवर्ती संहिता-स्वरित 'तां' की श्रुति स्वतन्त्र। और 'त्र्यम्बकम्' के 'त्र्यं' में क्षैप्र-स्वरित होने के कारण यण्-संधि

के नियम से पूर्ववर्ती 'त्रि' उदात्त और उत्तरवर्ती 'अ' अनुदात्त का संश्लिष्ट अन्वय हो जाने के कारण स्वतन्त्र उदात्त और स्वरित का श्रवण नहीं है।

अब वेद के मन्त्र का अर्थ समझने के लिए संहिता-पाठ की विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

२ संहिता-पाठ में दीर्घ-श्रुति

वेद में कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके पद-पाठ में ह्रस्व की श्रुति है तो संहिता पाठ में उनकी दीर्घ-श्रुति हो गई है। यद्यपि ऋग्वेद-प्रातिशाख्य(७ से ९ पटल तक) तथा शुक्ल यजुर्वेद-प्रातिशाख्य (३,९७-१२०) में विस्तार के साथ वैदिक शब्दों की प्रातिस्विक दीर्घ-श्रुति का उत्कृष्ट उपपादन किया गया है। तथापि उस सम्पूर्ण विषय का संक्षेप से प्रायः अष्टाध्यायी के सूत्रों में ही समावेश होने के कारण पाठक-वर्ग की सुविधा के लिए संहिता-पाठ में दीर्घ-श्रुति के नियामक कतिपय अत्यावश्यक नियम पाणिनीय सूत्रों के आधार पर ही प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ क्विप्-प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् (साह्),तन्, परे हो तो पूर्व-पद के अन्त में दीर्घ-श्रुति होती है[1]। यथा—पुरीषाहम् (ऋ १,३३,४ पपा पुरिऽनहम्)। अनेपावृत् (ऋ० ६,०७,५ पपा अनपऽवृत्) प्रावृषि (ऋ ७,१०३,३,९) प्रावृषा (शौ १०,१,४६)। निर्दिष्ट पाणिनीय सूत्र के नियम से क्विप्-प्रत्ययान्त प्रावृष् शब्द में संहिता-पाठ में यद्यपि दीर्घ श्रुति उपलब्ध है किन्तु इसका पद पाठ पूर्व पद में ह्रस्व-श्रुति वाला उपलब्ध नहीं होता। प्रत्युत अवग्रह-रहित प्रावृष् ऐसा ही पद-पाठ मिलता है। यद्यपि श्रोडर महोदय ने मैत्रायणी (३,१६,४) के अपने टिप्पण में काठ ३७,१४ के स्थल पर 'प्रवृषा' ऐसे पाठ का संकेत किया है, जो कि पाणिनीय नियम के अनुरूप है, किन्तु काठक-संहिता के उपलब्ध समस्त संस्करणों में मुद्रित पाठ प्रावृषा ही है। हृदयाविधं (ऋ १,१४८ मा ८२२ पपा हृदयऽविधं)। मर्मरीस्यम (मै ३,१५,२ पपा मर्मरी स्यम ...)। मा ८४,२ में यहाँ पद-पाठ संहिता-पाठ है। विश्वासाहम् (ऋ २,४७,५ पपा विश्वऽसहम्)। अभीरुहः (मै ८,३,२,९ पपा अभीरुहःअभि-रुहः)। पुरीतता (मा ३४,८,३१,३ पपा पुरीततेति पुरि तता)।

---

1. नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ (पा ६,३,११६)।

वेद में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनके संहिता-पाठ में दीर्घ-श्रुति है, परन्तु निर्दिष्ट पाणिनीय नियम में उनका संकेत नहीं है। जैसे— अन्नावृधम् (ऋ. १०, १,४ पपा. अन्नऽवृधम्) यहाँ उत्तर-पद में 'वृध' √वृधु (वृद्धौ) धातु का क्विबन्त रूप है, किन्तु उक्त नियम में 'वृध्' का निर्देश नहीं है। इस लिए ऐसे संहिता-दीर्घ के लिए प्रातिशाख्य का परिशीलन आवश्यक होगा। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (६, २३) में संहिता-दीर्घ वाले शब्दों में इसका भी परिगणन है। इसके अतिरिक्त शौनक-चतुरध्यायी (३, २४) के वृध, वरी, वान शब्दों के परे पूर्ववर्ती ऋत-शब्द को संहिता-दीर्घ कहा गया है[1]। उक्त सूत्र में अन्न-शब्द का भी परिगणन करके अन्नऽवृधम् में संहिता-दीर्घ की उपपत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार अभीवृतम् (ऋ.१,३५,४ पपा अभिऽवृतम्) शब्द है। उक्त पाणिनीय नियम के अनुसार क्विप्-प्रत्ययान्त 'वृत्' को ही संहिता-दीर्घ विहित है। किन्तु 'अभीवृतम्' शब्द क्त-प्रत्ययान्त है और वहां संहिता-दीर्घ उपलब्ध है। पाणिनीय नियम से तो यहां निर्वाह हो नहीं सकता, इस लिए 'वर्तादिषु' (शौच ३, १२) सूत्र से यहां संहिता-दीर्घ की व्यवस्था करनी होगी। इसी लिए शौनक-चतुरध्यायी के अंगरेजी टीकाकार ह्विट्ने महोदय ने अभीवृता (ऋ १,१६४, २१, शौ ६,१५,७ पपा अभिऽवृता) उदाहरण उक्त सूत्र का प्रस्तुत किया है।

२. घञ्-प्रत्ययान्त शब्दों में पूर्ववर्ती उपसर्ग को संहिता-दीर्घ होता है।[2] यथा—अभीवर्गात् (शौ ११,२,४ पपा अभिऽवर्गात्)। अभीवर्गे (शौ ३,५,२ पपा अभिऽवर्गे)। अभीवर्त (मा १४,२३ पपा अभिवर्तऽइत्यभि वर्त)। अनूयाजा (तै ७,६,१,६ पपा अनुयाजा इत्यनु याजा)। परीशाप (मा १६, २१ पपा परिशापऽइति परि शाप) इत्यादि।

३. काश-शब्द उत्तर-पद में हो तो संहिता-पाठ में पूर्ववर्ती इगन्त (अपि, अभि, अनु, नि आदि) उपसर्ग को दीर्घ होता है।[3] यथा— अनूकाशम् (तै. ५,४,१ ३ पपा अनुकाशमित्यनु काशम्)। अनूकाशेन (मा. २५,२ पपा अनुकाशेनेत्यनु काशेन)। बभ्रुनीकाशा (मा २४,१८ पपा बभ्रुनिकाशाऽइति बभ्रु निकाशा)।

---

१. ऋत वृधवरीवानेषु (शौच ३,२४)। २ उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (पा. ६,३,१२२)। ३. इक काशे (पा ६,३,१२३)।

४. सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इन शब्दों के अन्त में मतुप् प्रत्यय परे रहते संहिता-पाठ में दीर्घ होता है[1]। यथा—सोमावतीम (ऋ. १०,९७,७ पपा. सोमऽवतीम्)। अश्वावत्या (ऋ. १,३०,१७ पपा. अश्वऽवत्या)। अश्वावतीम् (ऋ. १०,९७,७ पपा. अश्वऽवतीम्)। इन्द्रियावान् (मा. ६,२७ पपा. इन्द्रियवानितीन्द्रिय वान्)। विश्वदेव्यावता (ऋ. १०,१७०,४ पपा. विश्वदेव्यऽवता)।

५. ऋचाओं में तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र, उरुष्य इन सब को संहिता-पाठ में दीर्घ होता है।[2] यथा—तू (ऋ. १,१०,११ पपा. तु)। नू (ऋ १,१०,९ पपा. नु)। घा (ऋ. १,५,३ पपा. घ)। मक्षू (ऋ. १,३६,७ पपा. मक्षु)। तङ् से लोट् लकार के मध्यम पुरुष के बहुवचन में 'थ' के स्थान में ङित् 'त' आदेश का रूप ग्राह्य है। यथा—भरता (ऋ. १,१३६,१ पपा. भरत)। कूमना की संहिता-दीर्घ की श्रुति अनुपलब्ध है। यद्यपि मै. ४,२,१३ में कूमना ऐसा आद्युदात्त पाठ मिलता है, जो कि सूत्र का उदाहरण नहीं है। यत्रा (ऋ. १,२२,४, ८९, ९ पपा यत्र)। उरुष्या (ऋ. १,९१,१५ पपा. उरुष्य)। यह वैदिक धातु रक्षा करने अर्थ में है।

६. इक् (इ, उ, ऋ) अन्त वाले शब्दों को 'सु' निपात परे रहते संहिता पाठ में दीर्घ होता है[3]। यथा—अभी षु णः (ऋ. ४,३१,३ पपा. अभि, सु, नः)। ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (ऋ. १,३६,१३ पपा. ऊर्ध्वः, ऊँ इति, सु, नः, ऊतये)।

७. द्वि अच् (स्वर-वर्ण) वाली तिङन्त क्रिया के अन्तिम अकार को संहिता-पाठ में दीर्घ होता है।[4] यथा—विद्मा हि त्वा (ऋ १,१०,१० पपा विद्म, हि, त्वा)। यत्रा नरश्चक्र (ऋ.१ ८९,९ पपा. यत्र न, चक्र)। भवा वाजस्य (ऋ. १,९१,१९ पपा भव, वाजस्य) इत्यादि। 'यत्रा' में संहिता-दीर्घ पांचवें नियम से हो रहा है।

कहीं पहले अच् को भी दीर्घ मिलता है। यथा—सान्ति (ऋ. ७,२८,१ पपा. सन्ति)।

८ निपातों को संहिता-पाठ में दीर्घ हो जाता है[5]। यथा—एवा (ऋ. १,८,८ पपा. एव)। अच्छा (ऋ. १,२,२ पपा. अच्छ)। अधा (ऋ. ७, ५६ १ पपा अध) आदि।

---

१. मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (पा ६,३,१३१)। २. ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् (पा ६,३,१३३)। ३ इकः सुञि (पा ६,३,१३४)। ४ द्व्यचोऽतस्तिङः (पा ६,३,१३५)। ५. निपातस्य च (पा. ६,३,१३६)।

९. अन्य अनेक वैदिक शब्दों को भी संहिता-पाठ में दीर्घ देखा जाता है[1]। दो अच् वाली अकारान्त तिङन्त क्रिया को संहिता-पाठ में दीर्घ सातवें नियम से विहित है। यदि इकारान्त दो अच् वाली तिङन्त क्रिया हो, या अनेक अच् वाली कोई भी तिङन्त क्रिया हो तो संहिता-पाठ में दीर्घ के लिए इस नियम के अन्तर्गत उनका समावेश किया जा सकता है। यथा—श्रुधी हवम् (ऋ. १,२५,१९ पपा. श्रुधि, हवम्)। उपसेदिमा वयम् (ऋ. १,९६,२ पपा. उपसेदिम, वयम्)। गृणुधी गिरः मा. १३,५२ पपा. गृणुधि, गिरः) इत्यादि।

ऐसे ही ल्यप-प्रत्ययान्त क्रियाओं को संहिता-पाठ में दीर्घ होता है। यथा—प्रतिगृह्या (ऋ. १,१२५,१ पपा. प्रतिऽगृह्य)। परिगत्या (ऋ. २,१५,४ पपा. परिऽगत्य)।

१०. क्यच् प्रत्यय परे हो तो अश्व और अघ शब्दों को संहिता-पाठ में आकार अन्त्य आदेश होता है[2]। यथा—अश्वायन्तः (ऋ, ७, ९२,२१ पपा. अश्वऽयन्तः)। अघायतः (ऋ. १,९१,८ पपा. अघऽयतः)। अघायुः (ऋ. १,१४७, ४ पपा. अघऽयुः)।

११. यकार जिसके आदि में हो ऐसे क्यङ् क्यच् प्रत्यय परे हों तो अजन्त शब्दों को दीर्घ हो जाता है। कृत् या सार्वधातुक यकारादि प्रत्ययों को छोड़ कर[3]। यथा—वृषायते (ऋ. १०,९४,९ पपा. वृषऽयते)। वृषायसे (ऋ. १,५८,४ पपा. वृषऽयसे)। सखीयते (ऋ. १,१२८,१ पपा. सखिऽयते)। इषूयते (ऋ. १,१२८,४ पपा. इषुऽयते)।

इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय परे रहते भी दीर्घ होता है। यथा—जनीयन्तः (ऋ ७ ९६,४ पपा. जनिऽयन्तः)। यहां इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय परे रहते इकारान्त 'जनि' (=जाया) शब्द के इकार को दीर्घ हुआ है। इसी लिये इस ऋग्वेद के 'जनीयन्तः' शब्द का पाठ-भेद अथर्ववेद (१४,२,७२) में 'जनियन्ति' उपलब्ध होता है। शौनक-चतुरध्यायी (३,२८) में 'इच्छायां च यकारादौ' (इच्छार्थ में क्यच् प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व और दीर्घ दोनों विकल्प से होते हैं) सूत्र का उदाहरण प्रस्तुत करते

---

1. अन्येषामपि दृश्यते (पा. ६,३,१३७)। २. अश्वाघस्यात् (पा. ७,४,३७)।
३. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (पा. ७,४,२५)।

हुए हिल्ले महोदय ने दीर्घ का उदाहरण 'जनीयते' (शौ. ६,८२,३)[1] तथा ह्रस्व का उदाहरण अथर्व-वेद का उक्त 'जनियन्ति' ही दिया है। जनीयन्तः (ऋ. ७,९६,४) का अर्थ है 'जाया की इच्छा रखने वाले'। ऐसे ही अन्य इकारान्त शब्दों से क्यच् प्रत्यय परे होने पर संहिता में दीर्घ और पद-पाठ में ह्रस्व-श्रुति के लिये 'सखि' शब्द का सखीयन् (ऋ. ५, ४९,१ पपा. सखिऽयन्) प्रयोग देखें।

इसके विपरीत 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' (पा. ७,४,३५) के वार्तिक 'अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्' का उदाहरण देते हुए 'आदि' पद से महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने 'जनीयन्तः (ऋ. ७,९६, ४) को ही प्रस्तुत किया है। और उनके समर्थन में कैयट, भट्टोजिदीक्षित, तथा काशिकाकार आदि व्याकरण के महान् आचार्यों ने 'जनमिच्छन्त' जनीयन्तः' यह विग्रह दिखा कर 'जनि' शब्द से नहीं अपि तु 'जन' शब्द से इच्छा में क्यच् प्रत्यय माना है।

'न च्छन्दस्यपुत्रस्य', (पा. ७,४,३५) सूत्र में पूर्व सूत्र 'अस्य च्वौ' (पा. ७, ४,३२) तथा क्यचि च' (पा. ७,४,३३) की अनुवृत्ति है, इस लिये सूत्र का अर्थ होगा—छन्द में (वेद में) किसी भी ह्रस्व अकारान्त शब्द को इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय परे रहते ईकार[2] तथा दीर्घ[3] नहीं होते, पुत्र शब्द को छोड़ कर।

अर्थात् पुत्र-शब्द को ही दोनों कार्य होते हैं दूसरे किसी अदन्त शब्द को नहीं। परन्तु वार्तिककार महर्षि वररुचि को वेद में पुत्र-शब्द के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे अदन्त शब्द मिले, जहाँ इच्छार्थक क्यच् प्रत्यय परे रहते अदन्त को ईत्व तथा दीर्घ का विधान था, उन्होंने सूत्र के 'अपुत्रस्य' के स्थान में 'अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्' यह वार्तिक बनाया। जिसका तात्पर्य है कि ईत्व तथा दीर्घ के निषेध में केवल पुत्र-शब्द ही अपवाद नहीं, अन्य भी शब्द अपवाद हैं।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने 'पुत्रीयन्तः सुदानव' (ऋ ७,९६,४)

---

१. शौ. ६,८२,३ में 'तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते' यह मन्त्र का अर्धांश है। 'जनीयते' का पद-पाठ जनिऽयते है। अथर्व-वेद के इस मन्त्र का सायण-भाष्य—'जायन्तेऽस्याम् अपत्यानीति जनिर्जाया, तामात्मन इच्छते। यद्वा पुत्रोत्पत्तिर्जनि, तत्कामाय मह्यं जायां भार्यां धेहि देहि प्रयच्छ शचीपते!' है। यहां 'जनीयते जायाम्' इस वाक्य में स्पष्ट जनि की इच्छा प्रतिफलित है।
२. क्यचि च (पा. ७, ४, ३३)। ३. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (पा. ७,४,२५)।

के पूर्ववर्ती पाद 'जुनीयन्तो न्वग्रवः' (ऋ. ७,९६,४) के 'जुनीयन्तं' शब्द को 'जन' इस अकारान्त शब्द से क्यच् प्रत्यय मान कर ही वार्तिक के 'आदि' पद की चरितार्थता के लिये प्रस्तुत किया है। महर्षि का यह प्रयत्न वेद के प्राकरणिक अर्थ की[१] कसौटी पर युक्ति-युक्त नहीं जंचता। नहीं 'जुनिऽयन्तं' इस पद-पाठ से मेल खाता है। नहीं अथर्व-वेद (१४,२,७२) के 'जुनियन्ति' इस पाठ-भेद से सामञ्जस्य रखता है। और नहीं अथर्व-वेद (६,८२,३) की भावना का आदर करता है।

इस लिए 'अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम्' इस वार्तिक में 'आदि' शब्द की चरितार्थता के लिये 'जुनीयन्तं' के स्थान में अन्य कोई उदाहरण प्रस्तुत होना चाहिये। और वह उदाहरण है—'अध्वरीयसि' (ऋ. १०,९१,११ पपा. अध्वरिऽयसि) 'अध्वर' शब्द भी पुत्र-शब्द के समान अकारान्त है। क्यच् प्रत्यय परे होने पर अध्वर+य इस स्थिति में 'क्यचि च' (पा. ७,४,३३) से अन्त्य 'अ' को 'ई' हो जाता है। उसका निषेध 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' (पा. ७,४,३५) सूत्र से न हो, इसलिये वार्तिक में पठित 'आदि' शब्द चरितार्थ हो जायगा।

इतना विचार होने पर भी पाणिनीय सम्प्रदाय के साथ पद-पाठ का विरोध बना ही रहता है। क्योंकि अकारान्त शब्दों को क्यच् प्रत्यय परे होने पर 'क्यचि च' (पा ७,४,३३) सूत्र से 'ई' आदेश होता है, ह्रस्व 'इ' को दीर्घ 'ई' नहीं। पद-पाठ में ह्रस्व की श्रुति संहिता-पाठ के दीर्घ-श्रवण की परिच्छेदक है न कि 'अ' के स्थान में 'ई' होने की, इस लिये पद-पाठ में भी, जुनीयन्तं' 'अध्वरीयसि' इस प्रकार दीर्घ ईकार का ही श्रवण होना चाहिये, न कि जुनिऽयन्तं, अध्वरिऽयसि इत्यादि में ह्रस्व इकार का उच्चारण। परन्तु पदपाठकार महर्षि शाकल्य के समुख अथर्व-वेद (१४,२,७२) का 'जुनियन्ति' शब्द है। जहाँ क्यच् प्रत्यय से पूर्व ह्रस्व इकार की श्रुति उपलब्ध है। जो कि पाणिनीय व्याकरण से संगत नहीं, प्रतीत होता है किसी पूर्ववर्ती वैदिक व्याकरण के अनुगम से पद-पाठ और अथर्ववेद-पाठ में ह्रस्व इकार की श्रुति है। तथा ऋग्वेद में संहिता-पाठ में 'जुनीयन्तं' यह दीर्घश्रुति

---

१ ऋ. ७,९६,४ में 'जुनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः' यह मन्त्र का अर्धर्च है। जहां 'जुनीयन्तं' का वेङ्कटमाधवीय-भाष्य 'जायामात्मन इच्छन्त' है। सायण भाष्य भी—'जायन्त आस्वपत्यानीति जनयो जाया, ता इच्छन्त' है।

जो कि शौनक-चतुरध्यायी (३,२८) के 'इन्द्राया च यकारादौ' सूत्र से स्पष्ट है।

१२ वेद में कुछ धातु ऐसी हैं जिनके अभ्यास को संहिता पाठ में दीर्घ होता है[1]। यथा—मामहन्ताम् (ऋ १,९४,१६ पपा ममहन्ताम्) आदि।

१३ तृतीयाविभक्त्यन्त 'तद्' और 'यद्' शब्दों को भी संहिता-दीर्घ होता है[2]। तेना (ऋ १,४६,२, शौ. ६,८२,३ पपा तेन) येना (ऋ १,२०, ६ पपा, येन) आदि। यद्यपि अष्टाध्यायी में इसका विधायक सूत्र उपलब्ध नहीं है, तथापि 'अन्येषामपि दृश्यते (पा ६,३ १३७) सूत्र से ऐसे स्थलों में निर्वाह हो सकता है।

संहिता-पाठ में संधि कृत दीर्घ भी उपलब्ध होता है। जैसे—सा न्वीयते (ऋ १,१४५ १ पपा स, नु, ईयते)।

३. संहिता-पाठ में अनुनासिक-श्रुति

७ संहिता-पाठ के एक ही पाद में दीर्घ-अक्षर (आ, ई ऊ) से परे अट् प्रत्याहार के (अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल) वर्णों में से कोई भी पर में हो तो पूर्ववर्ती न् को र् (रु) हो जाता है[3]। और 'र' से पूर्ववर्ती 'आ' हो तो नित्य अनुनासिक 'आँ' यह श्रुति होती है[4]। अन्यथा इवर्ण उवर्ण पूर्व होने पर विकल्प से अनुनासिक होगा[5]। यथा—सुमगाँ अरि (ऋ. १, ४,६ पपा. सुऽभगान्, अरि)। स्तोमाँ अभिस्वर (ऋ १,१०,४ पपा. स्तोमान्, अभि, स्वर)। हविष्माँ आविवासति (ऋ १,१२,६ पपा हविष्मान्, आऽविवासति)। महाँ इन्द्रं (ऋ १,८,५ पपा महान्, इन्द्र)। देवाँ इहावह (ऋ. १,१२,३ पपा देवान्, इह, आ, वह)। ताँ उशत (ऋ १,१२,४ पपा तान्, उशत)। वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत (ऋ १,४५,१ पपा वसून्, इह, रुद्रान्, आदित्यान्, उत)। ताँ इन्द्र (ऋ १,१६ ६ पपा तान्। इन्द्र)। देवाँ एह (ऋ १,१,२ पपा देवान्, आ, इह)। यजत्राँ ऋतावृधः (ऋ १,१०,७ पपा यजत्रान्, ऋतऽवृध) इत्यादि।

---

१ तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (पा ६,१,७)। २ तृतीयान्तस्य (शौच ३,१६)। ३ दीर्घादटि समानपादे (पा ८, ३,६)। नकारस्य पदान्तस्य स्वरे रेफो विधीयते (शैशि २७)। ४ आतोऽटि नित्यम् (पा ८, ३, ३)। ५ अत्राऽनुनासिक पूर्वस्य तु वा (पा ८,३,२)।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त निर्दिष्ट उदाहरणों में सर्वत्र अ, इ, उ, ऋ, ए परे रहते प्रक्रियानुसार पहले पूर्ववर्ती 'न्' को 'र्' (रु) हुआ, पश्चात् 'र्' के पूर्ववर्ती 'आ' को 'आँ' अनुनासिक की श्रुति हुई है। जहां तो 'र्' से पूर्व अवर्ण (आ) है, वहां 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा ८,३,१७) के नियम से 'र्' को 'य्' होकर 'लोपः शाकल्यस्य' (पा ८ ३,१९) सूत्र से 'य्' का लोप हो गया है। और जहां 'र्' के पूर्व अवर्ण के अतिरिक्त अन्य कोई स्वर ई, ऊ है, वहां अवर्ण-पूर्व न होने के कारण 'भोभगो०' (पा ८,३,१७) के नियम से 'र्' को 'य्' न हुआ और नहीं लोप की सभावना है। ऐसे स्थलों में संहिता-पाठ में अनुनासिक के बाद 'र्' की श्रुति रहती है। यथा—वसूँरिह (ऋ. १,४५,१ पपा. वसून्, इह)। ऋतूँरनु (ऋ १, १५,५ पपा ऋतून्, अनु)। इपुधीँरसक्त (ऋ १,३३,३ पपा इपुधीन्, असक्त)। ऐसे ही यन्यूँरिमाँ अवर्तो इन्द्रो (ऋ ६,४७,१७) में पर-वर्ती स्वर-वर्ण से पूर्व पूर्व के 'न्' को 'र्' (रु) होकर पूर्व को अनुनासिक हो रहा है। तथा 'यन्यूँर्' में अवर्ण-पूर्व न होने के कारण 'र्' की श्रुति विद्यमान है। अन्यत्र लोप हो गया।

२. संहिता-पाठ में पाद के अन्त में अ-प्रगृह्य (प्रगृह्य-संज्ञा से रहित) अण् (अ, इ उ) को अनुनासिक-श्रुति होती है[1]। यथा घुनेंँ (ऋ (१,३३,४) तेजनेँ (ऋ १,११०,५) आदि।

४. संहिता-पाठ में शाखा-कृत अनुनासिक-भेद

एक ही मन्त्र में ऋग्वेद के संहिता-पाठ में अट् प्रत्याहार परे रहते 'न्' को 'र्' होकर पूर्ववर्ती वर्ण को अनुनासिक का निर्देश होता है, उससे भिन्न शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा में, और शुक्ल-यजुर्वेद की उक्त शाखा से काण्व-शाखा में अनुनासिक निर्देश की प्रक्रिया भिन्न है। यथा—ऋग्वेद में अनुनासिक निर्देश का 'अस्माँ उ देवा' (१०,१०३,११) यह प्रकार है। इसी मन्त्र की शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता (१७,४३) में 'अस्माँ२ऽउ देवा' यह निर्देश का प्रकार है। और काण्व-संहिता (१८ ४,११) में 'अस्माँ ३ उ देवा' इस प्रकार का अनुनासिक-निर्देश है। एक ही मन्त्र में जो ऋग्वेद तथा शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता और काण्व-संहिता में अक्षरश पठित है यह अनुनासिक भेद दिखाया गया है। ऋग्वेद तथा

1 अणो-ऽप्रगृह्यस्यानुनासिक (पा ८,४,५७)।

माध्यन्दिन-संहिता तथा काण्व-संहिता में अनुनासिक-निर्देश का यही प्रकार सर्वत्र उपलब्ध होगा। ऐसे ही अमित्राँ' अपबाधमान (ऋ. १०, १०३, ६), अमित्राँ'२ऽअपबाधमान (मा. १७ ३६), अमित्राँ'३ अपबाधमानः (का. १८,४,४) का भेद ज्ञातव्य है।

५. संहिता-पाठ में अन्य विशेष

संहिता मे रेफ-श्रुति—[1]वर्धंर्जघान (ऋ. ५,३२,१ पपा वर्धः, जघान) वनर्षदं [2] (ऋ. ९,२१,१ पपा. वनऽसदं)। अविभरुपरर्थे (ऋ. १०,६६,१० पपा. अविभ, उपऽरथे), [3]स्वर्यदेदिं (ऋ. ४,१६,४ पपा स्वः, यत, वेदि) इत्यादि।

णत्व—प्रणेतारं. (ऋ. १,१६१,५ पपा. प्रऽनेतारं) आदि।

पत्व—नृषाह्यें (ऋ. १,१००,५, पपा नृऽसह्यें)। ज्योतिष्पश्यन्तः (ऋ १,५०,१० पपा ज्योतिः, पश्यन्त)। यूयं हि ष्ठा (ऋ १,१५,२ पपा. यूयम्, हि, स्थ)। चमूषदं (ऋ १,१४,४ पपा चमूऽसदं)। त्रिष्टुप्टर (ऋ. १,२१,१४ पपा त्रिष्टुऽस्तरं)। स्वषा (ऋ १,१००,१२ पपा. स्वऽसा)। सिषक्तु (ऋ १,८२,२ पपा सिसक्तु)। निषीमन्तीषु (ऋ. १,१०,८ पपा सिसीमन्तीसु)। हविष्कृतम् (ऋ १,१३,३ पपा हविःऽकृतम्)। षीम् (ऋ. १,६५,२ पपा सीम्)। आविष्ट्य. (ऋ १,६५,५ पपा आविःऽस्य)।

षत्व विकल्प से भी होता है[4]। यथा—सुषमिद्ध (कौ ७,६६७ पपा. सु समिद्ध) सुसमिद्ध (ऋ. १,१३,१)। सुषारथि (ऋ ६,७५,६) सुसारथिम् (पै. १६,३२,१४)।

सत्व—शोचिषस्पते (ऋ ५,६,५ पपा शोचिष, पते)। शवसस्पते (ऋ ५,६,६ पपा शवस, पते)।

सुट्-आगम—सुश्चन्द्र (ऋ ५,६,५ पपा. सुऽचन्द्र)।

ष्टुत्व—दूढ्य (ऋ. १,६४,८ पपा दुःऽध्यं)।

ह्रस्व[5]—विश्व ऋतेनं (ऋ १,१५२,१ पपा विश्वा ऋतेनं)।

दो स्वर-वर्णों के मध्यवर्ती 'ड' को संहिता में 'ळ' पढा जाता है और ऊष्म-वर्ण 'ह' के साथ संयोग होने पर उसी 'ड' को 'ढ' होकर

१ वधराद्युदात्तम् (ऋप्रा १, ८३)। २ वनेति रेफ. सदशब्द उत्तरे (ऋप्रा. ४,८६)। ३. स्व स्वरितम् (ऋप्रा. १, ८३)। ४. पूर्वपदात् (पा ८,३,१०६) ५. ऋत्यक (पा. ६,१,१२८)।

'ळ्ह' पढ़ा जाता है[१]। यथा—अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ. १,१,१)। समी॑ळ्भिः (ऋ. १,१००,५) इ॒ळा॑म् (ऋ. ७,४४,२) आदि। साळ्हा॑ (ऋ. ७,५६,२३)।

६. संहिता-पाठ में कम्प-स्वर

यद्यपि कम्प-स्वर स्वरित का ही विशेष रूप है, और इसका निरूपण भी स्वरित-प्रकरण में होना चाहिये था, तथापि तथाकथित कम्प का स्वरूप संहिता-पाठ में ही प्रायः निष्पन्न होता है, इस लिए यहीं पर इसका विवेचन किया जाता है।

१. वेद (ऋग्वेद, अथर्व-वेद आदि) के संहिता-पाठ में यत्र-तत्र १, ३ यह अङ्क दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, कौहडिशिक्षा तथा शैशिरीय-शिक्षा आदि में इन्हें कम्प कहा गया है। ह्रस्व-स्वरित के आगे १ ऐसा ह्रस्वत्व का द्योतक ह्रस्व-कम्प लगता है। जैसे—धी॒र्ये॑१॒र्यलम् (तै. ४,१,१०,२)[२]। और दीर्घ-स्वरित के आगे ३ ऐसा दीर्घत्व का बोधक दीर्घ-कम्प लगता है। जैसे—त॒न्वां॑३॒स्वायाम् (तैब्रा. २,६,२)। इस प्रकार कम्प के ह्रस्व-कम्प और दीर्घ-कम्प दो भेद हैं।

२. अष्टाध्यायी में इस कम्प का प्रतिपादक सूत्र 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (पा. १,२,३२) है। अर्थात् उस (स्वरित) की आदि की अर्ध-मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त। ह्रस्व-स्वरित में अर्ध-मात्रा उदात्त की, शेष अर्ध-मात्रा अनुदात्त की होगी। दीर्घ-स्वरित में अर्ध-मात्रा उदात्त की और डेढ़ मात्रा अनुदात्त की। और प्लुत-स्वरित में अर्ध-मात्रा उदात्त की तथा शेष ढाई मात्रा अनुदात्त की होगी यह आचार्यों की व्यवस्था है। ह्रस्व-स्वरित में उत्तरार्ध की अनुदात्त की अर्ध-मात्रा को सूचित करने के लिये ह्रस्व-कम्प (१)। और अन्यत्र (३) दीर्घ-कम्प।

३. उक्त कम्प का चिह्न प्रायः जात्य (नित्य-स्वरित, 'तित्स्वरितम्' ⌊पा. ६,१,१८५⌋ सूत्र से निष्पन्न), क्षैप्र-स्वरित (सन्धि में जहाँ इ उ को य् व् हो गया है), प्रश्लिष्ट-स्वरित (दीर्घ-सन्धि से निष्पन्न) और अभिनिहित-स्वरित (पूर्वरूप-सन्धि से निष्पन्न) इन चार प्रकार के स्वरितों का

---

१. 'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः। ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः (ऋप्रा. १,५१)। ऐसी सदृशोपदेशाम् (शुप्रा. ४,१४४)।

२. धी॒र्ये॑१॒र्यलम् इति ह्रस्व ह्रस्वः कम्प उदीरितः।
तन्वां॑३॒स्वायाम् इत्यत्रादिर्दीर्घः कम्पो विधीयते॥ (कौशि. २२)।

बोध कराने के लिये लगाया जाता है, यदि इन स्वरितों के अनन्तर उदात्त या स्वरित अक्षर विद्यमान हों[1]।

इस विश्लेषण से उदात्त-परक ह्रस्व-कम्प और दीर्घ-कम्प तथा स्वरित-परक दीर्घ-कम्प दोनो ही दो प्रकार के हो जाते हैं। यथा—

(क) वह ह्रस्व-कम्प जिसके अनन्तर-परवर्ती उदात्त अक्षर हैं। यथा—क्व१ त्री चक्रा (ऋ १,३४,९), न्य१ग्न्यस्यं (ऋ. १, ३०,११)। यहां दोनों ह्रस्व-कम्पों के अनन्तर क्रमशः 'त्री' और 'ग्न्य' यह दोनों उदात्त अक्षर वर्तमान हैं। पहला उदाहरण जात्य-स्वरित का, दूसरा उदाहरण क्षैप्र-स्वरित का है।

(ख) वह दीर्घ-कम्प जिसके अनन्तर-उत्तरवर्ती उदात्त अक्षर विद्यमान है। यथा—स्वे३दानीम् (ऋ १,३०,७), मनुष्या३श्च-रामसि (ऋ ७,८६,५), धीया३योन्द्र (ऋ ३,४६,१)। यह सब दीर्घ-कम्प के उदाहरण जात्य-स्वरित के हैं। यहाँ क्रमशः 'दा', 'च', 'णी' यह उदात्त अक्षर परवर्ती विद्यमान हैं। दीर्घ-कम्प के दूसरे स्वरितों के भी अनेक उदाहरण विस्तार के भय से नहीं दिखाए हैं। वैदिक-साहित्य मे अधिकाश उदाहरण अनन्तर-परवर्ती उदात्त अक्षर के ही मिलेंगे।

(ग) वह कम्प जिसके अनन्तर-परवर्ती स्वरित अक्षर हो। जैसे—सुवर्चक्रं यो३ह्वः (ऋ १०,१४४,४)। यहा ३ इस दीर्घ-कम्प के अनन्तर-परवर्ती 'ह्वः' स्वरित है। यो+अह्वः इस अवस्था मे पूर्वरूप होकर यो३ह्वः यह अभिनिहित-स्वरित का उदाहरण है। 'अह्वः' शब्द का 'अह्वः' क्षैप्र-स्वरित है।

४ ऋग्वेद मे द्वि-उदात्त शब्दों के पद-पाठ मे संहिता-स्वरित मे भी कम्प-स्वरित का उदाहरण मिलता है—शची३पतिम् (ऋ. १,१०६, ६, सपा शचीपतिम्)। तनू३नपात् (ऋ ३,२९,११ सपा तनूनपात्)।

५. यदि उदात्त या स्वरित अक्षर परवर्ती न होगा, प्रत्युत अनुदात्त अक्षर पर मे होगा तो पूर्ववर्ती स्वरित को कम्प का चिह्न नही लगता। जैसे—वीर्यं चकर्थ (ऋ १,१०३,७)। यहा 'चकर्थ' यह

1. जात्योऽभिनिहितश्चैव क्षैप्र प्रश्लिष्ट एव च।
एते स्वाराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितोदयाः॥ (ऋप्रा ३,३४)।
अभिनिहित-प्रश्लिष्ट-जात्य क्षैप्राणाम् उदात्तस्वरितोदयानाम्।
अणुमात्रा निघातो विकम्पित तत् कवयो वदन्ति॥ (शौच ३,६५)

√कृ धातु की सर्वानुदात्त क्रिया अनन्तर-परवर्ती है, इसलिये उसके पूर्व 'वीर्यम्' में ह्रस्व-कम्प का चिह्न नहीं लगा। यही न्याय दीर्घ-कम्प में भी चरितार्थ होता है।])

[सिद्धान्त-कौमुदी के समस्त उपलब्ध संस्करणों में 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (पा. १,२,३२) का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ह्रस्व-कम्प का 'क्व१वोऽश्वाः', दीर्घ-कम्प का 'रथानां न ये३ऽराः', तथा स्वरित-परक दीर्घ-कम्प का 'शतचक्रं यो३ऽह्यः' यह चिह्न दिखाया है। इसमें 'ये३ऽराः' का '३' यह कम्प-चिह्न विवादास्पद है। यह मन्त्र-खण्ड ऋग्वेद (१०,७८,४) का है। ऋग्वेद के संहिता-पाठ में 'ये३ऽराः' ऐसा कम्प का चिह्न है वह भी संदिग्ध है। ये+अराः इस स्थिति में पूर्वरूप संधि होकर अभिनिहित-स्वरित का यह उदाहरण है। ऋग्वेद के तथा अन्य वेदों के ऐसे अभिनिहित स्वरित के उदाहरणों में सर्वत्र ३ यह दीर्घ-कम्प का चिह्न वर्तमान है। यथा—भानी ते३ऽस्या (ऋ. ८,७६,२१ पदपा. भानुऽते, अस्या) यहां भी पूर्वरूप संधि से अभिनिहित स्वरित हुआ है। परन्तु कम्प का चिह्न ३ है। इमे३ऽग्निम् (ऋ. ८,७४,६) ते३ऽस्मे (शौ १६,६,७) सप्राऽऽमेऽभिमाता (मै ७,२,१०)। स्मरण रहे मैत्रायणी संहिता में ३ का चिह्न भावी स्वरित का सूचक है। सिद्धान्त-कौमुदी में प्रदर्शित ३ यह कम्प तो वैदिक-साहित्य में दुर्लभ है। यद्यपि मैसूर में मुद्रित तैत्तिरीय-आरण्यक (७,६,२) के संस्करण में तन्वा३ऽ स्वार्याम् ऐसा कम्प का चिह्न मिलता है। परन्तु पूना से प्रकाशित आनन्दाश्रम-ग्रन्थावली के तैत्तिरीय-आरण्यक के संस्करण में यही शब्द तन्वा१ऽ स्वार्याम् इस ह्रस्व-कम्प से युक्त मिलता है। कालिकाता-संस्करण के तैत्तिरीय-आरण्यक में यही शब्द तन्वा३ऽ स्वार्याम् मिलता है। एक ही ग्रन्थ के संस्करण-भेद से विवाद-ग्रस्त कम्प-चिह्न सिद्धान्त-कौमुदी के कम्प-चिह्न की पुष्टि में उपोद्‌बलक नहीं हो सकते।]

७. कम्प-स्वर में शाखाकृत-भेद

[ऋग्वेद में निर्दिष्ट प्रकार से जो कम्प-स्वर का चिह्न माना है, वही चिह्न यजुर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा तथा काण्व-शाखा में उदात्त-स्वरित-परक पूर्ववर्ती स्वरित में नहीं लगाते। माध्यन्दिन-संहिता में पूर्ववर्ती स्वरित के नीचे (ᴗ) यह चिह्न और काण्व-संहिता में स्वरित के नीचे (–) यह चिह्न लगाया जाता है। यथा—बाहुग्गर्यां३प्रधंम्वा (ऋ १०,१०३,३)। माध्यन्दिन-संहिता (१७,३३) में बाहुग्गर्यांप्रधंम्वा तथा काण्व-संहिता (१८,४,३) में बाहुग्गर्यांप्रधंम्वा।

तृतीय-अध्याय

[१. पद-पाठ, २. पदपाठ-कर्ता, ३. शाकल्य की पदपाठ-शैली, ४. पदपाठ-शैली का तुलनात्मक अध्ययन, ५. पद-पाठ की तीन अवस्थाएँ, ६. पद-पाठ में 'इति' का योग, ७. पद-पाठ में अवग्रह-नियम, ८. अवग्रह के अपवाद]

१. पद-पाठ

वैदिक संहिता-पाठ के दुरूह तथा दुर्ज्ञेय शब्दों का आर्ष-व्याख्यान पद-पाठ है। ऋषियों की वाणी से प्रादुर्भूत वैदिक मन्त्र, सूक्त, अनुवाक आदि के शब्दों के स्वर-ज्ञान के लिए ही पदाध्ययन (पद-पाठ) की आवश्यकता है[१]।

शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य के प्रणेता महर्षि कात्यायन के मत में संहिता का अभाव ही पद-विच्छेद (पद-पाठ) है[२]। तथा वैदिक अर्थों की अभिव्यक्ति ही पद (पद-पाठ) का लक्ष्य है[३]।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की विष्णुमित्र-कृता वृत्ति में बिना संधि किए दो अक्षरों का या पदों का शुद्ध उच्चारण ही प्रतृण्ण (पद-पाठ) है[४]।

पद-पाठ का अर्थ है पदाध्ययन। संहिता-पाठ की संश्लिष्ट मन्त्रानुपूर्वी का पद पद करके अध्ययन। पद-शब्द से सुबन्त तथा तिङन्त शब्द,[५] उपसर्ग अव्यय तथा निपात[६] सम्पूर्ण शब्द-राशि अभिप्रेत है। पद-शब्द से पद-पाठ में हलादि भ्याम् भिस् आदि विभक्तियों से पूर्व प्रकृति भी ग्राह्य है[७]। पद-शब्द से समास के पूर्व-पद की प्रकृति भी ग्राह्य है[८]। विशेष विवेचन आगे करेंगे।

---

१. ऋषिप्रोक्त-मन्त्रादिशब्द-स्वरज्ञानार्थः पदविभागः (ऋप्रा. १,१,३)। पदाध्ययनम् अन्तादिशब्दस्वरार्थज्ञानार्थम् (शौच ४,१०७)। २. पदविच्छेदोऽसंहितः (शुप्रा. १,१५६)। ३. अर्थः पदम् (शुप्रा.३,२)। ४. शौद्धाक्षरोच्चारणं च प्रतृण्णम्। शुद्धे द्वे अक्षरे पदे वा सन्धिमकुर्वतोच्चारिते, तत् प्रतृण्णम् पदाध्ययनमिति तदाशयः। ५. सुप्तिङन्त पदम् (पा. १,४,१४)। ६. अव्ययादाप्सुपः (पा. २,४,८२)। सुपो लुकि यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति न्यायेनाव्ययानां पदत्वम्। ७. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (पा. १,४,१७)। ८. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (पा १,१,६२)।

२. पदपाठ-कर्ता

ऋग्वेद के पदपाठकार महर्षि शाकल्य हैं। वैदिक संहिताओं की शब्द-राशि को पद पद के स्वाध्याय से अवगत कराने की इनकी शैली बड़ी प्राञ्जल तथा सरल है। महर्षि पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध अष्टाध्यायी ग्रन्थ में इनके सुगृहीत नाम का स्मरण करके इनका आदर किया है। 'लोपः शाकल्यस्य' (पा ८,३,१६) 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा. १,१,१६) इत्यादि। साम-वेद के पदपाठकार महर्षि गार्ग्य हैं। इनके प्रति भी उन्होंने आदर दिखाया है। 'अड् गार्ग्यगालवयोः' (पा. ७,३,६६)। कृष्ण-यजुर्वेद (तैत्तिरीय-संहिता) के पदपाठकार महर्षि आत्रेय हैं[1]। यह सब निर्विवाद हैं। शुक्ल-यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के पदपाठकार अज्ञात हैं।

३. शाकल्य की पदपाठ-शैली

पद-पाठों के पद-विच्छेद के अपने निर्धारित नियम हैं। जिनका विस्तार से संपूर्ण प्रातिशाख्यों में उल्लेख हैं। हम सार-भूत कतिपय नियमों का विस्तृत संकेत आगे प्रकरण में यथा-स्थान करेंगे। यहां शैली का संकेत करते हैं।

१. प्रत्येक सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग, अव्यय, निपात का पृथक्-पृथक् निर्देश। यथा—अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त (ऋ. १,१,२)।

---

१. वैशम्पायनो यास्कायैतां प्राह पैङ्गये।
यास्कस्तित्तरये प्राह उखाय प्राह तित्तिरिः॥
उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।
तेन शाखा प्रणीतेयम् आत्रेयीति च सोच्यते॥
यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।
तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महत्॥
(तैत्तिरीय-काण्डानुक्रमणिका तृतीय अध्याय २५-२७ श्लोक)

अथ भट्टभास्कर-व्याख्यानम् (तै. १,१,१,१)—

पूर्वं भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थम् एकीभूय स्थिता वेदा व्यस्ताः। शाखाश्च परिच्छिन्नाः। तत्र वैशम्पायनं नाम शिष्यं यजुश्शाखानामाधिपत्ये नियुयोज। स चैनं पाठं यास्काय, यास्कश्च तित्तरये, सोऽपि चोखाय, उखश्चात्रेयाय ददौ। येन पदविभागश्चक्रे, अतश्चेयं शाखा आत्रेयीत्युच्यते।

२. अ-संदिग्ध समस्त पदों में दो पदों का समास दिखलाने के लिए मध्य में (ऽ) इस प्रकार का विच्छेदक (अवग्रह) चिह्न।

३. सुबन्त शब्दों में पूर्वपदत्व समझाने के लिए प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में (ऽ) अवग्रह का चिह्न।

४. जिन वैदिक शब्दों के संहिता-पाठ में दीर्घ हुआ है, उनकी ह्रस्व-श्रुति दिखलानी।

५. प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता वाले वैदिक शब्दों के साथ 'इति' का योग। जहां 'इति' का योग होगा, वहां पदपाठकार अवग्रह का चिह्न नहीं लगाते।

६. संहिता-पाठ में अनुनासिक की श्रुति नहीं है, पद-पाठ में उपलब्ध है। जैसे—विन्दतो३ (ऋ. १०,१४६,१)। यह संहिता-पाठ है। इसका पद-पाठ विन्दताँ३ है[1]।

७. संहिता-पाठ में कुछ परिगणित शब्दों के परे रहते 'ईम्' के अन्त्य 'म्' का लोप हो जाता है पद-पाठ में नहीं। जैसे—समी पृच्यते (ऋ. १,१०३,१)। यहां संहिता-पाठ में 'ईम्' के 'म' का लोप होकर सम्+ईम् के स्थान में 'समी' पढ़ा गया है[2]। पपा. 'सम्, ईमिति, पृच्यते' है।

८. पद-पाठ में दह् धातु के रूपों में प्रायः 'द्' को 'ध्' होगा। जैसे—धुक्षुधः (ऋ. १,१४१,७ संपा. दुक्षुधः)। धुक्षि (ऋ. १,१४१,८ संपा. दधि)।

९. जिन शब्दों में प्रकृति प्रत्यय के किसी भी अंश में अणुमात्र भी संशय हो, वहां अवग्रह चिह्न नहीं लगता।

महर्षि यास्क ने अपने प्रसिद्ध वेदाङ्ग निरुक्त (१,१७) में उदाहरण से स्पष्ट कर के पदपाठकार की अवग्रह-शैली का सूक्ष्म विवेचन किया है[3] :—'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' (ऋ. १०,१६९,१) इस मन्त्र के 'अवसाय' को 'अवस' (पाथेय, अन्न) शब्द की चतुर्थी का एकवचन मान कर

---

१. तत् त्रिमात्रे शाकला दर्शयन्ति (ऋप्रा. १,६४)। २. ईमिप्यन्तलोप एपूदयेषु, गर्भं गावो वसं मृजन्ति पृच्यते (ऋप्रा. ४,८३)। ३. अवसाय पद्वते रुद्र मृळ (ऋ. १०, १६९, १)। अवतेर्गत्यर्थस्यासो नामकरणः। तस्मान्नावगृह्णन्ति। 'अवसायाश्वान्' (ऋ. १,१०४ १) इति, स्यतिरुपसृष्टो विमोचने। तस्माद् अवगृह्णन्ति (निरुक्त १,१७)।

'पाथेय अन्न के लिए' यह अर्थ अभिप्रेत है तो 'अवस' शब्द √अव (गत्यादिषु) धातु से औणादिक 'असच्' प्रत्यय करके अन्तोदात्त निष्पन्न होगा और एक ही शब्द होने के कारण पदपाठकार मध्य में (ऽ) यह अवग्रह का चिह्न नहीं लगाते। इसके विपरीत 'अवसायाश्वान्' (ऋ. १,१०४,१) इस प्रयोग में 'अश्वों को खोल कर' इस अर्थ में 'अवसाय' शब्द का अर्थ 'खोल कर' या 'छोड़ कर' है। जो अव उपसर्ग पूर्व में होते हुए √पो अन्तकर्मणि का यह ल्यप्-प्रत्ययान्त रूप है। उपसर्ग की सामर्थ्य से धातु का अर्थ 'छोड़ना या खोलना' है। स्पष्ट तौर पर पदपाठकार को 'अव' उपसर्ग और √पो का ल्यबन्त रूप 'साय' दृष्टिगोचर हो रहा है। इसलिए गति (उपसर्ग) और क्रिया का समास मान कर 'अवऽसाय' ऐसा अवग्रह करते हैं।

जहां वैदिक शब्द के पद-पाठ में दो पदपाठकारों का मत भेद देखा जाता है। महर्षि यास्क दोनों पदपाठकारों का आदर करते हुए दोनों के पद-पाठों के अनुसार वेद के शब्द का अर्थ करते हैं। उदाहरण के लिए निरुक्त (४,४) में 'मेहना' (ऋ. ५,३९,१) शब्द पर दोनों पदपाठकारों के अभिमत का सामञ्जस्य करते हुए उन्होंने शब्द के दो अर्थ मान लिए हैं। महर्षि शाकल्य के पद-पाठ में 'मेहना' शब्द एक है और अनवगृहीत है। उनके मन्तव्य का आदर करते हुए महर्षि यास्क ने मन्त्र का व्याख्यान 'यदिन्द्र चित्र चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति' किया है। जिसमें 'मेहना' का अर्थ 'मंहनीयम्' किया है। साम-वेद के पद पाठ में महर्षि गार्ग्य के मत में 'मेहना' इस वैदिक शब्द में 'मे', इह, न' (कौ १,३४५) यह तीन शब्दों की सन्धि है, इसलिए पद-पाठ में उन्होंने तीन शब्द अवग्रह दिखा कर किये हैं। महर्षि यास्क इनके प्रति भी सन्मान दिखाते हैं। और व्याख्यान में 'यत् मे इह नास्ति इति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि' यह पक्षान्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। जिसका भाव स्पष्ट है। निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ने बड़ी अवदात भाषा में महर्षि यास्क का हृदय खोला है।

वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी तो पदपाठकारों की अवग्रह-शैली का सूक्ष्म विवेचन करते करते अपने निरुक्त-भाष्य (७,१३) में 'आदित्य' शब्द पर यहां तक कह गए कि पदपाठकारों की अवग्रह शैली बड़ी विलक्षण है। महर्षि शाकल्य (ऋग्वेद के पदपाठकार) तथा महर्षि आत्रेय (तैत्तिरीय-संहिता के पदपाठकार) 'आदित्य' शब्द में पर्व

प्रदर्शित निर्वचन के अभिप्राय से अवग्रह नहीं करते, और सामवेद के पदपाठकार महर्षि गार्ग्य ने उसी निर्वचन के आधार पर 'आ॒दि॒त्य' में आ॑ दि॑य (कौ. १,११) ऐसा अवग्रह दिखाया है। पदकारों के अभिप्राय भी विचित्र हैं। उपसर्ग और क्रिया का समास सर्व-विदित है। परन्तु कहीं उपसर्ग के विषय में भी अवग्रह का चिह्न नहीं लगाते। जैसे महर्षि शाकल्य ने अ॒धी॒वा॒सम् (ऋ. १,१४०,६) में अवग्रह नहीं दिखाया। और महर्षि आत्रेय ने तैत्तिरीय-संहिता (४,६,६,२) में इसी अ॒धी॒वा॒सम् का अ॒धी॒वा॒समित्य॑धि-वा॒सम् इस प्रकार अवग्रह दिखाया है। माध्यन्दिन-संहिता के पद-पाठ में विकल्प से अ॒धि॒वा॒समित्य॑धि वा॒सम् ऐसा अवग्रह[1] दिखाया है इस लिए पदकारों की अवग्रह-शैली अज्ञेय है[2]।

महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य (३,१,१०९) में पद-पाठकारों की अवग्रह-शैली पर विवेचन करते हुए उनकी अमृदु समालोचना की है—'पदकारों को व्याकरण के अनुसार अवग्रह लगाना चाहिए, न कि पदकारों के अवग्रह के अनुसार व्याकरण के सूत्र बनने चाहिएँ'[3]। प्रसङ्ग 'आज्यैन' (ऋ. १०,५३,२) शब्द की सिद्धि का है। शब्द आद्युदात्त है, और √अञ्ज् धातु से क्यप् प्रत्यय करके सिद्ध करना है। वार्तिककार का मत यह है कि 'आज्य'

---

१. अधीवासमित्येके (शुप्रा. ४,२३)। सावग्रहं कुर्वन्तीत्यर्थः। यथा—अ॒धि॒वा॒समित्य॑धि वा॒सम्। पक्षान्तरे तु अ॒धी॒वा॒सम्।

२. आदित्यः कस्मात्? 'आदत्ते रसान्' भुवो रश्मिभिः, 'आदत्ते भासम्', तदुदयेऽन्तर्धानाद् आदानव्यपदेशः, ज्योतिषां चन्द्रनक्षत्रग्रहादीनाम्।······उभयत्र ददातेरादित्यः। 'आदीप्तो भासा' इति वा, ज्योतिरन्तरापेक्षया दीप्तः।······आदीप्तो भवतीति वा पाठान्तरम्।··· अदितेः पुत्रः इति वा।······शाकल्याऽऽत्रेय-प्रभृतिभिर्नावगृहीतं, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति, तदेव कारणम्। विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिद् उपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन 'अधीवासम्' इति नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु 'अधी-वासम्' इत्यव-गृहीतम्। तस्माद् अवग्रहोऽनवग्रह इति (स्कन्दस्वामिभाष्यम् निरुक्त २,१३)।

३. संज्ञायाम् अञ्जेश्चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। आज्यम्। यदि क्यप् वृद्धिर्न प्राप्नोति। तस्माण्ण्यद् एषः। यदि ण्यद् उपधालोपो न प्राप्नोति। तस्मात् क्यब् एषः। ननु चोक्तं वृद्धिर्न प्राप्नोतीति। आङ्पूर्वस्यैष प्रयोगो भविष्यति। यद्येवम्, अवग्रहः प्राप्नोति। न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणम् अनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्तव्यम् (महाभाष्य ३,१,१०९)।

शब्द को क्यप्-प्रत्ययान्त सिद्ध करने के लिए 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' (पा. ३,१,१०९) सूत्र में √अञ्जू धातु का भी उपसंख्यान कर लेना चाहिए। 'अञ्जेश्चोपसंख्यानं संज्ञायाम्'। महाभाष्यकार ने इस पर विचार प्रारम्भ किया कि आद्युदात्त-स्वर की सिद्धि के लिए और धातु के नकार का लोप करने की दृष्टि से यदि क्यप्-प्रत्यय का उपसंख्यान होगा तो 'अज्य' शब्द निष्पन्न होगा, 'आज्य' नहीं, वृद्धि कहां से होगी, और यदि वृद्धि की संभावना के लिए ण्यत् प्रत्यय करते हैं तो आद्युदात्त 'आज्य' शब्द निष्पन्न न होगा, प्रत्युत 'तित्स्वरितम्' (पा. ६,१,१८५) के अनुसार ण्यत्-प्रत्यय में 'त्' की इत्संज्ञा हो कर तित् होने के कारण अन्त-स्वरित 'आज्य' बनेगा जो कि वेद का शब्द नहीं है, और धातु के न् का लोप भी न होगा। फिर क्या युक्ति हो। इस लिए आङ्-उपसर्ग-पूर्वक √अञ्ज् धातु से क्यप् प्रत्यय मान कर आ+अज्य को सवर्ण-दीर्घ से 'आज्य' सिद्ध कर लें। ऐसा होने से इस वैदिक शब्द 'आज्य' में 'आऽअज्य' इस प्रकार का अवग्रह प्राप्त होगा, और पदकार ने अवग्रह किया नहीं है। इस पर महाभाष्यकार ने पदकार के मत की अवहेलना करते हुए कहा है कि व्याकरण से यदि वैदिक शब्द सिद्ध होता है और पदकार के अवग्रह की शैली उसमें प्रतिबन्धक है तो पदकार को व्याकरण के अनुसार चलना चाहिए। भावार्थ यह कि धातु और उपसर्ग का समास होने पर भी पदकार को अवग्रह नहीं दिखाना चाहिए।

आइये, जरा पदकार की अवग्रह-शैली के औचित्य पर विचार करें। पहले कह आए हैं कि जिस वैदिक शब्द की व्युत्पत्ति में पदकार को अणुमात्र भी सन्देह होता है, वहां अवग्रह का चिह्न नहीं लगाते। 'आज्य' शब्द की भी अनेक व्युत्पत्तियां हैं। √अञ्ज् से वार्तिककार का मत और आङ्-उपसर्ग-पूर्वक √अञ्ज् से महाभाष्यकार का मत बतलाया ही जा चुका है। काठक-संहिता (२४,७) के अनुसार 'यद् अजो-ऽपिन्वत् तद् आज्यस्य आज्यत्वम्' की शब्दावली से 'आज्य' शब्द की निष्पत्ति 'अज' शब्द से है। 'यज्जीयाऽऽजयन्त यपन् तद् आज्यानाम् आज्यत्वम्' इस ऐतरेय-ब्राह्मण (२,३६) के अनुसार 'आज्य' शब्द की निष्पत्ति आङ्-उपसर्ग-पूर्वक √जि 'जये' धातु से है। स्मरण रहे कि 'आज्य' शब्द के वेद में दो अर्थ हैं—१. घी, २. स्तोत्र। दोनों ही आद्युदात्त हैं। काठक-संहिता का प्रमाण घृत-वाचक 'आज्य' शब्द की सिद्धि में सहायक है। और ऐतरेय-ब्राह्मण का प्रमाण स्तोत्र-वाचक 'आज्य' शब्द की निष्पत्ति

मे। ताण्ड्य-ब्राह्मण[1] के अनुसार 'आजि' (युद्धवाचक) शब्द से 'आज्य' शब्द सिद्ध होता है। भाष्यकार उव्वट ने माध्यन्दिन-संहिता (२,६) के अपने भाष्य मे √अञ्ज् 'गतिक्षेपणयो' धातु से 'आज्य' शब्द की सिद्धि की है। विविध व्युत्पत्तियों से सर्वथा संदिग्ध तथा विवादास्पद 'आज्य' शब्द मे अवग्रह का चिह्न न लगा कर हमारी समझ में पदकार ने उचित मार्ग ग्रहण किया है। और महाभाष्यकार का पदकार को अवग्रह-शैली के लिए आक्षिप्त करना उचित नहीं। 'अञ्जेश्चोपसंख्यानम्' वार्तिक मे धातु के दीर्घत्व का भी उपसंख्यान करके अवग्रह-रहित 'आज्य' शब्द सिद्ध हो सकता है।

शाकल्य की पदपाठ-शैली निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

१. संहिता-पाठ—वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृता। तेषां पाहि श्रुधी हवम् ऋ (१,२,१)।

पद-पाठ—वायो इति। आ। याहि। दर्शत। इमे। सोमाः। अरम्ऽकृता। तेषाम्। पाहि। श्रुधि। हवम्।

पद-पाठ मे 'वायो' इस संबुद्धि-शब्द के साथ 'इति' का संबन्ध उसकी प्रगृह्यता का सूचक है। शाकल्य की इसी पदपाठ-शैली का निर्देश 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा १,१,१६) सूत्र मे स्पष्ट मिलता है। सूत्र मे 'अनार्षे' यह शब्द इस तथ्य का संकेत करता है कि प्रगृह्यसंज्ञोपयोगी संबुद्धि शब्दों के साथ 'इति' का संबन्ध 'आर्ष' मन्त्र का भाग नहीं है, अपितु अर्थ-विश्लेषण की सुविधा के लिये शाकल्य का अपना लगाया हुआ है। अत एव 'अनार्ष' है। 'अरम्ऽकृता' इस समस्त पद मे दो पदों का समास दिखाने के लिये मध्य मे (ऽ) चिह्न से अवग्रह दिया गया है। अरम् (=अलम्) की गति-संज्ञा[2] होने से परवर्ती कर्मकान्त 'कृत' के साथ यह गति-समास है। संहिता-पाठ मे 'श्रुधी' इस दीर्घान्त क्रिया-पद को 'श्रुधि' इस प्रकार ह्रस्व करके प्रस्तुत किया है। संहिता के अन्य शब्दों का भी पृथक्-पृथक् निर्देश है। शाकल्य की इस परिमार्जित पदपाठ-शैली से वेद-मन्त्र का अर्थ सहज मे ही समझ मे आ जाता है। पद-पाठ का यह सामान्य प्रकार है।

---

१ त आजिमायन्, यदाजिमायँस्तदाज्यानाम् आज्यत्वम् (तां ब्रा ७,२,१)।

२ भूषणेऽलम् (पा १,४,६४)।

२. संहिता-पाठ—द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते। हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः। (ऋ. १,९५,१)।

पद-पाठ—द्वे इति। विरूपे इति विऽरूपे। चरतः। स्वर्थे इति सुऽअर्थे। अन्याऽअन्या। वत्सम्। उप। धापयेते इति। हरिः। अन्यस्याम्। भवति। स्वधाऽवान्। शुक्रः। अन्यस्याम्। ददृशे। सुऽवर्चाः।

यहां द्वि-शब्द द्विवचन मे एकारान्त 'द्वे' है, इसकी प्रगृह्य-संज्ञा[1] होती है। इस लिए पद-पाठ मे 'इति' का सह-उच्चारण होकर 'द्वे इति' पढ़ा जायेगा। यह उपस्थित संज्ञक पद-पाठ है। 'विरूपे' के साथ भी एकारान्त द्विवचन होने से 'इति' का सह-उच्चारण है, विशेषता यह है कि समस्त पद होने के कारण यह स्थितोपस्थित पद-पाठ की अवस्था मे है और 'विरूपे' के मध्य मे अवग्रह एवं आम्रेडित उच्चारण होने से विरूपे इति विऽरूपे ऐसा पद-पाठ पढ़ा गया है। 'चरतः' क्रिया-पद है, सर्वानुदात्त[2] है। 'स्वर्थे' भी समस्त पद एकारान्त द्विवचन है, यहां 'विरूपे' के समान पद-पाठ होगा। 'अन्यान्या' 'अन्या' शब्द का आम्रेडित पद है। आम्रेडित का परला स्वरूप अनुदात्त[3] होता है। 'धापयेते' यह √धेट् पाने के णिजन्त का प्रथम-पुरुष के द्विवचन मे रूप है, एकारान्त द्विवचन होने से प्रगृह्यसंज्ञा की योग्यता के कारण 'इति' का सह-उच्चारण हो रहा है। 'भवति' क्रिया-पद सामान्यतया सर्वानुदात्त होता, परन्तु यहां पर 'अन्या' शब्द के योग मे पहले तिङन्त को निघात का निषेध होने[4] से धातु-स्वर से 'भ' उदात्त है। दूसरा तिङन्त 'ददृशे' सर्वानुदात्त है। 'स्वधाऽवान्' शब्द मे मतुप् प्रत्यय है। अवग्रह-नियम से प्रकृति-प्रत्यय के मध्य मे अवग्रह हो रहा है। 'सुऽवर्चाः' शब्द समस्त है, अतः दो समस्त पदों के मध्य में अवग्रह है। इसकी प्रगृह्य-संज्ञा नहीं है, अतः 'इति' का योग नहीं है।

४. पदपाठ-शैली का तुलनात्मक अध्ययन

१. अथर्व-वेद के पद-पाठ में ऋग्वेद के पद-पाठ से विशेष अन्तर नहीं है। स्वरित-चिह्न के निर्देश मे अन्तर है, जिसका विश्लेषण स्वरित-प्रकरण मे करेंगे।

---

१ ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (पा. १,१,११)। २ तिङ्ङतिङः (पा. ८,१,२८)। ३. अनुदात्तं च (पा. ८,१,३)। ४. एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् (पा. ८,१,६५)।

२. शुक्ल-यजुर्वेद (माध्यन्दिन-संहिता) के पद-पाठ में शाकल्य के पद-पाठ की छाप होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। जैसे—

(क) शाकल्य के पद-पाठ में 'इति' के साथ अवग्रह-चिह्न नहीं लगता। इस पद-पाठ में प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता में 'इति' के पूर्व (ऽ) यह चिह्न लगता है।

(ख) शाकल्य के पद-पाठ में समस्त पद के मध्य में विच्छेदक (अवग्रह) चिह्न लगता है, परन्तु इस पद-पाठ में दोनों समास-घटक पदों का पृथक्-पृथक् कुछ अन्तर देकर सह-निर्देश ही विच्छेदक (अवग्रह) चिह्न है। जैसे—सुमीचीऽइतिसम् ईची (मा. १२,७)। इसके विपरीत शाकल्य-पदपाठ में इस शब्द का निर्देश सुमीची इति सम्ऽईची (ऋ. १,११,५) है।

(ग) 'इति' से पूर्व जो पद-पाठ निर्दिष्ट होगा। उसमें संहिता-पाठ के लोप, आगम, वर्ण-विकार की श्रुति नहीं होती। इति-करण ('इति' के योग) के साथ पद-पाठ का अवग्रह (सन्धि) अवश्य होगा[1]। जैसे—दूडभः। दुर्दभुऽइति दुःऽदभः (मा. ३,३६) यहां संहिता-पाठ में 'द्' को 'ड्' विकार होने से 'दूडभः' में मध्यवर्ती 'र्' को उत्व होकर 'दू' ऐसा दीर्घ[2] हो गया है, परन्तु पद-पाठ में 'इति' से पूर्व लोप तथा विकार से सर्वथा निर्मुक्त 'दुर्दभ.' अवग्रह (संधि) के साथ निर्दिष्ट है। धनुर्यदः। धनुम्दऽइतिधनु सदः (मा.२३,१)। संहिता-पाठ में 'र्' का आगम और षत्वापत्ति हो रही है। किन्तु 'इति' से पूर्व पद-पाठ में आगम और षत्व दोनों का निर्देश नहीं। दुडुधन्। दुपुश्रविनिदुधेशन् (मा. २३,२८), धूर्षाहौ। धूः सुहाविति धूःसहौ (मा. ४,३३)। संहिता-पाठ में 'धूर्षाहौ' का 'र्' और षत्वापत्ति 'धूः सुहौ' पद-पाठ में नहीं है। सर्वत्र 'इति' से पूर्व पद-पाठ में संहिता-पाठ के कार्य का अभाव है।

(घ) प्रगृह्यसंज्ञक पद की चर्चा (पुनरुक्ति) होती है, मध्य में 'इति' से व्यवधान होता है[3]। जैसे—द्वेऽइति द्वे (मा. १७,११) अस्मेऽइत्यस्मे (मा. ४,२२) आदि।

---

१. इतिकरणं पदम् (शुप्रा. ३,२०) उवट-भाष्यम्—इति-करणात् पुरो यत् पुनः पदरूपं तत् सर्वोत्सर्गेणोपपद्यते। यथा इति-करणे परतः सन्धिर्नो लोप-आगम-विकारा न भवन्ति, एवं [illegible] न भवन्ति।... 'लोपागमविकाराणां [illegible] [illegible]'। [illegible] सर्वत्र [illegible]। २. [illegible] (प्रा. ६,१,१०६)। ३. [illegible]

(ङ) रिफित-युक्त शब्दों में भी उक्त न्याय चरितार्थ होता है[1]। जैसे—पुनरिति पुनः (मा. ४,१५), स्वरितिस्वः (मा. ३,३७)। रिफित से तात्पर्य उस विसर्ग से है, जिसकी संहिता में रेफ की श्रुति विद्यमान रहती है, 'भोभगो०' (पा. ८,३,१७) इत्यादि सूत्र के नियम से जिसको यकार नहीं होता[2], क्योंकि अरिफित विसर्जनीय ('स्' को 'रु' हुए 'र्' को न कि स्वाभाविक 'र्') को ही यकारादेश[3] होकर लोप होने का विधान है।

(च) दो पदों की आवृत्ति (चर्चा) के मध्य में 'इति' शब्द का योग होता है[4]। उदाहरण पिछले नियम में देखें।

(छ) लोप, आगम, विकार-रहित पद की आवृत्ति से पूर्व लोप आगम विकार-युक्त संहिता-पाठ को पढ़ते हैं[5]। उसके साथ 'इति' का योग नहीं होता जैसे— श्रेयस्करं। श्रेयःकरेति श्रेयः कर (मा. १०,२८) इत्यादि। यहां पद-पाठ में विसर्ग-श्रुति है। परन्तु संहिता-पाठ में विकार 'स्' हुआ है। संहिता पाठ का पूर्व-निर्देश है।

(ज) जैसी पदावृत्ति क्रम-पाठ में होती है, वैसी पद-पाठ में भी होती है[6]। उसका निर्देश क्रमशः निम्न है—

१. उत्तरवर्ती के साथ संबद्ध पूर्वपद का पद-पाठ में अवग्रह दिखा कर स्थितोपस्थित होता है[7]। यथा—श्रेष्ठतमायेतिश्रेष्ठ तमाय (मा. १,१) उत्तरवर्ती तमप्-प्रत्यय के साथ पूर्ववर्ती 'श्रेष्ठ' पद को पद-पाठ में अवग्रह दिखाया गया है। और मध्यवर्ती 'इति' से दोनों का वेष्टन (स्थितोपस्थित) हुआ है।

पदेषु (शुप्रा. ४,१८)। उव्वट-भाष्यम्—प्रगृह्यसंज्ञकं यत् पदं तत् चर्चायां परभूतायाम् इतिना व्यवहितेन व्यवधीयते। चर्चाशब्देन इति-करणात् परतो या तस्यैव पदस्य द्विरुक्तिः सोच्यते। १. रिफितं च संहितायामनिङ्गनम् (शुप्रा. ४,२२)। २. 'विसर्जनीयो रिफितः' (शुप्रा. १,१६०)। अकारोपध आकारोपधो वा विसर्जनीयः रिफितसंज्ञो भवति, इति उव्वटः। ३. 'कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः'(शुप्रा. ४,३७)। भवर्थः कण्ठ्य.। अवर्णपूर्वो विसर्जनीयो अरेफितो यकारमापद्यते इति उव्वटः। ४. 'पदावृत्तौ चान्तरेण' (शुप्रा. ४,२०)। ५. अनिङ्गाद्यन्तविकारागमे प्रागुक्त्या (शुप्रा. ४,२३)। ६. क्रमोक्तावृत्तिः पदेषु (शुप्रा. ४,२१)। ७. पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितम् अवगृह्यस्य (शुप्रा. ४,१८८)। स्थितोपस्थितशब्देन वेष्टकोऽभिधीयते, इत्युव्वटः।

२. संहिता-पाठ में जहां किसी पद में दीर्घ हुआ है उसको भी पद-पाठ में मध्यवर्ती 'इति' के साथ वेष्टित करके पढ़ेंगे[१]।
जैसे—मा॒म॒हा॒न्त॒म् । म॒म॒हा॒न्ता॒मिति॑ममहान्ताम् (मा. ३३,४२)।

३. संहिता-पाठ मे जहां षत्व की श्रुति है, वहां संहिता-पाठ दिखाकर पश्चात् पद-पाठ में 'इति' से वेष्टित पाठ पढ़ेंगे[२]।
जैसे—सिषांसन्तः। सिसासन्तुऽइतिसिसा सन्तः (मा. २६,१८)।

४. प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता वाले शब्दों में पूर्ववत् संहिता-पाठ दिखा कर पद-पाठ को 'इति' से वेष्टित करते हैं[३]। जैसे—इन्द्राग्नी। इन्द्राग्नुीऽइतीन्द्राग्नी (मा. ३३,६३)। ऊँ, ऊँऽइत्यूँ (मा. १,२८) अमी। अ॒मीऽइत्यमी (मा. १३,८) इत्यादि।

५. जिस रिफित (विसर्ग) की संहिता-पाठ में स्पष्ट प्रतीति हो रही हो उसको भी पद-पाठ में 'इति' से वेष्टित करते हैं[४]। जैसे—नेष्टुः पितृ। नेष्टरितिनेष्टः (मा. २६,२१)।

३. काण्व-संहिता का अपना स्वतन्त्र पद-पाठ उपलब्ध नहीं है।

४. कृष्ण-यजुर्वेद (तैत्तिरीय-संहिता) के पद-पाठ मे भी शाकल्य-शैली से कुछ अपनी विशेषतायें हैं। यथा—

(क) ऋग्वेद, शुक्ल-यजुर्वेद और अथर्व-वेद के पद-पाठों में सर्वत्र पूर्ववर्ती विभक्त्यन्त शब्द के साथ 'इव' का समास[५], और मध्य में समास-प्रदर्शक अवग्रह-चिह्न लगता है। जैसे—धुरिऽइव (ऋ. ७,२४,५) इत्यादि। तैत्तिरीय-संहिता के पद-पाठ में 'धुरि इव' इस प्रकार पृथक् दिखाया जाता है।

(ख) अन्यत्र किसी पद-पाठ में उपसर्गों के साथ 'इति' नहीं जोड़ा जाता, इस पद-पाठ में 'इति' लगता है। जैसे—समिति (तै. ४,७,१२,५) इत्यादि।

(ग) जहां दो उपसर्ग इकट्ठे आ जायें, वहां पहले उपसर्ग के साथ 'इति' का योग नहीं होता, जैसे—अभि। नीति (तै. १,७,६,७)। अनु। समिति (तै २,१,५,६)। सम्। प्रेति (तै. ४,७,१३,४)। उप। प्रेति (तै. ४,७,११,१) इत्यादि।

---

१. अन्त.पददीर्घीभावे (शुप्रा. ४,१६०)। २. विनामे (शुप्रा. ४,१६१)। ३. प्रगृह्ये (शुप्रा. ४,१६२)। ४. रिफिते निरुक्ते (शुप्रा. ४,१६३)। ५. इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (पावा. २,१,४)।

यदि तीन उपसर्ग हों तो प्रथम के साथ भी 'इति' लगेगा, शेष दो में दूसरे के साथ लगेगा, पहले के साथ नहीं। जैसे—अनुसंप्रयात (तै. ५,७,७,२) का पद-पाठ अन्विति । सम् । प्रेति । यात । होगा।

(घ) तैत्तिरीय-संहिता के पद-पाठ में अवग्रह का चिह्न (-) ऐसी छोटी पड़ी रेखा है।

(ङ) शाकल्य-शैली में देवता-द्वन्द्व में अवग्रह नहीं लगता। जैसे—इन्द्राग्नी (ऋ. ७,९४,८)। परन्तु तैत्तिरीय पद-पाठ में विलक्षणता है। जैसे—इ-द्राग्नी इतीन्द्र-अग्नी (तै. १,१,१४,१)।

५. सामवेद (कौथुम-संहिता) के पद-पाठ में ऋग्वेद के पद-पाठ से अनेक विभिन्नताएँ हैं।

(क) किसी भी पद-पाठ में नञ्-समास का परिचायक अवग्रह चिह्न नहीं लगता[1]। सामवेदीय पद-पाठ में लगता है। जैसे—अप्रतिष्कुत (कौ. १,१७९) का पद-पाठ अ प्रतिष्कुत है। जब कि इस शब्द का शाकल्य-पदपाठ (ऋ. १,७,६) 'अप्रतिऽस्कुत' होगा। ऋग्वेद के पद-पाठ में 'अ' (नञ्) को पृथक् बतलाने के लिए (ऽ) यह अवग्रह चिह्न नहीं लगता। प्रत्युत 'प्रतिस्कुत' शब्द में समास बतलाने के लिए मध्य में अवग्रह चिह्न लगता है।

साम-वेद के पद-पाठ में 'अमर्त्यम्' (कौ. १, १२) शब्द को अ मर्त्यम् लिखेंगे। इसके विपरीत शाकल्य-पदपाठ में 'अमर्त्यम्' (ऋ. १, ४४,११) शब्द में 'अ' (नञ्) को पृथक् बतलाने के लिए कोई चिह्न नहीं लगता।

(ख) शाकल्य-पदपाठ में अन्यम, अन्यत्, अर्हनी आदि शब्दों को एक मान कर मध्य में अवग्रह-चिह्न नहीं लगता। साम-वेद के पद-पाठ में अन् यम् (कौ. २,९३८) अन् यत् (कौ. १,७४) अर्हनी अ हनी इति[2] (कौ १,७५) ऐसा निर्देश होगा।

(ग) सामवेदीय पद-पाठ में भी अवग्रह चिह्न नहीं है। शुक्ल-यजुर्वेद के पद-पाठ के सदृश समास-घटक दो पदों का पृथक्-पृथक् सह-निर्देश ही अवग्रह का चिह्न है। जैसे ऊपर उदाहरण से स्पष्ट है।

(घ) शाकल्य-पदपाठ में प्रगृह्य-संज्ञा की योग्यता में शब्दों के साथ 'इति' का सम्बन्ध होता है। अस्मे इति (ऋ. १,२४,७) त्वे इति (ऋ. १,२६,६) इत्यादि। सामवेदीय पद-पाठ में भी अस्मे इति

---

१. प्रतिषेधे नावग्रहः (शुभा. ४,२४)।

(कौ. १,७६) स्वे इति (कौ. १,३८) बे हैनी इति (कौ. १,७५) ऐसा 'इति' का सम्बन्ध उपलब्ध होता है। अन्तर केवल यह है कि शाकल्य-शैली में संबुद्धि के साथ भी 'इति' का योग अभीष्ट है, गार्ग्य-शैली में नहीं। जैसे—विष्णो (कौ. २,९७५) वायो (कौ. २,९७६) वोयो (कौ. २,९७८) शतक्रतो शत क्रतो (कौ. १, ११६) इसके विपरीत शाकल्य-पदपाठ शतक्रतो इति शतऽक्रतो (ऋ. १,४,८) है।

(ङ) सामवेदीय पद-पाठ में प्रगृह्यसंज्ञक समस्त पद के 'इति' के साथ निर्देश में इन्द्राग्नी इन्द्र अग्नीइति (कौ. २,२०३) ऐसे अवग्रह-युक्त निर्देश की परम्परा है। तैत्तिरीय पद-पाठ में भी इन्द्राग्नी इतीन्द्र-अग्नी (तै. १,१,१३,१) इन्द्राग्नी इतीन्द्र-अग्नी (तै. १,१,१४,१) ऐसी अवग्रह-निर्देश की परम्परा है, परन्तु अन्यत्र पद-पाठों में इन्द्राग्नी इति (ऋ. १, २१,३; शौ. १,३५,४), इन्द्राग्नीऽइतीन्द्राग्नी (मा. २, १०) ऐसा अनवगृहीत संकेत मिलता है।

(च) शाकल्य-शैली में सुद्य (ऋ. १,५,६), मित्राय (ऋ. १,१२९,३) पुत्रेभ्यः (ऋ. १,१६१,१०), विप्रः (ऋ. २,१४९), ऋभवः (ऋ. १,२०,४), चन्द्रमसः (ऋ. १,८४,१५) इत्यादि अनेक शब्दों में अवग्रह नहीं है। परन्तु गार्ग्य-शैली में सद्यः स द्यः (कौ. २,८३३) मित्राय मि त्राय (कौ. १,२५५) पुत्रेभ्यः पु त्रेभ्यः (कौ १,२५६) विप्रः वि प्रः (कौ. १, १४३;२,८७८) ऋभवः ऋ भवः (कौ. १,२०६) चन्द्रमसः चन्द्र मसः (कौ. १,१४७) इन शब्दों में अवग्रह है।

हम समझते हैं कि गार्ग्य-शैली एक संमिश्रित शैली है। कितने ही अंशों में विशेषतः अवग्रह-चिह्न के सम्बन्ध में गार्ग्य-शैली का माध्यन्दिन-पद-पाठ से सामञ्जस्य है। समस्त संहिता-पाठ को दिखा कर पद-पाठ दिखाना भी दोनों में तुल्य है। अन्तर 'इति' के योग का है। मा. पद-पाठ में 'इति' का योग होता है, सामवेद-पद-पाठ में नहीं। और कितने ही अंशों में गार्ग्य-शैली का तैत्तिरीय-पद-पाठ के साथ सामञ्जस्य है। जैसे—'स्वधा' शब्द को ले लें, सामवेद-पद-पाठ में स्वधाभिः स्व धाभिः (कौ. १,५३०) ऐसा अवग्रह मिलता है। तैत्तिरीय-पद-पाठ में भी स्वधेति स्व-धा (तै. १,३,०,७) ऐसा अवग्रह है। इसके विपरीत ऋग्वेद (१,१६५,६) तथा माध्यन्दिनी (२,७) के पद-पाठ में 'स्वधा' ऐसा अनवगृहीत है। ऋ. (१,६६,१) मा. (८,१५) के पद-पाठों

में 'प्राणः' शब्द अनवगृहीत है। तै. (१,३,१०,१) के पद-पाठ में प्राण इति प्र-अनः ऐसा अवग्रह है। ऋ. (१०,१८९,२) मा. (३,७) में 'प्राणात्' में अवग्रह नहीं, परन्तु सामवेद (३,९,५) के पद-पाठ में प्राणात् प्र अनात् यह अवग्रह है। तैत्तिरीय-संहिता (१,५,३,१) के पद-पाठ में इससे भी विलक्षण अवग्रह है—'प्राणात् इति प्र-अनात्'। 'इन्द्राग्नी' का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। जिसमें अवग्रह-पक्ष में सामवेदीय और तैत्तिरीय पद-पाठ तुल्य हैं।

६. कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी-संहिता का पद-पाठ स्वतन्त्र उपलब्ध नहीं है। श्योडर महोदय ने अपने सम्पादित मैत्रायणी-संहिता के संस्करण में नीचे टिप्पणों में पद-पाठ की कुछ झलक दी है। यह पद-पाठ भी अन्य संहिताओं के पद-पाठों से अपना विलक्षण स्थान रखते हैं। उदाहरण के लिए √पुम् 'अभिषवे' धातु की क्रिया सुषुमा (ऋ. ८,१७,१) का पद-पाठ 'सुसुम' है। इसके विपरीत मैत्रायणी (२,१३,९) के पद-पाठ में सुसुमः सुसुमेति सु॰ सुमा ऐसा अवगृहीत पाठ है।

मैत्रायणी पद-पाठ में अवग्रह का चिह्न (·) बिन्दु है। कई अंशों में मा. और तै. के पद-पाठों के तुल्य है। जैसे—मै. (१,२,६) पद-पाठ अघयंत इत्यघ॰ यंवः। मा. (४,१४) पद-पाठ अघद्यवऽइत्यघ यवः। तै. (१,२,३,१) पद-पाठ अघायव इत्यघ-यवः है। मा. का 'मामहन्ताम्' का पद-पाठ पीछे दिखा आये हैं। मै. (२,१०,५) में मामहानः। ममहान इति मम॰हानः उससे भी विलक्षण है, जो कि मध्य में अवग्रह से स्पष्ट प्रतीत होता है।

मै. पद-पाठ में भी प्रगृह्यसंज्ञक के साथ 'इति' का योग मिलता है। जैसे—अंयो इत्यंयो (मै. २,७,१२)।

७. तैत्तिरीय-पद-पाठ (तै. १,१,१४,२) और सामवेदीय-पद-पाठ में 'उ' इस निपात के साथ 'इति' का योग नहीं होता, परन्तु शेष सभी उपलब्ध पद-पाठों में शाकल्य-शैली के अनुसार 'इति' के साथ दीर्घ अनुनासिक 'ऊँ' का पाठ है[1]। जैसे—ऊँ इति (ऋ. १,२४,८), ऊँ इत्यूँ (मा. १,२८)। यही शाकल्य की शैली वर्तमान सब पद-पाठों में प्राप्त है। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने 'उञ ऊँ' (पा. १,१,१०) सूत्र के महाभाष्य में 'ऊँ वा शाकल्यस्य' इस वार्तिक के तात्पर्य का विश्लेषण

1. 'उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकल्येन' (ऋप्रा. १,७५)। रक्तः=अनुनासिकः। द्राघितः=कृतमात्रायादितः।

करते हुए 'उञ इति योगविभाग.' इस वार्तिक के आधार पर असंदिग्ध रूप में शाकल्य के मत में 'ऊँ इति', 'उ इति' यह दो प्रकार के पद-पाठ माने हैं[1]। किन्तु शाकल्य के पद-पाठ में कहीं भी 'उ इति' ऐसा पद पाठ नहीं मिलता, सर्वत्र 'ऊँ इति' ऐसा ही पद पाठ मिलता है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में भी विकल्प का कोई संकेत नहीं मिलता। केवल मैत्रायणी-पद-पाठ में 'उ इत्युं' (मै. १,३,३५) ऐसा संकेत है। परन्तु यह पद-पाठ शाकल्य का है या शाकल्यानुसारी है यह संदिग्ध है।

यथार्थ में महर्षि पाणिनि को शाकल्य के मत में 'ऊँ इति' यही पद-पाठ अभिप्रेत है। इसी लिए उन्होंने 'उञ ऊँ' (पा. १,१,१७) यही सूत्र बनाया। यदि पाणिनि को भी शाकल्य के मत में विकल्प अभिप्रेत होता तो 'उञ ऊँ वा' यह सूत्र भी वे बना सकते थे। जैसे— 'मय उञो वो वा' (पा ८,३,३३) सूत्र में उचित समझ कर उन्होंने 'वा' का निर्देश किया है। अष्टाध्यायी-पाठ के संस्करणों में 'उञ' (पा १,१,१७), 'ऊँ' (पा. १,१,१८) ऐसा दो सूत्रों में विभाग महाभाष्य के अनुसार है।

५. पद-पाठ की तीन अवस्थाएँ

१. पद-पाठ की स्थित, उपस्थित, स्थितोपस्थित यह तीन अवस्थाएँ हैं।

(क) केवल सुबन्त या तिङन्त, समस्त या असमस्त पद को स्थित कहते हैं[2]। जैसे—अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम् (ऋ. १,१,१) इत्यादि।

(ख) 'इति' से संयुक्त पद को उपस्थित कहते हैं[3]। जैसे—हरी इति (ऋ. १,२०,२) वायो इति (ऋ १,२३,१) स्वे इति (ऋ. १,५१,१) आदि प्रगृह्य-संज्ञक शब्द इसी श्रेणी में आ जाते हैं।

(ग) प्रगृह्य-संज्ञक समस्त पदों को पद-पाठ में स्थितोपस्थित कहा जाता है। यहां मध्यवर्ती 'इति' शब्द से पूर्ववर्ती संहिता-पाठ और

---

१. "'उञ.' इति योगविभाग: कर्तव्य.। उञ.। उञ शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति। उ इति। विति। तत 'ऊँ'। 'उञ ऊँ' इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकश्च। ऊँ इति।" २. केवलं तु पदं स्थितम् (ऋप्रा. १०,११)। पदं यदा केवलमाह सा स्थिति: (ऋप्रा. ११,२८)। ३. उपस्थितं सेतिकरणम् (ऋप्रा. १०,१२)। पदेतिकरान्तम् उपस्थितं तदा (ऋप्रा. ११,२८)।

उत्तरवर्ती पद-पाठ दोनों का सह-निर्देश होता है[१]। और उत्तरवर्ती पद-पाठ के मध्य में अवग्रह (ऽ) का चिह्न लगता है[२] (देखें पृ. ३४ में सातवां टिप्पण)। जैसे—विभावसो इति विभाऽवसो (ऋ. १,४४,१०)। शंभू इति शम्ऽभू (ऋ. १,४६,१३) इत्यादि।

ऋग्वेद तथा अथर्व-वेद में प्रायः प्रगृह्य-संज्ञक समस्त पदों की स्थितोपस्थित की परिभाषा में गणना होगी। परन्तु यजुर्वेद के पद-पाठ में प्रगृह्य-संज्ञक समस्त या असमस्त सभी स्थितोपस्थित की परिभाषा में आ जाते हैं। जैसे—ऋग्वेद के पद-पाठ में 'विभावसो इति विभाऽवसो तो स्थितोपस्थित कहा जाएगा, किन्तु अमी इति (ऋ. १,२४,१०) वायो इति (ऋ. १,२३,१) इत्यादि असमस्त प्रगृह्य-संज्ञक नहीं, इन्हें उपस्थित ही कहेंगे। किन्तु शुक्ल-यजुर्वेद के पद-पाठ में समीचीऽइतिसम्ऽईची (मा. १२,२) यह समस्त प्रगृह्यभी तथा अमीऽइत्यमी (मा. ६,४०) वायोऽइति वायो (मा. २७,३०) यह असमस्त प्रगृह्य भी स्थितोपस्थित कहलाएँगे। पद-पाठों का विवेचन निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगा, उदाहरण के लिए हम अप्रतिरथ सूक्त का अर्धर्च प्रस्तुत करते हैं। यह अर्धर्च सब वेदों में एक सा है। अथर्व-वेद में थोड़ा पाठ-भेद है—

अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित्।
(ऋ. १०,१०३,५; मा. १७,३७; तै. ४,६,४,२; कौ. २,१२०१)।

अभिवीरो अभिसत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोविदम्।
(शौ. १९,१३,५)

[ऋ. पपा. अभिऽवीरः। अभिऽसत्वा। सहऽजाः। जैत्रम्। इन्द्र। रथम्। आ। तिष्ठ। गोऽवित्।

मा. पपा. अभिवीरऽइत्यभि वीरः। अभिसत्वेत्यभि सत्वा। सहोजाऽइति सहःऽजाः। जैत्रम्। इन्द्र। रथम्। आ। तिष्ठ। गोविदितिगो ऽवित्।

तै. पपा. अभिवीरं इत्यभि-वीर। अभिसत्वेत्यभि-सत्वा। 'सहोजा इति

---

१. तत् स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते (ऋप्रा. १०,१४)। अथो विपर्यस्य समस्य आह ते यदा स्थितोपस्थितमाचरन्त्युत (ऋप्रा. ११,३०)। संहितं स्थितोपस्थितम् (शुप्रा. ४,१८७)। २. समासेंऽस्तु पुनर्वचन इङ्गयेत् (=अवगृह्णीयात्) (ऋप्रा. १०,१६)। पुनर्भुवेऽस्तन' 'समासमिङ्गयेत् (ऋप्रा. २१, ३१)।

सहः-जाः । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । एति[1] । तिष्ठ । गोविदिति[1] गो-वित् ।

३ १ २ ३ २ १ १ २ ३ २ ३ २ ३ २

कौ. पपा. अभिवीरः अभि वीरः अभिसत्वा अभि सत्वा सहोजाः सहः जाः

१ २ र ३ १ २ र ३ २ ३

जैत्रम् इन्द्र रथम् आ तिष्ठ गोवित् गो वित् ।

शौ. पपा. अभिऽवीरः । अभिऽसत्वा । सहःऽजित् । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । आ । तिष्ठ । गोऽविदम् ।]

६. पद-पाठ में 'इति' का योग

वैदिक पद-पाठ में सर्वत्र समस्त अथवा अ-समस्त प्रगृह्य-संज्ञक पदों के साथ 'इति' का संबन्ध देखा जाता है। साम-वेद में संबुद्धि के साथ 'इति' का योग नहीं होता। तैत्तिरीय-संहिता में 'प्र' 'उप' इत्यादि उपसर्गों के साथ भी इति-करण होता है। प्रातिशाख्यों में विस्तार से इति-करण (इति के योग) पर प्रकाश डाला गया है। हम सारभूत पाणिनीय सूत्रों से कुछ नियमों का उल्लेख करते हैं।

१. द्विवचन में ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त प्रगृह्य-संज्ञक पदों के साथ पद-पाठ में इति-करण होता है[1]। जैसे—हरी इति (ऋ. १,२०,२), मुहू इति (ऋ. १,५१,११), आघाते इति (ऋ. १,२५,१), रक्षेथे इति (ऋ. १,३४,८), ते इति (ऋ. १,६१,८), इन्द्राग्नी इति (ऋ. १,२१,१) इत्यादि।

२. 'अदस्' शब्द के प्रथमा बहुवचन में निष्पन्न 'अमी' शब्द के साथ इति-करण होता है[2]। जैसे—अमी इति (ऋ. १,२४,१)।

३. युष्मद् शब्द से परे विभक्ति को 'सुपां सुलुक्॰' (पा ७,१, ३९) सूत्र से 'शे' आदेश होकर निष्पन्न 'युष्मे', 'त्वे' आदि के योग में अथवा अस्मद् शब्द से निष्पन्न 'अस्मे' के योग में इति-करण होता है[3]। जैसे—युष्मे इति (ऋ. ४,१०,८), त्वे इति (ऋ. १,२६,१), अस्मे इति (ऋ. १,१४,७)।

४. ओकारान्त निपात के योग में इति-करण होता है[4]। जैसे—उतो इति (ऋ. १,११,१४), अथो इति (ऋ. १,२८,६), उपो इति (ऋ. १, ११,१), मो इति (ऋ. १,३८,६) आदि। सर्वत्र 'उ' के साथ निपात-समाहार है।

---

१. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (पा. १,१,११)। २. अदसो मात् (पा. १, १,१२)। ३. शे (पा. १,१,१३)। ४. ओत् (पा. १,१,१५)।

५. शाकल्य के मत में अनुनासिकित[1] 'ऊँ' के साथ इति-करण होता है। जैसे—ऊँ इति (ऋ. १,२४,८; २६,५; २७,४) आदि। माध्यन्दिन-पद-पाठ भी शाकल्य मत को मानता है। जैसे—ऊँ इत्यूँ (मा. १,२८)। कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी-संहिता के पद-पाठ में अवश्य कुछ भेद है। वहां अनुनासिक 'ऊँ' नहीं मानते, परन्तु इति-करण यह भी स्वीकार करते हैं। जैसे—उ इत्युं (मै. १,३,३५)। ऊ इत्युं (मै. २,१३,१)।

६. सप्तम्यर्थवाचक ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों के साथ इति-करण होता है[2]। जैसे—गौरी इति (ऋ. ६,१२,३), तनू इति (ऋ. १०, १८३,२)।

७. शाकल्य-शैली में सर्वत्र संबुद्धि-निमित्तक ओकार के साथ 'इति' का प्रयोग होता है[3]। जैसे—वायो इति (ऋ. १,२३,१)। इन्दो इति (ऋ. १,४३,८)। चित्रभानो इति चित्रऽभानो (ऋ. १,२७,६) आदि।

८. पद-पाठ में सर्वत्र प्रातर्, सुनुतर्, पुनर् आदि रेफान्त अव्यय, कर्[4] (८/कृ) आदि रेफान्त क्रिया तथा सवितर्, पितर्, मातर् आदि रेफान्त संबोधन के साथ इति-करण होता है। प्रतिशाख्यों में ऐसे विसर्ग को रिफित कहा गया है, जहां पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार 'स्' को 'र' हुए बिना रेफान्त की श्रुति होती है। यथा—पुनरिति (ऋ. १,२०,४;६) अन्तरिति (ऋ. १,६२,६) स्व१रिति स्वः (ऋ. १,५२,१२) करिति कः (ऋ. १,६३,७) अकुरित्यकः (ऋ. १,३३, १५) सवितुरिति (ऋ. १,३५,११) पितरिति (ऋ. ६,५१,५) नेष्टरिति (ऋ. १,१५,३)। दुहितरिति (ऋ. ६,६५,६)। कई बार 'दुहितः' के साथ (ऋ. १,३०,२२;४८,१) आदि में 'इति' का सम्बन्ध नहीं भी होता।

---

१. उञः (पा १,१,१७), ऊँ पा. १,१,१८)। २. ईदूतौ च सप्तम्यर्थे (पा. १,१,१६)। ३. संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (पा. १,१,१६)। 'अनार्षे' से तात्पर्य यह है कि संबुद्ध्यन्त पदों को उच्चारण-स्पष्टता के लिये पदपाठकारों ने सुविधा के तौर पर 'इति' पद का स्वयं प्रयोग किया है। वेद के मन्त्र का भाग 'आर्ष' 'इति' शब्द यदि होगा, तो वहां यह नियम चरितार्थ नहीं होता। ४. 'करनुदात्तम्' (ऋप्रा. १८४; शुप्रा. १,१६१) अनुदात्तं 'कर्' इति रिफित-संज्ञं भवति। रेफान्तमेव तिष्ठति न विक्रियत इति भावः। यद्यपि इसी प्रकरण में 'स्वर्', 'पुनर्' आदि के भी रिफित-विधायक प्रातिस्विक सूत्र हैं। किन्तु विस्तार के भय से संकेत नहीं किया है।

७. पद-पाठ में अवग्रह-नियम

अवग्रह (विच्छेदक-चिह्न) पद-पाठ का विशेष अङ्ग है। (१) शाकल्य-पदपाठ में प्रत्येक समस्त-पद में अवान्तर दो पदों के पृथक्-करण के लिये, (२) उपसर्ग और क्रिया के संबन्ध को बतलाने या दो समस्त गतियों को समझाने के लिये तथा (३) प्रकृति-प्रत्यय का भेद बतलाने के लिये अवग्रह-चिह्न (ऽ) का उपयोग होता है। सामान्यतया इस चिह्न का व्यवहार ऋग्वेद और अथर्व-वेद के पद-पाठों में उपलब्ध होता है। शुक्ल-यजुर्वेद में 'इति' के साथ होता है। तैत्तिरीय-संहिता में अवग्रह का चिह्न (–) पड़ी रेखा है। मैत्रायणी-संहिता में अवग्रह-चिह्न (·) बिन्दु है। शुक्ल-यजुर्वेद तथा साम-वेद (कौथुम-संहिता) में अवग्रह का चिह्न पृथक्-पृथक् निर्देश है।

अवग्रह-चिह्न ही समास में पूर्व-पद से उत्तर-पद को पृथक् करता है इस लिए पूर्वपदत्व का बोधक होने के कारण प्रातिशाख्य-कारों ने अवग्रह का अर्थ 'पूर्व-पद' माना है[1]।

प्रातिशाख्यों के आधार पर अवग्रह के कतिपय नियम अधोलिखित हैं—

१. दो पदों के समास में अवग्रह होता है[2]। जैसे—कुविऽक्रतुः (ऋ. १,१,५), दोषाऽवस्तः (ऋ. १,१,७), पुरुऽस्तुतः (ऋ. १,११, ४) अमितऽओजाः (ऋ. १,११,४), उपःऽबुर्धः ऋ. १,१४,६) आदि।

२. एक समस्त पद का जब किसी दूसरे पद के साथ समास हो, तो समस्त पद और आगन्तुक पद के मध्य में अवग्रह लगेगा[3]। जैसे—स्वभूतिऽओजाः (ऋ. १,५२,१२), अकामऽकर्शनः (ऋ. १,५३,२), प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापति गृहीतया (मा. १३,५८)।

३. 'इव' के साथ अवग्रह होता है[4]। जैसे—द्विविऽईव (ऋ. १, २२,२०), चमसान्ऽईव (ऋ. १०,२५,४) आदि।

---

१. अवग्रहः पदान्तवत् (शुप्रा. १, १२३)। अवग्रहः पूर्वपदं पदान्तसंबन्धीनि कार्याणि लभते वर्णविधौ, इत्युव्वटः। अवग्रहपदेन सावग्रहस्य पदस्य पूर्वपदम् अभिधीयते (उव्वटभाष्यम् शुप्रा. १,१४८)। २. समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः (शुप्रा. ५,१)। समासे च (शौच. ४,६)। ३. यद्गृहीता-वागन्तुना पर्येणा (शुप्रा. ५,७)। उपजाते परेण (शौच. ४,१०)। ४. इव-काराऽऽम्रेडितावमेषु च (शुप्रा. ५,१८)। इवे च (शौच. ४,४१)।

४. आम्रेडित में सर्वत्र अवग्रह होता है[1]। जैसे—द्यविऽद्यवि (ऋ. १,४,१;२१,१), दिवेऽदिवे (ऋ. १,१,३;७), मासिऽमासि (ऋ. १०, ५२,३), अभिऽअभि (ऋ. ६,११०,५) आदि।

५. यदि गति-समास में उदात्तस्वरविशिष्ट तिङन्त क्रिया के साथ पूर्व-पद में अनुदात्त उपसर्ग हो तो मध्य में अवग्रह होगा[2]। जैसे—अतिऽमन्यें (ऋ. १,१३८,४), अभिऽगच्छति (ऋ. १०,११६,५), अभिऽगृणाति (ऋ. १,५४,७) अवऽक्रुन्दयन्ति (ऋ. ६,२४,७) आदि।

६. यदि अनुदात्त तिङन्त के साथ पूर्व में दो उपसर्ग हों, तो पहले उपसर्ग के बाद में अवग्रह लगेगा। जैसे—अतिऽआयाहि (ऋ. ३, ३५,४), अनुऽआलेभिरे (ऋ. १०,१३०,७) आदि।

७. उदात्तस्वर-युक्त तिङन्त के साथ भी दो उपसर्गों के समास में पहले उपसर्ग के बाद अवग्रह लगता है। जैसे—अभिऽप्रघ्नन्ति (ऋ. ६,४६,१०)।

८. कृदन्त शब्द के साथ पूर्व में अव्यय या उपसर्ग हो तो मध्य में अवग्रह लगेगा। अव्यय—पुरःऽहितम् (ऋ. १,१,१), अरम्ऽकृताः (ऋ. १,२,१) आदि। उपसर्ग—परिऽभूः (ऋ. १,१,४), सुऽउपायनः (ऋ. १,१,६) प्रऽपृञ्चती (ऋ. १,२,३) आदि।

९. उपपद-समास के मध्य में भी अवग्रह होता है। जैसे—अहःऽविदः (ऋ. १,२,२), धर्मणिऽधृतः (ऋ. १ ३,७), गोऽदुहे (ऋ. १,४,१), गोऽदाः (ऋ. १,४,२), विप्रःऽचितम् (ऋ. १,४,४), नृऽमादनम् (ऋ. १,४,७), सुतऽपाव्ने (ऋ. १,५,५) आदि।

१०. नामधातु में क्यच् क्यङ् काम्यच् प्रत्यय से पूर्व अवग्रह होता है यदि स्वर पूर्व में हैं[3]। जैसे—अघऽयति (ऋ. १,१२१,७ संपा. अघायति), अघऽयुः (ऋ. १,१४७,४ संपा. अघायुः), वृषऽयते (ऋ. १,५५,२ संपा. वृषायते), वृषऽयमाणः (ऋ. १,३२,३ संपा. वृषायमाणः), पुत्रऽकाम्या (शौ. ६,८१,३)।

११. दो उपसर्ग या दो शब्द तथा उपसर्ग के सद्भाव में

१. इवकाराऽऽम्रेडिताऽन्येषु च (शुप्रा. ५,१८)। २. अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते (शुप्रा. ५,१६)। उपसर्ग आख्यातेनोदात्तेन समस्यते (शौच. ४,१)।
३. धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे (शुप्रा. ५,१०), यादाविच्छायां स्वरात् (शौच. ४,२१)।

धात्ववयव से पूर्व अवग्रह होगा। जैसे—पुरुनिःऽसिधे (ऋ. १,१०,५), सुनिःऽभजंम् (ऋ. १,१०,७) आदि।

१२. असर्वनामस्थान हलादि विभक्ति (भिस्, भ्याम्, भ्यस्, सुप्) से पूर्व अवग्रह होता है[1]। जैसे—अग्निऽभिः (ऋ. १,२६,१०), राजऽभिः (ऋ. १,२०,५), मर्मिऽभिः (ऋ. १,२२,१३), धीतिऽभिः (ऋ. १, २२,१४) इन्दुऽभिः (ऋ. १,२३,१५), सुशस्तिऽभिः (ऋ. १,२०,७), अङ्गिरःऽभिः (ऋ. १,६२,५), स्तोतृऽभ्यः (ऋ. १,३३,२), पथिकृत्ऽभ्यः (ऋ. १०,१४,१५), मरुत्ऽभ्यः (ऋ. १,६४,१), अश्विऽभ्याम् (ऋ. १,४४,२), पृत्ऽसु (ऋ. ५,५४,११), मरुत्ऽसु (ऋ. १,१४२,६)।

१३. तद्धित के तरप्, तमप्, त्व, मतुप्, वति, त्रा, वातिल्, शस्, दानीम्, था, थाल्, धा, मात्रच्, मयट्, क, कृत्वसुच्, धेय प्रत्ययों के पूर्व अवग्रह लगता है[2]। जैसे—तरप्—शंऽतरः (ऋ. ६, ६६,१७), रुथिऽतरः (ऋ. १,८४,६ संपा. रुथीतरः), पूर्णंतरम्ऽइति पूर्णं तरम् (मा. १८,१०)। तमप्—रुथिऽतमम् (ऋ. १,११,१ संपा. रुथीतमम्), पितृऽतमः (ऋ. ४,१७,१७), वर्द्धितमम्इतिवर्द्धि तमम् (मा. १,८) त्व—देवऽत्वम् (ऋ. १,६८,२), महिऽत्वम् (ऋ. १,८,५), असुरऽत्वम् (ऋ. ३,५५,१)। मतुप्—वाजऽवन्तम् (ऋ. ३,५२,१). हरिऽवः (ऋ. १, ३३,५), पशुऽमान् (ऋ. ३,५४,१८), प्रजाऽवता (ऋ. १,७६,४)। वति—मनुऽवत् (ऋ. २,१०,६), कृपिऽवत् (ऋ. १०,६६,१४)। त्रा—देवऽत्रा (ऋ. १,५०,१०), बहुऽत्रा (ऋ. १०,१६४,२)। वातिल्—धन्वऽतौ इति धन्वऽतौ (ऋ. १,११२,२०), देवऽतातिम् (ऋ. १, १४१,१०) सर्वऽतातये (ऋ. १,१०६,२)। शस्—ऋतुऽशः (ऋ. १,१६२,४), देवऽशः (ऋ. ३,२१,५), सहस्रऽशः (ऋ. ८,२४,१५)। दानीम्—विश्वऽदानीम् (ऋ. १,१६४,४०)। था—ऋतुऽथा (ऋ. १,१६२,१९)। थाल्—

---

1. ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये (शुप्रा. ५,१३), भिस्यपि सु (शौच. ४,२१) सौ च (शौच. ४,२२)। 2. तरतमयोश्चातिशयेऽवग्रहाभ्यासेऽपि (शुप्रा. ५,२)। तद्वति तद्धिते न्यायसंहितं चेत् (शुप्रा. ५,८)। शस्त्वंमात्रातिषु च (शुप्रा. ५,६)। तद्धिते धा (शौच. ४,१३)। आकारान्ते (शौच. ४,१४) धाऽनेकाक्षरेण (शौच. ४,१५)। तरतमयोः (शौच. ४,१६)। मतौ (शौच. ४,१७)। वकारादौ च (शौच. ४,१८)। शसि बह्वल्पार्थस्य (शौच. ४,१९)। तातिलि (शौच. ४,२०)। त्वे चाप्येऽवस्थायाम् (शौच. ४,२१)।

नृुर्वेऽर्था (ऋ १,८०,१६), द्रुमऽर्था (ऋ. ५,४४,११)। धा—चतुर्ऽधा (ऋ.४, ३५,२), अष्टऽधा (शौ. १३,३,११), नवऽधा (शौ. १३,४,१०)।

शुक्ल-यजुर्वेद मे यह अवग्रह नहीं होता[१]—पञ्चधा (मा ३४,११), सप्तधा (मा. १७,७१)।

मात्रच्[२]—अतिऽमात्रम् (शौ. ५,११,१)। मयट्[३]—अश्मन्ऽमयीनाम् (ऋ ४,३०,२०)। क[४]—एजत्ऽका (शौ. ५,२३,७), मनस्ऽकम् (शौ. ६,१८, ३)। व्यञ्जन वर्ण से परे ही क प्रत्यय हो तो अवग्रह होता है। अन्यथा नहीं। जैसे पतयिष्णुकम् (शौ. ६,१८,३) मे अवग्रह नहीं है, कृत्वस्[५]—अष्टऽकृत्वः (शौ. ११ २,६), धेय—रूपऽधेयानि (शौ. २,२६,१), भागऽधेयम् (ऋ ३,२८,४), नामऽधेयम् (शौ. ७,१०१,६)।

१४ वीतम, हूतम, सूतम, गोपातम, धातम इत्यादि पदों मे तमप् प्रत्यय से पूर्व अवग्रह नहीं लगता, किन्तु दो पदों के समास के मध्य मे लगता है[६]। जैसे—देवऽवीतम (ऋ. १,२६,६), देवऽहूतमः (ऋ ३,१२,६), सुसूत्तमुमितिसु सूतमम् (मा. ६,२८), सुऽगोपातम (ऋ १, ८६,१) रत्नऽधातमम् (ऋ १,१,१), वसुधातमुऽश्चविवसु धातमः (मा. २७,१४)।

१५ कृदन्त शब्दों मे धातु और प्रत्यय के मध्य मे प्राय. अवग्रह नहीं होता। किन्तु क्वसु-प्रत्ययान्त शब्दों मे ह्रस्व से परे अवग्रह मिलता है[७]। जैसे—पप्तिऽवांसः (ऋ १,४८,६), सस्वऽवांस (ऋ ८,१,१५), पपिऽवान् (ऋ. २,११,१७) आदि। अन्यत्र भी अवग्रह होता है।

१६ आदि-वृद्धि वाले समस्त तद्धितान्त प्रत्ययों के मध्य मे दो पद दिखाने के लिये अवग्रह लगता है। जैसे—गार्हऽपत्येन (ऋ. १,१५, १२), पौरुऽकुत्स्यस्य (ऋ ५,३३,८), आग्निऽवेशिम् (ऋ. ५,३४,९), भारत्ऽद्वाज (ऋ. ६ ५१,१२) आश्वऽमेधस्य (ऋ. ८,६८,१५)।

आग्नीध्रात् (ऋ २,३६,४) मे अवग्रह नहीं होता।

८. अवग्रह के अपवाद

१. दीर्घ या एकार से परे अथवा किसी प्रकार के विकार होने

---

१. कृत्यापूर्वश्च धा (शुप्रा. ५,२०)। २. मात्रे च (शौच ४.२२)। ३. मयेऽसकारात् (शौच. ४,२४)। ४. के व्यञ्जनात् (शौच ४,२५)। ५. कृत्वे समासो वा नानापददर्शनात् (शौच ४,२७)। ६. वीतम-हूतम सूतम गोपातम-रत्नधातम-वसुधातमा पूर्वेण (शुप्रा ५,३)। ७ वांसौ च भूतकाले स्वरेण ह्रस्वादनुपि (शुप्रा. ५,११)। वसौ ह्रस्वात् (शौच. ४,३५)।

पर विभक्ति से पूर्व अवग्रह नहीं होता[1]। जैसे—अक्षीभ्याम् (ऋ. १०, १६३,१) ओषधीभिः (ऋ. ३,५,८), देवेभिः (ऋ. १,१,५), शमीभिः (ऋ. १, २०,२), विप्रेभिः (ऋ. १,२०,१), पूर्वेभिः (ऋ. १,१,२), द्युम्नेभिः (ऋ. १,९१,२), देवेभ्यः (ऋ. १,१३,११), अस्मभ्यम् (ऋ १,७,६) आदि।

२. नञ् (अ) के साथ समास में अवग्रह नहीं होता[2]। जैसे—अनन्तः (ऋ. १,११३,३), अनपत्यानि (ऋ. ३,५४,१८), अव्रतम् (ऋ. १, १०१,२), अमन्यमानान् (ऋ. १,३३,६), अनवद्या (ऋ. १,७३,३), अनाविद्यया (ऋ. ६,७५,१) आदि।

नञ् के साथ आगन्तुक समस्त-पद में, आगन्तुक समस्त दो पदों में अवग्रह होगा। जैसे—अपरिऽह्वृताः (ऋ. १,१००,१६)।

३. मतुप्, वति, विनि, मयट् प्रत्ययों के परे रहते तकारान्त सकारान्त शब्दों के मध्य में अवग्रह नहीं होता[3]। जैसे—गरुत्मान् (ऋ. १,१६४, ४६), मरुत्वता (ऋ. १,२०,५), मरुत्वान् (ऋ. १,८०,११), मनस्वान् (ऋ. २,१२,१), रभस्वतः (ऋ. १,३,६), सरस्वती (ऋ. १,३,१०-१२), सहस्वते (ऋ.१,१२७,१०), मनुष्वत् (ऋ. १,३१,१०), अङ्गिरस्वत् (ऋ. १,३१,१७), हविष्मते (ऋ. १,१२,१), नमस्विनः (ऋ. १,३६,२०), अयस्मयः (ऋ. ४,२०,१५), मनस्मयम् (ऋ. १०,८५,१२) आदि।

४. यद्, तद्, एतद् शब्दों से वतुप् प्रत्यय परे हो तो अवग्रह नहीं होता[4]। जैसे—यावत् (ऋ. १,३३,१२), तावान् (ऋ. १,१०८,२), एतावन्तम् (ऋ. ७,१००,१) आदि।

५. शाकल्य-शैली में देवता-द्वन्द्व में अवग्रह नहीं होता[5]। जैसे—इन्द्रवायू (ऋ. १,२,४), अग्नीपर्जन्यौ (ऋ. ६,५२,१६), अग्नीषोमा (ऋ. १,९३,८), इन्द्राग्नी (ऋ. ६,६४,८), इन्द्राबृहस्पती (ऋ. ४,४९,५), इन्द्रापर्वता (ऋ. ३,५३,१) आदि।

६. पूर्व-पद में जहां संहिता-दीर्घ हो रहा हो, वहां अवग्रह नहीं होता[6]। जैसे—उभयादतः (ऋ. १०,९०,१०)। परन्तु शुप्रा. (५,२१)

१. न दीर्घात् (शौच. ४,३६)। २. प्रतिषेधे नाऽवग्रहः (शुप्रा. ५,२४)। व्यवायिस्तेनैवाचरेष प्रतिषिद्धनाऽप्रधानादिवर्जम् (शौच. ४,५६)। ३. न तकारसकारान्तो मत्वर्थे (शौच. ४,४०)। ४. यत्तदेतेभ्यो वतौ (शौच. ४,४८)। ५. देवताद्वन्द्वे च (शौच. ४,४१)। द्वन्द्वानि द्विवचनान्तानि स्वामन्त्र्यपूर्वपदानि (शुप्रा. ५,२८)। ६. यस्य चोत्तरपदे दीर्घो व्यञ्जनादौ (शौच. ४,५०)। उत्तरपदे परतः इति शेषः।

के अनुसार शुक्ल-यजुर्वेद में अवग्रह होता है[1]। जैसे—उभयदत्तऽइत्युभयदतः (मा. ३१,८), विश्वानरः (ऋ. १,१८६,१), विश्वामित्रः (ऋ. ३,५३,६), नराशंसम् (ऋ. १,१३,३), इष्टापूर्तेन (ऋ. १०,१४,८), पितापुत्रौ (शौ. ६,११२,२)।

परन्तु तैत्तिरीय-संहिता (२,६,५,१) में इध्माबर्हिरितीध्मा-बर्हिः ऐसा अवग्रह मिलता है।

७. आदि-वृद्धि वाले ऐसे तद्धितान्त शब्दों के मध्य में अवग्रह नहीं होता, जहां पूर्व-पद में एक ही अक्षर हो और उसी की वृद्धि हो रही हो[2]। जैसे—ऐर्दुमम् (ऋ. १,१६४,२३), सौधन्वनाः (ऋ. १,११०,४), सौश्रवसम् (ऋ. ७,२८,४), सौभाग्यम् (ऋ. १०,८५,३३), सौभगम् (ऋ. १, ३६,१७) आदि।

८. मध्य में जिन शब्दों के सुट् आगम हो रहा हो, वहां प्रायः अवग्रह नहीं होता[3]। जैसे—वनस्पतिः (ऋ. १,९०,८), बृहस्पतिः, (ऋ. १,६२,३)। हरिश्चन्द्रः (ऋ. ९,६६,२३) का पद-पाठ हरिऽचन्द्रः है। जहां अवग्रह हो रहा है।

---

१. मृगयुसुभयादतोऽपामार्गकिंपूरुषमिति च (शुप्रा. ५,२१) सर्वत्राऽवग्रह इति शेषः। २. तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिङ्गते (शुप्रा. ५,२६)। वृद्धेनैकाक्षरेण स्वरान्तेन (शौच. ४,५५)। ३. सर्वस्मिन्नेवाऽऽगमसकारादौ तुविष्टमवर्जम् (शौच. ४,५६)।

चतुर्थ-अध्याय

गति-प्रकरण

[१. उपसर्ग-संज्ञा, २. गति संज्ञा, ३. कर्मप्रवचनीय-संज्ञा, ४. निपातसंज्ञक उपसर्ग, ५. पद-पाठ में गति-निर्देश ।]

वाग्व्यवहार में शब्द के चार वर्ग माने गए हैं। नाम (सुबन्त), आख्यात (तिङन्त) उपसर्ग और निपात[1]। पदपाठ-प्रकरण में सुबन्त (अ-समस्त या समस्त) शब्दों के पद-पाठ के निर्देश पर प्रकाश डाला गया है, इस प्रकरण में उपसर्ग के स्वरूप तथा उसके पद-पाठ में निर्देश के विषय में प्रकाश डाला जायेगा।

प्र, परा, अप, सम, अनु, अव, निस्, दुस्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप यह बीस उपसर्ग प्रातिशाख्य तथा पाणिनीय-सम्प्रदाय में सब-सम्मत हैं। आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त-कौमुदी में प्रयोग-वैचित्र्य दिखाने के लिए निस्, निर् और दुस्, दुर् दो-दो उपसर्ग माने हैं।

इन बीस उपसर्गों में से नौ उपसर्ग—प्र, सम्, निस्, दुस्, वि, आङ् नि, उद्, सु, एकाक्षर होने के कारण उदात्त हैं। दस उपसर्ग—परा, अप, अनु, अव, अधि, अपि, प्रति, परि, उप, अति, द्व्यक्षर होने के कारण आद्युदात्त हैं, और केवल अभि उपसर्ग द्व्यक्षर अन्तोदात्त है[2]। फिट्-सूत्रों में भी 'अभि' के अतिरिक्त सब उपसर्गों को आद्युदात्त कहा गया है[3]। द्व्यक्षर उपसर्गों में जो अक्षर उदात्त है, उसको छोड़ कर शेष अक्षर अनुदात्त होगा[4]।

इन उपसर्गों को द्योतक तथा वाचक भी माना गया है[5]। प्रत्येक उपसर्ग का अपना क्या विलक्षण अर्थ है, और उसके सन्निधान में

---

१. यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते उपसर्गनिपाताश्च, तानीमानि भवन्ति (यास्क १,१)। नामाख्यातोपसर्गनिपाताः (शुक्ल ८,४६)। २ [illegible] पसर्गाणाम् [illegible] एकस्वरा मताः। आद्युदात्ता दशैतेषाम्, अन्ते [illegible] (प्रा. १२,२२-२४)। ३. निपाता आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्सूत्र ४, १२-१३)। ४. अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (पा. ६, १, १५८)। ५. धात्वर्थं बाधते कश्चित्, कश्चित् तमनुवर्तते। तमेव विशिनष्ट्येक उपसर्गगतिस्त्रिधा ([illegible] १,७,२)।

क्रिया के अर्थ में क्या विशेषता आती है, इसका प्राञ्जल वर्णन महर्षि यास्क ने निरुक्त (१,४) में तथा उसी का खुलासा ऋग्वेद के महान् भाष्यकार आचार्य वेङ्कटमाधव ने अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका (४,३३) में विशद रूप से किया है[1]।

पाणिनीय-संप्रदाय में कार्य-भेद से उपसर्गों के कई वर्ग माने गए हैं। जैसे—१. षत्व और णत्व की कर्तव्यता में उपसर्ग, स्वर-कर्तव्यता में गति, संनिहित शब्द के अर्थमात्र प्रदर्शन अथवा अपने विशेष अर्थ के निरूपण में कर्मप्रवचनीय, वाक्यार्थ में विलक्षणता उत्पन्न करने में निपात। अन्यत्र प्रातिशाख्य आदि में ऐसा विवेचन नहीं है।

---

1. आ इत्यर्वागर्थे, प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्, अभीत्याभिमुख्यम्, प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति सु इत्यभिपूजितार्थे, निर्दुर् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्, न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ, उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम्, समित्येकीभावम्, व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अन्विति सादृश्यापरभावम्, अपीति संसर्गम्, उपेत्युपजनम्, परीति सर्वतोभावम्, अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा, एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुस्त उपेक्षितव्याः (निरुक्त १,४)।

आङ् आभिमुख्यं वदति प्रपरौ तद्विपर्ययम्।
सम् एकीभाववचनः पृथग्भावे व्यपौ स्मृतौ॥
अनुः सादृश्यवचनः पश्चाद्भावे च वर्तते।
उद् वर्तत उद्गमने न्यवौ नीचीनवृत्तिनौ॥
सु पूजावचनं प्राहुर्विपरीतौ च निर्दुरौ।
अधेरुपरिभावार्थम् आभिमुख्यम् अभेर्विदुः॥
अतेरर्थोऽतिक्रमणं प्रातिलोम्ये प्रतिः स्मृतः।
अपिः संसर्गवचन उपश्चोपजने स्मृतः॥
वर्जने सर्वतोभावे परिं प्राहुर्विपश्चितः।
एषामेते प्राधिकार्था इत्थं यास्केन दर्शिताः॥
पाणिनिश्चाह भगवानर्थानेषां बहूंस्तथा॥

वेङ्कटभाष्यभूमिका (ऋ. ४,३३)

१. उपसर्ग-संज्ञा

क्रिया के योग में इनकी उपसर्ग-संज्ञा है[1]। उपसर्ग-संज्ञा के कारण ही नि षींदत (ऋ. १,२२,८) निषद्य (ऋ. १०,१४,५) इस नि उपसर्ग से युक्त √षद्लृ धातु के क्रिया-प्रयोग में षत्व श्रूयमाण है[2]। स् को ष् हो रहा है, इसी बात की पुष्टि के लिए संहिता-पाठ के इस षत्वयुक्त शब्द का पद-पाठ नि। सींदत, निऽसद्य होगा। ऐसे ही पर्याणद्धम् (शौ. १४, २,१२) परि और आङ् उपसर्ग से युक्त √णह् 'बन्धने' धातु का क्त-प्रत्ययान्त क्रिया-शब्द है, जहां उपसर्ग-संज्ञा के कारण ही णत्व निष्पन्न हुआ है[3]। इसका पद-पाठ परिऽआनद्धम् है, जो उपसर्ग के कारण ही णत्वापत्ति में प्रमापक है। ऐसे ही प्रयाणम् (ऋ. ४,४१,७ पपा. प्रऽयानम्) है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि षत्व तथा णत्व के संपादन के लिए क्रिया-योग में उपसर्ग-संज्ञा का विशेष महत्त्व है।

२. गति-संज्ञा

क्रिया-योग में ही प्र, परा आदि की गति-संज्ञा भी होती है[4]। इस गति-संज्ञा का स्वर-शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है। अष्टाध्यायी के स्वर-विधायक सूत्रों में गति-संज्ञा से उपसर्गों की ही ख्याति है। 'गतिरनन्तरः' (पा. ६,२,४९), 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा. ६,२,१३९) 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) इत्यादि सूत्र इसमें निदर्शन हैं। प्रातिशाख्यों में गति-संज्ञा पृथक् नहीं मानी गई। उपसर्ग-संज्ञा से निर्वाह किया गया है। इसी लिए अष्टाध्यायी के 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) का प्रातिशाख्य के 'उपसर्ग उपसर्गे' (शुप्रा. ६,२) सूत्र में स्पष्ट अर्थ-सादृश्य प्रतीत होता है। गति का विशद विवेचन इसी प्रकरण के 'पदपाठ में गति-निर्देश' में आगे करेंगे।

३. कर्मप्रवचनीय-संज्ञा

उपसर्ग-संज्ञा और गति-संज्ञा के अतिरिक्त कतिपय (सब नहीं) प्रादियों की योग्यतानुसार कर्मप्रवचनीय-संज्ञा भी होती है। वार्तिक-नियम से[5] कर्मप्रवचनीय-संज्ञा, गति-संज्ञा तथा उपसर्ग-संज्ञा की

---

१. उपसर्गाः क्रियायोगे। (पा. १,४,५९)। २. 'सदिरप्रतेः' (पा. ८,३,६६)। ३. उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (पा. ८,४,१४)। ४. 'गतिश्च' (पा. १,४,६०)। ५. गत्युपसर्गसंज्ञे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा (पावा. १,४,१)।

बाधक है। अर्थात् जिनकी कर्मप्रवचनीय-संज्ञा है ऐसे प्रादियों की गति-संज्ञा और उपसर्ग-संज्ञा नहीं होती।

कर्मप्रवचनीयों में भी कई वर्ग हैं। प्रथम वह जो संनिहित पञ्चम्यन्त या सप्तम्यन्त शब्दों के अर्थानुवादी मात्र हैं। इनमें स्वार्थ-प्रतिपादन की क्षमता ही नहीं होती, या संनिहित शब्दों के अर्थानुवाद मात्र में इनकी इतिकर्तव्यता समाप्त होती है। अष्टाध्यायी में 'अधिपरी अनर्थकौ' (पा. १,४,९३) सूत्र में 'अनर्थकौ' शब्द से यही तात्पर्य अभिप्रेत है। अर्थात् 'अधि' और 'परि' संनिहित सप्तम्यन्त तथा पञ्चम्यन्त के अर्थानुवादी मात्र हैं। इनका अपना ऐश्वर्य या लक्षण तथा वर्जन अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं। इन अधि, परि के योग में षत्व णत्व (उपसर्ग-संज्ञा के कार्य) तथा स्वर-विधि (गति-संज्ञा का कार्य) न हो, इसलिए दोनों उक्त संज्ञाओं की निवृत्ति के लिए इनकी कर्म-प्रवचनीय-संज्ञा की जाती है।

वेद के भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्य में इनका स्पष्ट उल्लेख किया है। आचार्य वेङ्कटमाधव ने 'परिः पञ्चम्यर्थं स्फुटीकरोति' (ऋ. १.६१,६; ४.३१,२) इन अक्षरों में तथा सायणाचार्य ने 'अधिः सप्तम्यर्था-नुवादी' (ऋ. १,८०,६) इन शब्दों में इसी तत्त्व को पुष्ट किया है[1]। अष्टाध्यायी के उक्त सूत्र से 'अधि, परि' ही केवल पाणिनीय-न्याय से अनर्थक प्रतीत होते हैं। परन्तु वेद-भाष्यकारों ने 'अभि', 'आ' आदि को भी इस कोटि में गिना है। जैसे—'अभिशब्दो धात्वर्थानुवादी, लम्बते प्रलम्बते इति यथा' (स्कन्दभाष्य ऋ. १,७१,१०) 'आकारः सप्तम्यर्थं स्फुटी-करोति' (वेंकटभाष्य ऋ. १,६,३)।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने इसी रहस्य को शंख में रखे हुए दूध की उपमा से समझाया है। जैसे शंख में रखे हुए दूध के रंग में यह विवेक होना कठिन है कि श्वेत रंग आधारभूत शंख का है या दूध का। शंख के श्वेत रंग में दूध का अपना श्वेत रंग तन्मय हो जाता है, ऐसे ही संनिहित सप्तम्यन्त या पञ्चम्यन्त शब्द के कारण यह विवेक नहीं हो पाता कि धातुबोधित क्रिया का अर्थ 'अधि' या

१. वेङ्कटभाष्यम् (ऋ. १, ६, ६)—अधिपरी सप्तमीपञ्चम्योरर्थं स्फुटीकुरुतः। स्कन्दभाष्यम् (पदान्तरे)—अधिशब्दस्तु धात्वर्थानुवादी च पदपूरणो वा मार्थान्तरवचनः।

'परि' से उक्त है या सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त शब्द से। इस लिए अधि, परि दोनों अनर्थान्तरवाची (विशेष अर्थ के वाचक न होने से) होने के कारण अनर्थक हैं[1]।

यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति (शौ. १३,३,२) इस मन्त्र में पञ्चम्यन्त 'यस्मात्' शब्द की अवधि से विक्षरण क्रिया के अर्थ का 'अधि' अनुवादकमात्र है। इसी लिए 'अधिपरी अनर्थकौ' (पा १,४,९३) सूत्र से 'अधि' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा हुई है और पद-पाठ में 'अधि' का स्वतन्त्र आद्युदात्त स्वर निर्दिष्ट है। अन्यथा 'गतिर्गतौ' (पा ८,१,७०) के सूत्र नियम से परवर्ती 'विक्षरन्ति' क्रिया के गतिसंज्ञक 'वि' से पूर्ववर्ती होने के कारण 'अधि' को सर्वानुदात्त होता, और पद-पाठ में भी स्वतन्त्र नहीं, प्रत्युत 'अधिऽविक्षरन्ति' ऐसा समुदित निर्देश होता। क्योंकि 'यस्मात्' इस यद्-वृत्त शब्द के योग में[2] 'तिङ्ङतिङः' (पा ८,१,२८) सूत्र से 'अधि वि' उपसर्ग (अतिङ) से परवर्ती तिङन्त क्रिया 'क्षरन्ति' को सर्वानुदात्त नहीं होता। प्रत्युत क्रिया का अपना आद्युदात्त-स्वर श्रूयमाण रहता है। और 'तिङि चोदात्तवति' (पा ८,१,७१) सूत्र के नियम से उदात्तस्वर-युक्त तिङन्त क्रिया से पूर्ववर्ती गति को सर्वानुदात्त ही होना चाहिए। जब 'अधि' उपसर्ग अनर्थक है तो कर्मप्रवचनीय-संज्ञा से गति-संज्ञा का बाध हो जाने के कारण 'अधि' शब्द गति नहीं है। इसी लिए 'गतिर्गतौ' तथा 'तिङि चोदात्तवति' दोनों ही नियमों का अवकाश न होने से 'अधि' का पद-पाठ में स्वतन्त्र प्रयोग होता है।

दूसरा वर्ग उन कर्मप्रवचनीयों का है, जिनकी वाक्यार्थ-समर्पण में अपने अर्थ की विलक्षणता है[3]। पूजा (सौष्ठव) अर्थ में 'सु' कर्म-

१ अनर्थान्तरवाचिनावनर्थकौ, धातुनोक्तां क्रियामाहतु:, तद्विशिष्टं भवति, यथा शङ्खे पयः (महाभाष्य १,४,९३)।

अप्रयोगेऽधिपर्योश्च यावद् दृष्टं क्रियान्तरम्।
तस्याभिधायको धातुः सह ताभ्यामनर्थकः॥
(वाक्यपदीय २,१९१)

२ 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा ८, १, ६६)। ३ क्रियागतविशेषद्योतकेऽपि इयं संज्ञा वचनात् प्रवर्तते 'सुः पूजायाम्' इति यथा (उद्योत व्याख्या [महाभाष्य] तत्त्व-बोधिनी पा १,४,८३)।

कर्मप्रवचनीयत्वं क्रियायोगे विधीयते।
पत्वादि विनिवृत्त्यर्थं स्वत्यादीनां विधर्मणाम्॥
(वाक्यपदीयम् २,२०४)

प्रवचनीय है। जैसे—सु स्तुतं भवता, सु सिक्तं भवता (आप ने बड़ी अच्छी स्तुति की, आप ने बहुत अच्छी प्रकार से वृक्षों को सींचा)। यहां 'सु' शब्द स्तुति-गत और सिञ्चन-गत सौष्ठव का द्योतक है, इस लिए 'सुः पूजायाम्' (पा. १,४,६४) सूत्र से 'सु' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा हो जाने से गति-संज्ञा और उपसर्ग-संज्ञा दोनों की निवृत्ति हो गई। स्वर भी दोनों शब्दों का पृथक् पृथक् होगा। अन्यथा 'सुष्टुतम्', 'सुषिक्तम्' प्रयोग होते, और उपसर्ग-संज्ञा के कारण षत्व तथा गति-संज्ञा के कारण 'गतिरनन्तरः' (पा. ६,२,४९) से गति 'सु' का उदात्त-स्वर होकर शेष अक्षरों को सर्वानुदात्त होता। (विशेष स्वर-विमर्श सप्तम अध्याय के 'सु-स्वर' प्रकरण में देखें)। इसी लिए वाक्य में जहां 'सु' शब्द से निन्दा गम्यमान होगी, वहां षत्व हो जाएगा और गति-संज्ञा के कार्य भी होंगे। जैसे—'सुषिक्तं किं तवाऽत्र' (तुमने अच्छी सिंचाई की है, पर इससे तुम्हें क्या लाभ ?) इस वाक्य में 'सु' शब्द से निन्दा गम्य है। बालमनोरमाकार ने इस निन्दावाक्य का यही तात्पर्य निकाला है[1]। यह विवेचन पाणिनीय-संप्रदाय के प्रसिद्ध वैयाकरणों के मन्तव्य का निष्कर्ष है।

वस्तुतः 'सु' शब्द कहां कर्मप्रवचनीय है, और कहां गति-संज्ञक या प्रादि है, इसका विश्लेषण अतिसूक्ष्म एवं अशक्य है। लौकिक वाग्व्यवहार में अमुक वाक्य में 'सु' पूजार्थक है इस लिए कर्मप्रवचनीय है। और अमुक वाक्य में 'सु' से निन्दा गम्यमान है, इस लिए पूजार्थक नहीं, और इसी लिए 'सु' की उपसर्ग-संज्ञा है, और 'सुषिक्तम्' में 'सि' को मूर्धन्य षकार हो गया है, यह विवेचन भले ही सार्थक हो, किन्तु वेद में इसका निर्धारण अत्यन्त कठिन है। यदि षत्वापत्ति को ही कर्मप्रवचनीय-संज्ञा है या उपसर्ग-संज्ञा इसमें नियामक मान लें तो 'इन्द्रा॑य॒ सोमं॑ सु॒षु॑तं॒ भर॑न्तः' (ऋ. २,३६,७) आदि स्पष्टार्थ वैदिक-वाक्यों में 'सुषुतम्' का क्या अर्थ करेंगे। प्रकरणानुगत अर्थ 'सुष्ठु अभिषुतम्' (देखें वेङ्कट तथा सायण का भाष्य) है। जहां प्रत्यक्ष अभि-षवण का सौष्ठव (=पूजा) प्रतीत है, और षत्व भी हो रहा है।

---

१. त्वया सम्यक् सिक्तं, किन्तु यत्रास्मिन् सुसेके कृते सति सेक्तुस्तव किं, न किञ्चिदपीत्यर्थः। निन्दाऽत्र गम्यत इत्यर्थः। सेकक्रियाकर्तुः पूज्यत्वे गम्य एव कर्मप्रवचनीयत्वम्। (बालमनोरमा)

पूजा गम्यमान होने से 'सु' कर्मप्रवचनीय होना चाहिए, और षत्व (उपसर्ग-संज्ञा का कार्य) नहीं होना चाहिए, परन्तु पूजा गम्यमान होते हुए भी 'सु' कर्मप्रवचनीय नहीं है, और षत्व हो रहा है। गति-समास में 'गतिरनन्तरः' (पा. ६,२,४९) सूत्र से कर्म-क्तान्त 'सुतम' शब्द परे रहते पूर्व गति 'सु' का पूर्वपद-प्रकृति-स्वर भी हो रहा है। ऐसे ही षत्व से रहित 'सुसमिद्धः' (ऋ. १,१३,१) शब्द का पाठ-भेद साम-वेद (कौ. २,६९७) में षत्व से युक्त 'सुषमिद्धः' मिलता है। 'सुसमिद्धम्' (मा. २८,२४) में षत्व नहीं; उसी का तैत्तिरीय-ब्राह्मण (२,६,१७,१) में षत्व-युक्त 'सुषमिद्धम्' पाठ-भेद उपलब्ध है। एक ही मन्त्र के शाखा-भेद से प्रदर्शित शब्द में कहीं षत्व है, कहीं नहीं, इस लिए केवल षत्व को नियामक नहीं माना जा सकता। पूजा गम्यमान होते हुए भी यहां कहीं भी 'सु' कर्मप्रवचनीय नहीं है, अपितु 'पूर्वपदात्' (पा. ८, ३, १०६) के नियम से पूर्वपद-स्थ निमित्त मान कर ही उक्त वैदिक पाठ-भेदों में विकल्प से षत्व है।

ऐसे ही 'अति' शब्द अति-क्रमण और सौष्ठव दोनों अर्थों में 'अतिरतिक्रमणे च' (पा. १,४,९५) सूत्र से कर्मप्रवचनीय है। अति स्तुतम्, अति सिक्तम् यहां भी अर्थ पूजार्थक 'सु' का ही है। (आपने बड़ी अच्छी स्तुति की, और अच्छा वृक्षों को सींचा), तथा अति-क्रमण का भी अर्थ है (आपने स्तुति और सिञ्चन में परा-काष्ठा कर दी)। तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार कुछ आचार्यों के मत में 'अति-क्रमण' से 'बहु-तर' अर्थ अभिप्रेत है[1]। 'आपने बहुत अधिक और अच्छी स्तुति की और सिञ्चन किया'।

महाभाष्य के अनुसार जो उपसर्ग वाक्य में साक्षात् श्रूयमाण क्रिया-गत विशेष अर्थ के द्योतक न होकर अप्रयुज्य मान(अर्थलभ्य)धातु-बोधित क्रिया-गत विशेष अर्थ के द्योतक हैं, वह कर्मप्रवचनीय हैं[2]। इस तात्पर्य को लेकर आचार्य सायण ने यत्र तत्र 'अभि' का 'अभिलक्ष्य' अर्थ किया है आचार्य वेङ्कटमाधव ने भी 'आ निषीदत'(ऋ. १,२२,८) इस

---

१. केषांचिन्मते बहुतरं समीचीनं वा सिक्तं स्तुतं चेत्यर्थः। बहुतरार्थेऽति-क्रमणं, समीचीने पूजा, इति विवेकः—तत्त्वबोधिनी। २. कर्म प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः इति। के पुनः कर्म प्रोक्तवन्तः ये संप्रति क्रियां नाहुः, के संप्रति क्रियां नाहुः, येऽप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुस्ते कर्मप्रवचनीयाः (महाभाष्य १,४,८३)।

वाक्य में 'आ' से 'आगत्य' अर्थ लेकर 'आ-गत्य उपविशत' ऐसा अर्थ किया है। जबकि इसके विपरीत आचार्य स्कन्द स्वामी ने 'अर्वाक्' अर्थ में 'आ' को निपात मान कर 'अर्वाक् मत्समीपे' अर्थ किया है, और आचार्य मुद्गल ने 'आ' का 'सर्वतः' अर्थ किया है। महाभाष्यकार के 'अप्रयुज्यमानस्य' इस शब्द का व्याख्यान वैयाकरणों ने पूर्वापर भाष्य के अविरोध से क्या किया है, यह हम आगे बतायेंगे, यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि महाभाष्यकार के उक्त शब्दों का यह भी तात्पर्य विद्वानों ने निकाला है। हम समझते हैं कि कुछ अंश में यह तात्पर्य भी अपेक्षित है, इसी लिए 'अतिरतिक्रमणे च' (पा. १,४,९५) सूत्र में कर्मप्रवचनीयसंज्ञक 'अति' शब्द का अर्थ बताने के लिए अति-उपसर्ग-युक्त √क्रमु धातु से निष्पन्न कृदन्त क्रियाशब्द 'अतिक्रमणे' का व्यवहार किया है, स्पष्ट है अप्रयुज्यमान 'क्रमण' क्रियारूपी धात्वर्थ का प्रतिपादन 'अति' कर्मप्रवचनीय से सूत्रकार को इष्ट है। 'अति' कर्मप्रवचनीय से अर्थ-लभ्य 'अति-क्रमण' अर्थ आवश्यक है, इसके स्पष्ट करने के लिए उदाहरण की आवश्यकता है। शतपथ-ब्राह्मण में (पता नहीं इन तीन लोकों के अतिरिक्त कोई चौथा लोक है भी या नहीं। इस विचिकित्सा के लिए कहा है—'स यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति न वा' (माश. १, २, १,१२)।

यहां 'इमांल्लोकानति' इस वाक्य-खण्ड में 'इमांल्लोकान् अतिक्रम्य' अर्थ अभीष्ट है। ऋषि का ब्राह्मण-ग्रन्थ में 'इमांल्लोकान् अतिक्रम्य' इतना विशद वाक्य न पढ़कर 'इमांल्लोकानति' इस अर्थगम्य पाठ का पढ़ना इस तथ्य को स्वीकार करता है कि वैदिक भाषा में कर्मप्रवचनीय को बहुत महत्त्व प्राप्त था। और सीधा सादा 'अतिक्रम्य' शब्द न बोलकर 'अति' कहना अर्थ में विशेष विलक्षणता तथा सजीवता प्रगट करता था।

फिर 'अतिक्रम्य' पढ़ने से 'लोकान्' में 'अतिक्रम्य' क्रिया के कारण 'कर्मणि द्वितीया' (पा. २,३,२) सूत्र से कारक विभक्ति (द्वितीया विभक्ति) होगी, जैसे 'अति क्रामति' क्रिया के योग में होती है। जब कि 'अति' कर्मप्रवचनीय साक्षात् क्रियागत विशेष अर्थ का द्योतक नहीं है, और इसीलिए इसके योग में द्वितीया विभक्ति के विधान के लिए विशेष सूत्र 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा. २,३,८) का उपदेश किया गया है। गति से कर्मप्रवचनीय का यह भी सूक्ष्म भेद ध्यान देने योग्य है।

ऐसे ही तृतीयार्थ 'सह' के अर्थ में 'अनु' उपसर्ग की विशेष शक्ति है[1], हीनता अर्थ का ज्ञान कराने के लिए भी 'अनु' को विशेष रूप से कर्मप्रवचनीय माना गया है[2], और लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध को बताने के लिए 'बिजली कहां चमक रही है', इस प्रश्न पर कहा जाता है 'वृक्ष पर बिजली चमक रही है'। (वृक्षं प्रति परि अनु विद्योतते विद्युत्)। यहां स्पष्ट प्रति, परि, अनु इन कर्मप्रवचनीयों में वृक्ष को लक्ष्य करके विद्युत् चमकने के लक्षण (द्योतन) की विशेष सामर्थ्य है[3]।

इसी प्रकार आधिक्य तथा हीनता अर्थ में 'उप' कर्मप्रवचनीय है[4], यही अर्थ अध्यक्ष से उपाध्यक्ष, आचार्य से उपाचार्य के स्वरूप में भासता है। वर्जन अर्थ में अप, परि[5]। मर्यादा और अभिविधि अर्थ में 'आ' कर्मप्रवचनीय है[6]। आचार्य स्कन्दस्वामी (ऋ. १, ७१,६) ने भी 'आकारोऽत्र मर्यादायाम्' इन शब्दों में मर्यादार्थक कर्मप्रवचनीय 'आ' का संकेत किया है। अभि, प्रति, परि और अधि भी विशेष अर्थ के द्योतक कर्मप्रवचनीय हैं।

कर्मप्रवचनीय का एक तीसरा स्वरूप भी है, जो कि 'अनुर्लक्षणे' (पा. १,४,८४) सूत्र के महाभाष्य तथा उस पर आचार्य कैयट एवं व्याकरण शास्त्र के अन्य आचार्यों के महत्त्वपूर्ण ऊहापोह से सिद्ध है[7]। 'अनुर्लक्षणे' सूत्र में 'लक्षण' का सामान्य लक्ष्यलक्षणभाव सबन्ध आचार्य को इष्ट नहीं, वह तो 'लक्षणेत्थंभूता०' (पा १,४,९०) सूत्र से ही 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा से गतार्थ था, यहा हेतुहेतुमद्भावरूप संबन्ध 'लक्षण' शब्द से आचार्य को अभीष्ट है, कहीं

---

१. तृतीयार्थे (पा १,४,८५)। २ हीने (पा. १,४,८६)। ३ वृक्षसबन्धि द्योतनमर्थं। सबन्धश्च लक्ष्यलक्षणभाव इति प्रत्यादयो द्योतयन्ति (तत्त्वबोधिनी पा १,४,९०)। ४. उपोऽधिके च (पा १,४,८७)। ५ अपपरी वर्जने (पा. १,४,८८)। ६. आङ् मर्यादावचने (पा. १,४,८९)।

७ किमर्थमिदमुच्यते? कर्मप्रवचनीयसंज्ञा यथा स्यात् गत्युपसर्गसंज्ञे मा भूतामिति। किं च स्यात्? शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्, 'गतिर्गतौ' इति निघातः प्रसज्येत, यद्येव वेरपि कर्मप्रवचनीयसंज्ञा वक्तव्या, वेरपि निघातो नेष्यते— प्रादेशं प्रादेशं वि परिलिखति। अस्त्यत्र विशेष —नाऽयं वेर्लिखिं प्रति क्रियायोग, किं तर्हि? अप्रयुज्यमानं (विमान) प्रति, 'प्रादेशं प्रादेशं विमाय परिलिखतीति'। यद्येवम् अनोरपि कर्मप्रवचनीयसंज्ञया नार्थ, अनोरपि हि न वृषिं प्रति क्रियायोग, किं तर्हि? अप्रयुज्यमानं निशमिं प्रति—'शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देव

हेत्वर्थक तृतीया विभक्ति 'अनु' के संनिधान से न हो[1] विशेष सूत्र से विशेष संबन्ध को समझाने के लिए द्वितीया ही हो, इस प्रयोजन के लिए सूत्र की चरितार्थता सिद्ध होती है।

महाभाष्यकार ने उदाहरणरूप में 'शाकल्यसंहितामनु प्रावर्षत्' (ऋग्वेद के पाठ के अनन्तर वर्षा हुई) प्रयोग उपस्थित किया है। उनके शब्दों में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय-संज्ञा हो जाने से ही 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) सूत्र से 'प्रावर्षत्' क्रिया के 'प्र' से पूर्ववर्ती 'अनु' को गति मान कर सर्व-निघात नहीं हुआ। क्योंकि कर्मप्रवचनीय-संज्ञा से गति-संज्ञा का बाध हो गया है। यद्यपि 'शाकल्यसंहितामनु प्रावर्षत्' इस वाक्य में 'अनु' शब्द का अप्रयुज्यमान निशमि 'निशम्य' के साथ योग है, इसी लिए 'शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्' इस व्याख्यानभूत वाक्य में 'अनु' का 'अनुनिशम्य' अर्थ दिखाया गया है, तथापि आचार्य कैयट के अनुसार केवल अर्थलभ्य अप्रयुज्यमान 'निशमि' धातु के क्रियायोग-

---

प्रावर्षत्'। एवं तर्हि प्रयोजनं ? द्वितीया यथा स्यात् कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीयेति (महाभाष्य)।

अत्र कैयटः—शाकल्येन सुकृतामिति, अत्र वाक्ये अप्रयुज्यमाननिशमेर्या क्रिया तत्कृतो वर्षसंहितयोर्हेतुहेतुमद्भावलक्षणः संबन्ध इत्ययमर्थो अनुशब्दसंनिधौ प्रतीयते। तदयम् अनुः 'संहिताम्' इति द्वितीययाऽभिहितं संबन्धमवच्छिनत्ति। वाक्यपदीये भर्तृहरिः—

'क्रियाया द्योतको नाऽयं, संबन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी, संबन्धस्य तु भेदकः ॥ (वाक्यपदीय २,२०६)
स चोपजातः संबन्धो विनिवृत्ते क्रियापदे।
कर्मप्रवचनीयेन तत्र तत्र नियम्यते ॥ (वाक्यपदीय २,२०१)

अत्र नागेशः— विशिष्टक्रियाजनितोऽयं संबन्धो विभक्त्यर्थः इति द्योतकः, यथा प्रकृते निशमनक्रियाकृत. सम्बन्ध इति।

अत्र तत्त्वबोधिनीकारः—'अनुना न क्रियाविशेषो द्योत्यते, 'अनुभूयते सुखम्' इत्यादौ यथा, नापि षष्ठ्येव संबन्ध उच्यते द्वितीययैव तस्योक्तत्वात्, नापि 'प्रादेशं विपरिलिखति, विमाय परिलिखति, इत्यत्र विशब्देन मानक्रियेव क्रियान्तरमाक्षिप्यते, कारकविभक्तिप्रसङ्गात्, किंतु जपसंबन्धि वर्षणमिति द्वितीययाऽवगतः संबन्धो लक्षणलक्ष्यभावेऽनगमात् संबन्ध एवाऽनुना विशेषेऽवस्थाप्यते।

1. हेतुहेतुमतोर्योगपरिच्छेदेऽनुना कृते।
आरम्भाद् बाध्यते प्राप्ता तृतीया हेतुलक्षणा ॥ (वाक्यपदीय २,२०५)

मात्र तक 'अनु' शब्द की अर्थप्रत्यायक शक्ति समाप्त नहीं हो जाती, प्रत्युत 'शाकल्यसंहिता' के निशमन (श्रवण) के तत्काल पश्चात् होने वाली वर्षणक्रिया के साथ हेतुहेतुमद्भाव-सम्बन्ध की प्रतीति 'अनु' शब्द का वास्तविक अर्थ है। 'संहिताम्' इस द्वितीया से प्रतीयमान हेतुहेतुमद्भावलक्षण सम्बन्ध की व्याख्या 'अनु' शब्द से होती है, महाभाष्यकार ने इस अप्रयुज्यमान 'निशमि' क्रिया के सम्बन्धावच्छेदक 'अनु' कर्मप्रवचनीय का क्रियाक्षेपी उपसर्ग के साथ भेद बतलाने के लिए 'प्रादेशं प्रादेशं वि परिलिखति' उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'वि' उपसर्ग का 'लिखति' क्रिया के साथ उतना साक्षात् सम्बन्ध नहीं, जैसे 'परिलिखति' क्रिया में 'परि' उपसर्ग का 'लिखति' के साथ गति-सम्बन्ध है, 'वि' और 'परि' दोनों का गति-सम्बन्ध मानने से 'विपरिलिखति' इतना क्रिया का रूप होगा, और 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) सूत्र से 'परि' गति परे रहते पूर्वगति 'वि' को अनुदात्त हो जाएगा, जो कि पद-पाठ के विरुद्ध है। पद-पाठ में 'वि' स्वतन्त्र उदात्त पद पढ़ा जाता है। इस लिए 'वि' उपसर्ग से √माङ् 'माने' धातु के ल्यबन्त 'विमाय' क्रियापद[1] का आक्षेप करेंगे। वाक्य का स्वरूप होगा—'प्रादेशं प्रादेशं विमाय परिलिखति'। यहां 'परिलिखति' क्रिया अकर्मक है, और 'विमाय' क्रिया के सम्बन्ध से 'प्रादेशम्' में कारक विभक्ति (द्वितीया विभक्ति) हुई है। इसके विपरीत 'शाकल्यसंहितामनु प्रावर्षत्' वाक्य में 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) के निघात की निवृत्ति के लिए 'अनु' उपसर्ग से अप्रयुज्यमान 'निशमि' (निशम्य) क्रिया का सम्बन्ध होते हुए भी 'अनु' उपसर्ग 'वि' उपसर्ग के समान क्रियाक्षेपी उपसर्ग नहीं, प्रत्युत कर्मप्रवचनीय होने के कारण संहिताश्रवणहेतुक-वर्षणक्रिया के हेतुहेतुमद्भावलक्षण-सम्बन्ध का प्रत्यायक है। इसी लिए इस कर्मप्रवचनीय 'अनु' के योग में 'कर्मणि द्वितीया' (पा. २,३,२) सूत्र के नियम से कारक-विभक्ति न होकर 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा. २,३,८) सूत्र से विशेष-विहित द्वितीया होती है, और गति-संज्ञा का बाध भी हो जाता है। इसी लिए आचार्यों ने 'अप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुः' इस महाभाष्य का अर्थ 'तद्वाच्यक्रियाकृतसंबन्धविशेषम्' किया है। अर्थात् कर्मप्रवचनीय 'अनु' से वाच्य (द्योत्य) क्रिया निशमि के साथ (संहितामनु निशम्य)

---

१. गत्युपसर्गसंज्ञाः क्रियायोगे यत्क्रियायुक्तास्तं प्रतीति वचनम् (पावा. १,४,६०)
येन क्रियापदाक्षेपः स कारकविभक्तिभिः।
युज्यते विर्यथा, तस्य क्रियावदुपसर्गता॥ (वाक्यपदीय २,२०२)

वर्षणक्रिया 'प्रावर्षत्' के हेतुहेतुमद्भावलक्षण सम्बन्ध को 'अनु' उपसर्ग बताता है, इसी लिए यह कर्मप्रवचनीय है, क्रियाक्षेपी उपसर्ग नहीं।

चौथा वर्ग क्रियाक्षेपी उपसर्गों का है जैसा 'विमाय परिलिखति' इस उदाहरण से स्पष्ट किया जा चुका है। अथर्वप्रातिशाख्यकार (१,१,१२) इसको भी कर्मप्रवचनीय की कोटि में गिनते हैं। क्योंकि उन्होंने पद-पाठ में या अनर्थक या कर्मप्रवचनीय इन दोनों को ही स्वतन्त्र सत्ता वाला माना है। कर्मप्रवचनीय पद से उक्त सब प्रकार उन्हें अभीष्ट हैं।

४. निपातसञ्ज्ञक उपसर्ग

उपसर्गों की निपात-सञ्ज्ञा भी होती है[1]। निपात-सञ्ज्ञा का लाभ उपसर्गमात्र की पद-सञ्ज्ञा है। क्योंकि 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (पा १,१,३७) सूत्र से प्र परा आदि की अव्ययसञ्ज्ञा, फिर अव्यय शब्दों से परे प्रथमा विभक्ति का लुक्[2] (लोप) और 'य शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी' न्याय के अनुसार विभक्ति-लुक् के पश्चात् शेष उपसर्ग स्वरूप का सुबन्तत्व और सुबन्त होने के कारण उपसर्गों की पद-सञ्ज्ञा[3] और इसी लिए पद-पाठ में उपसर्गों की स्वतन्त्र स्थिति यह सब उपसर्गों की निपातसञ्ज्ञा पर निर्भर करती है।

'आ' आदि निपातसञ्ज्ञक उपसर्गों को वेद की ऋचाओं में वाक्यालङ्कार के रूप में पूरणार्थक माना है। इसी लिए ऋग्वेद (१,६,२) में 'आकार पदपूरण' यह स्कन्दस्वामी का भाष्य मिलता है। वेङ्कट तथा सायण ने भी बहुधा इसका उल्लेख किया है। महर्षि यास्क ने (निरुक्त १,४) में 'आ' को समुच्चयार्थक निपात माना है[4]। वेङ्कटमाधव (ऋ ४,५७,१) ने इसकी पुष्टि की है। कह नहीं सकते कि पूरणार्थक 'आ' उपसर्ग का प्रतिरूपक है या स्वतन्त्र निपात है। 'निपात एकाजनाङ्' (पा १,१,१४) सूत्र में 'अनाङ्' (ङकार अनुबन्ध से रहित 'आ') पर्युदास का प्रगृह्य-सञ्ज्ञा में उल्लेख है। जैसे निषेध अर्थ में मा, माङ् दोनों अव्यय हैं, परन्तु 'माङि लुङ्' (पा ३,३,१७५) सूत्र के नियम से

---

1 प्रादय (पा १,४,५८)। 2 अव्ययादाप्सुप (पा २,४,८२)। 3 सुप्तिङन्तं पदम् (पा १,४,१४)। 4 चेति समुच्चयार्थे उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते ……। पुनस्मिन्नेवार्थे आकार (निरुक्त १,४)।

लुङ् लकार 'माङ्' के योग मे ही होता है, 'मा' के योग मे नहीं। 'माङ्' के योग मे—'मा शब्द कार्षीत्' (लुङ्) है, परन्तु मा के योग मे 'मा कुरु' लोट् भी होता है, ऐसे प्रगृह्य-सज्ञा मे 'अनाङ्' इस पर्युदास की सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि 'आ' दो प्रकार का है, 'आङ्' (ङकार-अनुबन्ध-युक्त) और 'आ' (अनुबन्ध से रहित)। दूसरे शब्दों मे 'आ' (निपात) और 'आङ्' (निपातेतर गति-उपसर्ग-कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञक)। महाभाष्य की इष्टि—'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च य, एतम् आत ङित विद्यात्, वाक्य स्मरणयोरङित्' से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—ईषत् शब्द के अर्थ मे (उपसर्ग) क्रियायोग मे (गति) मर्यादा तथा अभिविधि अर्थ मे (कर्मप्रवचनीय) आङ् (ङकार अनुबन्ध से युक्त) मानना, अर्थात् 'आङ्' की प्रगृह्य-संज्ञा नहीं। 'आ' की वाक्यालकार या स्मरण अर्थ मे अङित् होने के कारण प्रगृह्यसज्ञा होती है। 'सु' भी निपात है—शुभी सु नें (ऋ ४३१,२)।

५. पद-पाठ में गति-निर्देश

पद पाठ के निर्देश मे उपसर्गों की कई प्रकार की स्थिति है—

१. वह उपसर्ग जिनके अनन्तर निघात (अनुदात्त) क्रिया है। २ वह उपसर्ग जिसके अनन्तर उदात्तस्वर-युक्त क्रिया है। ३ वह उपसर्ग जिनके अन्तर (किसी शब्द के व्यवधान) मे क्रिया है। ४ वह उपसर्ग जिसके अनन्तर कोई दूसरा उपसर्ग है। ५. वह उपसर्ग जो किसी उपसृष्ट तिङन्त क्रिया का प्रथम अवयव है, और उस तिङन्त क्रिया (आख्यात) मे उदात्त स्वर हो रहा है। ६ वह उपसर्ग जो मध्यवर्ती है, अर्थात् जिसके पूर्व मे अन्य उपसर्ग है, और अनन्तर निघात क्रिया है। ७ वह उपसर्ग जो गतिसमास से किसी कृदन्त शब्द का प्रथम अवयव है।

१. यदि उपसर्ग के अनन्तर अनुदात्त आख्यात (तिङन्त क्रिया) होगा, तो पद-पाठ मे वह उपसर्ग और आख्यात दो पृथक् पद माने जाएँगे, और दोनों का पृथक् पृथक् निर्देश होगा[1]। जैसे—अनु। श्यन्ति (ऋ २, २४, १३)।

२ उपसर्ग के अनन्तर उदात्तस्वर-युक्त आख्यात होने पर भी दोनों पृथक् होंगे। जैसे—अधि। तस्थु (ऋ. १, १६४, २)।

३ वह उपसर्ग जो क्रिया से व्यवहित है, पद-पाठ में उसका भी निर्देश पृथक् होगा। जैसे—'स त्वां मिनामि' (ऋ १०,८७,२४) इस

1 उपसर्गपूर्वमाख्यातम् अनुदात्त विगृह्यते (ऋप्रा ११,१२)।

वाक्य में 'सम्' उपसर्ग का 'शिशामि' से अन्वय है (सं शिशामि)। परन्तु मध्यवर्ती 'त्वा' से व्यवधान हो रहा है। एह वक्षति (ऋ. १,१,२ पपा. आ। इह। वक्षति) उक्त दोनों उदाहरणों में क्रिया अनुदात्त है। क्योंकि किसी अतिङ् (सुबन्त पद) से परे तिङन्त क्रिया को अनुदात्त हो जाता है[१]।

४. जहां कहीं आख्यात अनुदात्त हो और उसके अनन्तरपूर्ववर्ती दो उपसर्ग हों, वहां आख्यात से अनन्तरपूर्ववर्ती उपसर्ग उदात्तस्वर-युक्त होगा, और उससे पहला उपसर्ग अनुदात्त होगा[२]। जैसे—सम्ऽआचिनुष्व (शौ. ११,१,३६)। यहां 'चिनुष्व' क्रिया अनुदात्त है। उसके पूर्व दो उपसर्गों में से क्रिया का अनन्तरपूर्ववर्ती 'आ' उपसर्ग उदात्त है। और उसके पूर्व 'सम्' अनुदात्त है। निघात क्रिया के योग में दो उपसर्ग हों या तीन, उदात्तस्वर क्रिया के अनन्तरपूर्ववर्ती उपसर्ग पर ही होगा, शेष सब अनुदात्त होंगे। 'सम्ऽआचिनुष्व' इतना एक पद पद-पाठ में निर्दिष्ट होगा, और अवग्रह चिह्न दो उपसर्गों के मध्य में होगा। ऐसे ही अन्वालेभिरे (ऋ. १०,१३०,७ पपा. अनुऽआलेभिरे) है।

यदि दो उपसर्गों में से पहला उपसर्ग कर्मप्रवचनीय है तो पद-पाठ में उसका निर्देश पृथक् होगा और एक उपसर्ग से युक्त क्रिया का निर्देश पृथक् होगा। जैसे—अभि प्र सीदत (ऋ. १०,३२,१)। यहां 'अभि' मन्त्रस्थ 'बर्हि' इस द्वितीयान्त पद से संबद्ध कर्मप्रवचनीय है। पद-पाठ में वह स्वतन्त्र निर्दिष्ट है। 'सु' उपसर्ग स्वतन्त्र और 'प्रसीदत' स्वतन्त्र। आ। प्रद्रव (ऋ. ५,३१,२) अभि। प्रसेदुः (ऋ. ५,६,१२) भी हैं।

५. यदि उपसर्ग से अनन्तर-उत्तरवर्ती क्रिया में उदात्त स्वर हो तो पद-पाठ में ऐसे उपसर्ग का उदात्त आख्यात से पृथक् निर्देश नहीं होगा, बल्कि उपसर्गयुक्तक्रिया एक पद माना जाएगा और पद-पाठ में उसका सहनिर्देश होगा, तथा उपसर्ग और आख्यात के मध्य में अवग्रह का चिह्न (ऽ) लगेगा[३] और उपसर्ग अनुदात्त होता है। जैसे—निऽशांमित (शौ. १३,१,२) निऽधार्यन्तीति (शौ. १३,२,१)। यहां 'शांमित'

---

१. तिङ्ङतिङः (पा. ८,१,२८)। २. गतिर्गतौ (पा. ८,१,७०)। अनेकोऽप्यनुदात्तेनापि (शौच. ४,२)। उपसर्गा उपसर्गे (शुप्रा ६,२)। ३. तिङि चोदात्तवति (पा. ८,१,७१)। (उपसर्गपूर्वमाख्यातम्) उदात्तः सन् समस्यते, उपसर्गो निहन्यते (प्रा. १,१,१२)। उपसर्गं आख्यातेनोदात्तेन समस्यते (शौच. ४,१)।

और 'चाकशीति' दोनों क्रियाओं के आदि अक्षर उदात्त हैं, इस लिए पूर्ववर्ती उपसर्ग अनुदात्त है। ऐसे ही विऽअनुहो (ऋ. ६,८६,१५) है।

६. यदि अनुदात्त आख्यात से पूर्व दो या तीन उपसर्ग हों, तो उन सब का आख्यात के साथ समास होगा। और आख्यात के अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग पर उदात्त का चिह्न होगा। शेष पूर्ववर्ती उपसर्गों में 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) के नियम से पूर्व पूर्व को अनुदात्त होगा। ऐसे आख्यातों का पद-पाठ में समस्त पद के रूप में निर्देश होता है। और प्रथम उपसर्ग के पश्चात् अवग्रह का चिह्न लगता है। जैसे—अनुऽसंयांहि (शौ. ११,१,३६)। दो उपसर्ग वाले आख्यात का उदाहरण पीछे दिखा चुके हैं।

७. यदि आख्यात उदात्त-स्वरयुक्त हो, और उसके पूर्व दो उपसर्ग हों, तो अनन्तरपूर्ववर्ती उपसर्ग का तो क्रिया से समास होकर उपसर्ग को निघात होगा। (स्मरण रहे कि उदात्तयुक्त आख्यात के परे रहते पूर्व गति को अनुदात्त होता है)। पद-पाठ में समास दिखाने के लिए उपसर्ग और आख्यात के मध्य में अवग्रह-चिह्न लगेगा। जैसे—'यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति' (शौ. १३,३,२) यहां 'क्षरन्ति' क्रिया में 'यस्मात्' इस यद्वृत्त के संनियोग से अनुदात्त का निषेध होने के कारण उदात्त का श्रवण है। उसका अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग 'वि' अनुदात्त है, और पद-पाठ में 'विऽक्षरन्ति' इस प्रकार अवग्रह का निर्देश भी वर्तमान है। किन्तु आख्यात से व्यवहितपूर्व 'अधि' उपसर्ग पर उदात्त का निर्देश है और पद-पाठ में भी पृथक् पद के रूप में दिखाया गया है। यह 'अधि' अनर्थक है। क्योंकि ऐसे उपसर्गों की तीन प्रकार की स्थिति होती है। १. या वह अनर्थक होगा, २. या फिर कर्मप्रवचनीय होगा, ३. या वह उपसर्ग व्यूढ (अन्य-युक्त) होगा[1]। जो उपसर्ग व्यवधान में स्थित किसी क्रिया के साथ अन्वित होते हैं, उन्हें व्यूढ या अन्ययुक्त कहा जाता है[2]।

---

१. द्व्युपसर्गपूर्वमाख्यातं यदा भवेदुदात्तवत्। अनर्थकं कर्मप्रवचनीयो व्यूढो वा विगृह्यते (अथर्व प्रा १,१,१२)। अनर्थककर्मप्रवचनीयाऽन्ययुक्तैर्विग्रहोऽभिवितन्वादिषु (शौच. ४,३)।

२. छन्दसि परेऽपि (पा. १,४,८१)। व्यवहिताश्च (पा. १,४,८२)।
 अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन विकल्पनम्।
 धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव हि तादृशः॥ (वाक्यपदीय २,१८२)

तीनों स्थितियों में उपसर्ग का पद-पाठ में स्वतन्त्र निर्देश होगा, और अपना उदात्त स्वर कायम रहेगा।

८. कई स्थलों पर आख्यात से पूर्व तीन उपसर्ग होते हैं। उनमें पहला उपसर्ग स्वतन्त्र उदात्त-स्वर-युक्त होगा। दूसरे दो उपसर्गों में पहले उपसर्ग का दूसरे के साथ समास और दोनों समस्त उपसर्गों का परवर्ती अनुदात्त आख्यात के साथ समास होगा। और दोनों समस्त उपसर्गों के मध्य में अवग्रह का चिह्न रहेगा[1]। जैसे—उप संप्रयात (मा. १५,५३ पपा. उप। संप्रयातेति॑सम्‌प्रयात) इस स्थल में 'यात' इस अनुदात्त क्रिया से पूर्व 'उप, सम, प्र' यह तीन उपसर्ग श्रूयमाण हैं। इनमें प्रथम 'उप' उपसर्ग में उदात्तस्वर का निर्देश है। और पद-पाठ में स्वतन्त्र है। शेष दो उपसर्ग 'सम' और 'प्र' में 'सम' का 'प्र' के साथ समास फिर दोनों का 'यात' क्रिया से समास हो रहा है। इसी लिए 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) के नियम से आख्यात के अनन्तर-पूर्ववर्ती 'प्र' पर उदात्त का चिह्न निर्दिष्ट होकर उससे पूर्ववर्ती 'सम' उपसर्ग को अनुदात्त हो गया है। पद-पाठ में 'सम' और 'प्र' के मध्य में विच्छेदक अवग्रह होगा। 'समर्थः पदविधिः' (पा. २,१,१) के नियम से समास में ही सामर्थ्य है। 'यात' आख्यात की अपने साथ समस्त दोनों उपसर्गों में सामर्थ्य है, इसी लिए सत्र का सहनिर्देश है। पहले उपसर्ग के साथ सामर्थ्य नहीं।

इस लिए ऐसे असमर्थ उपसर्ग के साथ सातवें नियम में प्रतिपादित या अनर्थक या कर्मप्रवचनीय या व्यूढ तीन स्थितियों वाला व्यवहार ही चरितार्थ होगा। जैसे अथर्ववेद के प्रातिशाख्यकार ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—'अभि। वि। तनु' (शौ १,१,३)। यह पद-पाठ में पढ़ा जाता है। यहां 'तनु' (√तन्) क्रिया के पूर्व दो उपसर्ग हैं। 'अभि। वि।' परन्तु 'तनु' क्रिया के साथ 'वि' उपसर्ग के योग की सामर्थ्य है। 'अभि' उपसर्ग की नहीं। इसलिए पद-पाठ में

1. परर्न परने पूर्वं पूर्वेण तु विगृह्यते।
त्रयोश्च समस्यते, समस्यां तु परं पदम्॥
उपसर्गपूर्वसम्बन्धं पदोभाभ्यां समस्यते।
तत्सदृश उपसर्गत्रयाभावर्थेषु विग्रहः॥
समर्थ-वर्जनपर्व-दाव्यवधु-षिडिताय-ित्रु॥ (प्रा. २,१,११)

उसका पृथक् निर्देश है। वह या अनर्थक या कर्मप्रवचनीय माना जायेगा। यदि दोनों उपसर्गों की 'तनु' के साथ सामर्थ्य होती तो दोनों का 'तनु' के साथ समास होता और 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) के नियम से पूर्व उपसर्ग को अनुदात्त होता, और क्रिया के पूर्ववर्ती 'वि' उपसर्ग पर उदात्त का निर्देश होकर पद-पाठ में अभिऽवितनु ऐसा समस्त पद पढ़ा जाता।

६. ऐसे ही क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया के पूर्व यदि एक उपसर्ग होगा तो अनन्तर-पूर्ववर्ती गति पर उदात्त (प्रकृति-स्वर) का निर्देश होगा[1], जैसे—अपऽगूळ्हम् (ऋ. १,२३,१४)। आऽहुतम् (ऋ १,६४,३)। आऽवृत्त (ऋ १,८७,४)। उपऽस्तुतो (ऋ. १,१८१,७)। अवऽततम् (शौ. २, ७,३) आदि। और 'निपाता आद्युदात्ता, उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' के न्याय से उपसर्ग उदात्त हैं, उक्त नियम से उनका स्वर श्रूयमाण हो रहा है। और समास बताने के लिए मध्य में अवग्रह का चिह्न है। यदि क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया से पूर्व दो उपसर्ग होंगे तो उक्त नियम से[1] क्त-प्रत्ययान्त के अनन्तर-पूर्ववर्ती गति पर उदात्त का निर्देश होगा, तथा 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) के नियम से पहले उपसर्ग को अनुदात्त होगा। जैसे—पुर्यानद्धम् (शौ. १४,२,१२ पपा. परिऽआनद्धम्)। सुप्रेद्ध. (शौ. ६,७६,१ पपा. सम्ऽप्रेद्ध.)। अभ्यारूढऽइत्यमि आवृत्त (मा. ८,५८) आदि। यहां क्त-प्रत्ययान्त शब्द हैं। इनके पूर्व दो उपसर्ग समस्त हैं। उक्त नियम से अनन्तर-पूर्ववर्ती को प्रकृति-स्वर होगा, और पूर्व उपसर्ग को अनुदात्त।

यदि क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया से पूर्व तीन उपसर्ग होंगे। तो क्त-प्रत्ययान्त के साथ दो गतियों का समास दिखा कर उक्त नियम से अनन्तरपूर्व की गति को प्रकृतिस्वर (उदात्त) होगा, और दूसरे उपसर्ग को 'गतिर्गतौ' के नियम से अनुदात्त होगा। दोनों उपसर्गों के मध्य में अवग्रह का चिह्न होगा। सबसे पहले उपसर्ग की सामर्थ्य क्त-प्रत्ययान्त क्रिया के साथ नहीं है। इस लिए पद-पाठ में उसका उदात्तस्वर-युक्त निर्देश पृथक् होगा, क्योंकि या तो वह उपसर्ग अनर्थक है, या कर्मप्रवचनीय है, या किसी व्यवहित क्रिया के साथ उसका अन्वय है, ऐसा मानना पड़ेगा। जैसे—'पुनरेऽपि समाहिता.'

---

1. गतिरनन्तरः (पा. ६,२,४९)।

(शौ. १०,७,१५)। इस स्थल पर 'हिताः' यह क्त-प्रत्ययान्त शब्द √धा धातु से निष्पन्न है। उसके पूर्व 'अधि', 'सम्', 'आ' यह तीन उपसर्ग हैं। इनमें पहला उपसर्ग 'अधि' पद-पाठ में स्वतन्त्र उदात्तस्वर-सहित निर्दिष्ट है। क्योंकि इसकी 'हिताः' के साथ सामर्थ्य न होने के कारण इसमें समास की योग्यता नहीं है। 'पुरुषे' इस सप्तम्यन्त पद के संनिधान में √धा धातु से बोधित धारण क्रिया का अनुवादी होने के कारण यह अनर्थक है। शेष दो उपसर्ग 'सम्' और 'आ' का परस्पर सम्बन्ध है, फिर दोनों उपसर्गों की 'हिताः' इस क्त-प्रत्ययान्त के साथ सामर्थ्य होने के कारण गति समास है। दोनों उपसर्गों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए 'सम्ऽआहिताः' ऐसा पद-पाठ में अवग्रह होगा। पूर्ववत् अनन्तर-पूर्ववर्ती गति को उदात्त का निर्देश होगा और दूसरे उपसर्ग 'सम्' को अनुदात्त होगा।

क्त-प्रत्ययान्त कृदन्त क्रिया से पूर्व दो उपसर्ग की स्थिति में भी अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग का गति-समास होकर प्रकृति-स्वर (उदात्त-निर्देश)। और पहला उपसर्ग अनर्थक, कर्मप्रवचनीय या व्यूढ की स्थिति में पद-पाठ में पृथक् उदात्त-स्वर-युक्त मिलता है। जैसे—आ। निःऽसंक्तः (ऋ. ३,६,४)। परि। आऽभृतम (ऋ. ६,४७,२७)। अभि। संऽवृतः (ऋ. ८,१७,७)। अधि। उत्ऽततम (शौ. २,७,३)।

१०. यही क्तान्त क्रिया का उपसर्गों के साथ सम्बन्ध तथा पद-पाठ में निर्देश क्तिन्-प्रत्ययान्त, तोसुन्-प्रत्ययान्त, तवेन्-प्रत्ययान्त, कृदन्त क्रियाओं के उपसर्ग-व्यवहार के लिए निदर्शन है। भेद केवल अनन्तर-पूर्व की गति को प्रकृति-स्वर (उदात्त) करने वाले पाणिनीय सूत्र में है। क्त-प्रत्ययान्त में अनन्तरपूर्व-गति को प्रकृति-स्वर 'गतिरनन्तरः' (पा. ६,२,४९) सूत्र करता है, और क्तिन्-प्रत्ययान्त आदि के अनन्तर-गति को प्रकृति-स्वर 'तादौ च निति कृत्यतौ' (पा. ६,२,५०) सूत्र करता है। क्तिन्-प्रत्ययान्त—अभिऽशस्तेः (ऋ. १,११,१५)। प्रऽशस्तये (ऋ. १,१२२, ११)। प्रऽइतिम् (ऋ. १,३३,४)। विऽइष्टिषु (ऋ. १,१७१,५)। दो उपसर्ग पूर्व वाले क्तिन्-प्रत्ययान्त का उदाहरण जैसे—प्रत्युस्तुत्यै (मै. ४,७,३)। परन्तु तै. ६,६,८,६ में 'प्रत्युस्तुत्यै' उदाहरण में 'प्रति' उपसर्ग क्तिन्-प्रत्ययान्त 'स्तुत्यै' से समस्त नहीं, पद-पाठ में

अभीर्षि। उत्तभ्या इत्युत्-स्तभ्यै ऐसा निर्देश है। पहला उपसर्ग तीनों उक्त स्थितियों में से एक है। तोसुन्-प्रत्ययान्त—ऐतोरित्या-एतोः (तै १,५, १०,१)। दो उपसर्ग वाले उदाहरण में पहला उपसर्ग पद-पाठ में पृथक् है। पर्नि। विजनितोरिति वि-जनितोः (तै. २, ५,१,५) तवेन्-प्रत्ययान्त—परिऽएतवे (ऋ. ८,२४,२१)।

११. ऐसे कृदन्त शब्द जो शतृ-प्रत्ययान्त, या शानच्-प्रत्ययान्त या ल्यप्-प्रत्ययान्त हैं, यदि उनके पूर्व दो उपसर्ग हैं, या तीन उपसर्ग हैं, तो कृदन्त के अनन्तरपूर्ववर्ती गति का समास होगा, और उत्तरपद-प्रकृति-स्वर[1] होगा, पद-पाठ में दोनों के मध्य में अवग्रह होगा। शेष पहला उपसर्ग या दो उपसर्ग पद-पाठ में पृथक् दिखलाए जाएंगे। उन सब पर उदात्त का स्वतन्त्र निर्देश होगा। या वह अनर्थक होंगे या कर्मप्रवचनीय या फिर व्यूढ (अन्य व्यवहित-क्रिया से सम्बद्ध)[2]। जैसे—अभि। सु। प्रऽसीदतः (ऋ. १०,२२,१)। यह कृदन्त से पूर्व तीन उपसर्गों का उदाहरण है। इनमें पहले दो उपसर्ग 'अभि', 'सु' पद-पाठ में विगृहीत दिखाये गए हैं, दोनों पर अपना उदात्त का स्वर विद्यमान है। परन्तु तीसरा 'प्र' उपसर्ग 'सीदतः' इस शतृ-प्रत्ययान्त कृदन्त के साथ समस्त निर्दिष्ट है। और समास दिखाने के लिए मध्य में अवग्रह का चिह्न (ऽ) है। आ। निऽपद्यं (ऋ. १०, १४,५)। यहां 'आ' विगृहीत है और ल्यबन्त समस्त 'निऽपद्य' के मध्य में अवग्रह है। पर्युऽपसन्तम् (तै. ३,१,४,१) भी इसी प्रकार का शत्रन्त का उदाहरण है। परि विगृहीत है। कई स्थलों पर दो उपसर्गों के समास वाला शत्रन्त का प्रयोग मिलता है।

१२. जहां गति के साथ समस्त कृदन्त शब्द से तद्धित-प्रत्यय प्रयमाण हो। वहां गति और तद्धितान्त कृदन्त शब्द के मध्य में

1. गतिकारकोपपदात् कृत् (पा. ६,२,१३९)।
2. इनमें उपसर्गों का पूर्वेण विग्रह।
अनर्थकः कर्मप्रवचनीयो व्यूढो वा विगृह्यते ॥ (प्रा. १,१,१०)
विगृह्यते = पदपाठे पृथक् निर्दिश्यते।

अवग्रह चिह्न (ऽ) लगेगा[१] । जैसे—आऽगमिष्ठाः (ऋ. १०,१५,३ शौ. १८,१,४५) । पद-पाठ की दृष्टि में आ । गमिष्ठाः इन दो पदों का समास है, 'गमिष्ठाः' शब्द कृदन्त 'गन्तृ' शब्द से अतिशय अर्थ में तद्धित इष्ठन् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। मध्य से 'तृच्' प्रत्यय का लोप हो गया है[२] । गति के साथ समास अनेक प्रकार के होते हैं । स्वर भी विभिन्न मिलते हैं । किन्तु प्रकृत में पद-पाठ-सम्बन्धी गति पर ही लिखा है ।



१. गतिपूर्वो यदा धातुः क्वचित् स्यात् तद्धितोदयः ।
समस्यते गतिस्तत्रागमिष्ठा इति निदर्शनम् ॥ (अप्रा. १,१,११)

२. तुरिष्ठेमेयःसु (पा. ६,४,१५४) ।

पञ्चम-अध्याय

आमन्त्रित-स्वर

सम्बोधन में प्रथमाविभक्त्यन्त शब्दों को आमन्त्रित कहते हैं[1]। वेद आमन्त्रित-स्वर दो प्रकार का उपलब्ध होता है, १. आमन्त्रित शब्द के आदि के अक्षर पर उदात्त। २. आमन्त्रित शब्द सारा ही अनुदात्त।

१. किसी मन्त्र का आदि, या पाद का आदि अथवा वाक्य के आदि आमन्त्रित शब्द किसी पद के परे न होने कारण आद्युदात्त होगा[2]। जैसे—मन्त्र के आदि में—'अग्ने इन्द्र वरुण मित्र देवाः' (ऋ. ५,४६,२)। यह पांचों ही आमन्त्रित शब्द, मन्त्र के प्रारम्भ में आद्युदात्त हैं। क्योंकि पूर्व पूर्व आमन्त्रित, पर आमन्त्रित की अपेक्षा अविद्यमानवत् होने के कारण[3] 'इन्द्र वरुण' इत्यादि आमन्त्रित शब्द पद से परे नहीं हैं। तात्पर्य यह कि 'देवाः' की अपेक्षा चारों पूर्व आमन्त्रित शब्द 'अग्ने इन्द्र वरुण मित्र' अविद्यमानवत् (नहीं के तुल्य) हैं, अत 'देवा' शब्द भी किसी पद से परे न होकर मन्त्र के आदि में माना जाएगा, इसी लिए आद्यक्षर 'दे' पर उदात्त-स्वर का निर्देश है। इसी प्रकार 'मित्र' की अपेक्षा 'वरुण' अविद्यमानवत् है। 'इन्द्र' शब्द 'वरुण' की अपेक्षा अविद्यमानवत् है। और 'इन्द्र' के लिए 'अग्ने' शब्द अविद्यमानवत् है। इस प्रकार सभी आमन्त्रित शब्द पद से परे न होने के कारण मन्त्र के आदि में हैं। मन्द्र स्वधाव ऋतजात सुक्रतो (ऋ. १,१४४,७) में भी आमन्त्रित आद्युदात्त हैं। ऐसे ही—'इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति' (मा. ८,४३) इतना सारा मन्त्र-खण्ड पूर्व पूर्व आमन्त्रित के अविद्यमानवत् होने के कारण आद्युदात्त है। इसके विपरीत 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' (ऋ. १०, ७५,५) इस मन्त्र में 'गङ्गे यमुने सरस्वति' तीनों ही आमन्त्रित अनुदात्त हैं। क्योंकि यदि 'सरस्वति' की अपेक्षा 'यमुने' को और 'यमुने' की अपेक्षा 'गङ्गे' को पूर्व पूर्व को अविद्यमानवत् मान भी लें तो भी तीनों आमन्त्रित 'मे' पद के पर में हैं। अतः पद से परे होने के कारण आमन्त्रित आद्युदात्त न हो सकेगा। पाद के आदि में—'ऋतंदि'

---

१. सामन्त्रितम् (पा. २,३,४८)। २. आमन्त्रितस्य च (पा. ६,१,१९८)।
३. आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (पा. ८,१,७२)।

(ऋ. १०,७५,५) शब्द दूसरे पाद के आदि में होने के कारण पद से परे नहीं माना जाएगा और इसी लिए आद्यक्षर 'शु' पर उदात्त का श्रवण है। वाक्य के आदि में—इड एह्यदित एहि काम्या एत (मा. ८,२७)। यहां 'एकतिङ् वाक्यम्' (जहां एक तिङन्त क्रिया हो वह वाक्य होता है) के नियम से तीन वाक्य हैं—'इड एहि', 'अदित एहि', 'काम्या एत'। तीनों ही वाक्यों के स्वतन्त्र स्थिति में होने के कारण इनके आदि में 'इडे' 'अदिते' 'काम्याः' यह सब आमन्त्रित शब्द आद्युदात्त हैं। ऐसे ही—पितः मातः (ऋ. १,१८५,११) आदि अनेकों उदाहरण हैं।

२. उक्त आमन्त्रित के विपरीत यदि कोई आमन्त्रित शब्द पद से परे है और पाद के आदि में स्थित नहीं है, तो वह सर्वानुदात्त होगा[1]। उसके प्रत्येक अक्षर पर पद-पाठ में अनुदात्त-चिह्न का निर्देश होगा। जैसे—'गङ्गे। यमुने। सरस्वति' तीनों ही आमन्त्रित शब्द 'मे' से परे होने तथा पाद के आदि में स्थित न होने के कारण सर्वानुदात्त हैं।

आमन्त्रित को अविद्यमानवत् मान लेने का प्रभाव केवल परवर्ती आमन्त्रित पर ही नहीं होता, तिङन्त क्रिया पर भी होता है। क्योंकि सामान्य रूप में किसी अतिङन्त (सुबन्त) शब्द से परे होने पर तिङन्त क्रिया को सर्वानुदात्त होता है। परन्तु ऐसी स्थिति में जब तिङन्त क्रिया पाद के या वाक्य के आदि में हो या पूर्ववर्ती आमन्त्रित शब्द अविद्यमानवत् हो तो अतिङन्त से परे न होने के कारण उस क्रिया का यथायोग्य उदात्त-स्वर श्रूयमाण रहता है। जैसे—पाद के आदि में—असदित्स सुक्षितायु प्रयस्वान् (ऋ. ७,८५,४) यह अर्धर्च है। इसके प्रारम्भ में 'असत्' यह क्रिया √अस् भुवि धातु के लेट् का रूप है। और इसके आदि 'अ' पर उदात्त का निर्देश है। वाक्य के आदि में—'वीथो अध्वरम्' (ऋ. ७,८२,७)। यहां वाक्य के आदि में तिङन्त क्रिया 'वीथः' का अन्तिम अक्षर उदात्त है। आमन्त्रित से परे—'अग्ने शुशुग्धि' (ऋ. १,९७,१)। यहां 'अग्ने' यह आद्युदात्त आमन्त्रित पद है। इसको अविद्यमानवत् मानकर अतिङन्त से परे न होने के कारण 'शुशुग्धि' (√शुच् 'दीप्तौ') क्रिया अन्तोदात्त निर्दिष्ट है। ऐसे ही 'आदित्यासो भवत' (ऋ. १,१०७,१) भी है। 'इडएहि' दिखाया ही गया है।

---

1. आमन्त्रितस्य च (पा. ८,१,१९)।

पाणिनीय सिद्धान्त के अनुसार आमन्त्रित पद आद्युदात्त हो या सर्वानुदात्त, दोनों ही स्थितियों में परवर्ती आमन्त्रित या उदात्त-स्वर-विशिष्ट क्रिया की अपेक्षा अविद्यमानवत् होता है। इसी लिए 'मरुतो मृडता नः' (शौ. १,२०,१) आदि स्थलों में 'मरुतः' इस सर्वानुदात्त आमन्त्रित शब्द को अविद्यमानवत् मान कर ही 'मृडत' क्रिया मध्योदात्त श्रूयमाण है। पाणिनीय सूत्र से आद्युदात्त या सर्वानुदात्त दोनों स्थितियों में आमन्त्रित के अविद्यमानवत् होने से परवर्ती तिङन्त के अतिङन्त से परे न होने के कारण 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८, १,२८) की प्रवृत्ति नहीं होती, और क्रिया में उदात्त-स्वर श्रुत रहता है। यही प्रक्रिया वैज्ञानिक तथा सार्वभौम प्रतीत होती है। इसी लिए अथर्ववेद-प्रातिशाख्य (१,१,२१) में इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए 'मरुतो भवथ वाजिनः' (शौ. १,४,४) उदाहरण प्रस्तुत किया है। अथर्व-वेद के इस उदाहरण में स्पष्ट 'भवथ' क्रिया को उदात्त-स्वर-विशिष्ट दिखाने के लिए पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित 'मरुतः' को अविद्यमानवत् मानना पड़ेगा। ऐसे ही 'त्वं वरुण पश्यसि' (ऋ.१,५०,६)। यहां 'पश्यसि' क्रिया को अनुदात्त क्यों नहीं हुआ। कदाचित् 'वरुण' आमन्त्रित को अविद्यमानवत् मान भी लें, तो भी 'त्वम्' इस पद से परे तो 'पश्यसि' क्रिया माननी ही होगी, फिर सर्वानुदात्त क्यों नहीं हुआ। लेकिन इसका समाधान तो स्पष्ट है। इसी मन्त्र में पूर्व से 'येन' इस यद्-वृत्त का सम्बन्ध आ रहा है, उसके कारण 'पश्यसि' क्रिया को अनुदात्त का निषेध हो जाएगा। यद्-वृत्त के योग में तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता[1]।

परन्तु कुछ संदिग्ध स्थलों में पाणिनीय के इस सार्वभौम नियम से भी अनुगम नहीं होता। जैसे—गावो भवथ वाजिनीः (शौ. १,४,४)। इस स्थल में 'गावः' इस आद्युदात्त आमन्त्रित की अविद्यमानवत्ता में भी 'भवथ' यह सर्वानुदात्त क्रिया वर्तमान है। 'तिङ्ङतिङः' (पा ८, १,२८) सूत्र से तिङन्त क्रिया को अनुदात्त हो रहा है। यदि कहें कि यहां आमन्त्रित को अविद्यमानवत्त्व नहीं हुआ, तो प्रश्न उठेगा, क्यों नहीं हुआ, शास्त्र का अपवादक सूत्रान्तर कौन सा है। ऐसे ही 'इन्द्राश्विना' (मा ३८,१) का पद-पाठ 'इन्द्र। अश्विना' है। यहां पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित को अविद्यमानवत् मान कर 'अश्विना' इस आमन्त्रित पद को आद्युदात्त क्यों नहीं।

1. यद्वृत्तान्नित्यम् (पा. ८,१,६६)।

३. यदि आमन्त्रित शब्द (विशेष्य) के अनन्तर विशेषण आमन्त्रित श्रूयमाण हो तो पूर्व आमन्त्रित (विशेष्य) को अविद्यमानवत् नहीं होता[1]। ऐसी स्थिति में दूसरा आमन्त्रित (विशेषण) पद से परे होने के कारण सर्वानुदात्त होगा। जैसे—अग्ने पावक रोचिषा (ऋ. ५,२६,१) 'अग्ने गृहपते' (मा. २,२७;३,३९) 'अग्ने व्रतपते' (मा. २,२८) इन उदाहरणों में विशेष्य आमन्त्रित 'अग्ने' के अनन्तर विशेषण आमन्त्रित को सर्वानुदात्त है।

४. बहुवचनान्त आमन्त्रित विशेषण परे रहते बहुवचनान्त विशेष्य आमन्त्रित को अविद्यमानवद्भाव विकल्प से होता है[2]। जैसे—'देवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत' (ऋ. १०,१२८,५) इस उदाहरण में 'देवीः' विशेष्य आमन्त्रित है, और पाद के आदि में होने के कारण आद्युदात्त हो रहा है। इसके अनन्तर 'षट्' 'उर्वीः' दोनों ही बहुवचनान्त विशेषण हैं। उक्त नियम से विशेष्य बहुवचनान्त 'देवीः' को अविद्यमानवत्त्व का निषेध हो जाने से पद से परे होने के कारण दोनों ही विशेषण अनुदात्त हैं।

५. स्वरकर्तव्यता में परवर्ती आमन्त्रित में पूर्ववर्ती सुबन्त शब्द का अनुप्रवेश हो जाने से पराङ्गवद्भाव होता है[3]। जैसे—'शुभस्पती' (ऋ. १,३,१) यह आद्युदात्त आमन्त्रित है। इसमें पूर्वपद √शुभ् धातु का क्विप्-प्रत्ययान्त षष्ठी विभक्ति में रूप 'शुभः' है, जो अन्तोदात्त है। उत्तरपद 'पती' यह आमन्त्रित है। उक्त आमन्त्रित-स्वर के नियम की सामर्थ्य से 'शुभः' शब्द का आमन्त्रित 'पती' में अनुप्रवेश (अङ्गवद्भाव) हो जाने से 'शुभः' इस षष्ठ्यन्त पद की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही, और परवर्ती आमन्त्रित का अङ्ग बन गया। अब 'शुभस्पती' शब्द आमन्त्रित है, और पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित 'द्रवत्पाणी' के अविद्यमानवत् होने के कारण पाद के आदि में होकर आद्युदात्त आमन्त्रित है। वैसे ही 'मरुतां पितः' (तै. ३,३,९,१) शब्द भी एक आद्युदात्त आमन्त्रित शब्द है। यहां 'मरुताम्' इस षष्ठ्यन्त का 'पितः' इस परवर्ती आमन्त्रित एकवचन में अङ्गवद्भाव हो गया है। और पाद के आदि में होने के कारण 'मरुतां पितः' इतना आमन्त्रित आद्युदात्त है। ये उदाहरण तो पराङ्गवद्भाव में आद्युदात्त आमन्त्रित के हैं।

अनेक ऐसे भी आमन्त्रित हैं, जिनमें पराङ्गवद्भाव तो हो रहा है,

---

१. नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् (पा. ८,१,७३)। २. विभाषितं विशेषवचने (पा. ८,१,७४)। ३. सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे (पा. २,१,२)।

परन्तु पाद के आदि में न होने के कारण सर्वानुदात्त है। जैसे—'ब्रह्मणस्पते' (ऋ. १,४०,१)। अन्यत्र ऋ. (१,४०,५) में 'ब्रह्मणस्पतिः' यह संहिता-पाठ और ब्रह्मणः। पतिः ऐसा पद-पाठ है। दोनों शब्द आद्युदात्त स्वतन्त्र हैं। परन्तु 'ब्रह्मणस्पते' शब्द में परवर्ती आमन्त्रित 'पते' शब्द पद से परे होने के कारण सर्वानुदात्त है। जब पराङ्गवद्भाव से 'ब्रह्मणः' यह षष्ठ्यन्त शब्द 'पते' का अङ्ग बना तो इसका अपना स्वर विद्यमान न रहा, और यह भी सर्वानुदात्त हो गया है। स्मरण रहे उदात्त या स्वरित का चिह्न उस शब्द की स्वतन्त्र सत्ता का सूचक है। ऐसे ही 'सहसस्पुत्र' (ऋ. १,४०,२) है।

आमन्त्रित के साथ उसका अङ्ग बनना मुख्य है। यदि आमन्त्रित परवर्ती होगा तो पराङ्गवद्भाव होगा, और यदि पूर्ववर्ती होगा तो पूर्वाङ्गवद्भाव होगा। जैसे—'दुहितर्दिवः' (ऋ. ५,७९,१) है। यहां 'दुहितः' इस पूर्ववर्ती आमन्त्रित का अङ्ग बन जाने से 'दिवः' इस षष्ठ्यन्त अन्तोदात्त शब्द का अपना स्वर न रहा, और 'दुहितः' की तरह सर्वानुदात्त हो गया है।

६. जैसा पूर्व प्रतिपादन हो चुका है कि पूर्ववर्ती आद्युदात्त आमन्त्रित के अविद्यमानवत् होने के कारण अतिङ् से परे न होने के कारण अनन्तरपरवर्ती तिङन्त क्रिया में सर्वदा उदात्त-स्वर का श्रवण होता है[1]। शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य (६,१२) के अनुसार यदि आद्युदात्त आमन्त्रित और उदात्त-स्वर-विशिष्ट तिङन्त क्रिया के मध्य में एक शब्द का व्यवधान भी हो जाए तो भी तिङन्त क्रिया पर उदात्त-स्वर रहता है[2], और 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८,१,२८) का नियम वहां लागू नहीं होता। जैसे—'ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि' (मा. २२,४) (हे ब्रह्मा ऋत्विज्! मुझे अनुशासन करो, मैं अश्व बांधूंगा) इस वाक्य में 'ब्रह्मन्' इस आद्युदात्त आमन्त्रित और 'भन्त्स्यामि' इस उदात्त-स्वर-युक्त क्रिया के मध्य में 'अश्वम्' शब्द का व्यवधान है।

७. राजर्षि भर्तृहरि ने 'पचानि देवदत्त' इस उदाहरण में आमन्त्रित 'देवदत्त' को सर्व-निघात कहा है, क्योंकि यह आमन्त्रित क्रिया का विशेषक है[3]।

1. उदात्ताच्चामन्त्रितादनन्तरम् (शुप्रा ६,१२) आमन्त्रिताद् आद्युदात्ताद् आख्यातं न निहन्यते (उप्रा. ९,१,२३)। 2 एकान्तरादपि (शुप्रा. ६,१३)।

3. संबोधनपदं यच्च तत् क्रियाया विशेषकम्।
पचानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति॥ (वाक्यपदीय २,५)

षष्ठ अध्याय

वैदिक-संहिताओं में विविध स्वर-चिह्न

संहिता तथा ब्राह्मणों में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों के चिह्न भिन्न भिन्न हैं। सामान्य-रूप से संहिता-स्वरित का चिह्न अक्षर के सिर पर ऊर्ध्व-रेखा (।) है। किसी वेद-शाखा मे यही चिह्न स्वरित स्वर का परिचायक न होकर उदात्त-स्वर का बोधक है। ऐसे ही सामान्यतः अक्षर के नीचे पड़ी रेखा (-) अनुदात्त-स्वर की परिचायक है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण मे यही रेखा (-) उदात्त-स्वर की बोधक है। किसी वेद-संहिता में अनुदात्त स्वर की परिचायक रेखा अक्षर के नीचे खड़ी रेखा (।) है। सामवेद के स्वर-चिह्न सबसे निराले हैं। जब तक सम्पूर्ण स्वर-चिह्नों का यथार्थ ज्ञान न हो जाय किसी वेदाध्यायी के लिए स्वरपूर्वक वेद पाठ दुष्कर है। अतः इस प्रकरण में विविध स्वर-चिह्नों पर विचार किया जाता है। उदात्त और अनुदात्त का विषय थोड़ा होने से मुख्य रूप से इन्हीं दोनों स्वरों के चिह्नों का इस प्रकरण में विचार है। स्वरित-चिह्नों का विचार स्वरित प्रकरण (दशम अध्याय) में देखें।

१. ऋग्वेद, शुक्ल-यजुर्वेद की दोनों शाखायें (माध्यन्दिनी और काण्व) कृष्ण-यजुर्वेद (तैत्तिरीय-शाखा) अथर्व-वेद (शौनक-शाखा), तैत्तिरीय-ब्राह्मण और तैत्तिरीय-आरण्यक—इस सब वेद-राशि में (क) उदात्त-स्वर का चिह्न अनुदात्त (सन्नतर) अक्षर के अनन्तर-पर में बिना रेखा का (रेखा-शून्य) अक्षर है (पृष्ठ ११-१२ पर विचार देखें)।

(ख) मन्त्र के या अर्धर्च के आदि मे वह रेखा-शून्य अक्षर उदात्त है जिसके उत्तरवर्ती अक्षर पर ऊर्ध्वरेखा (।) का स्वरित चिह्न वर्तमान होगा। जैसे—'अग्ने व्रतपते' (मा २,२८) इस मन्त्र के प्रारम्भ मे 'अग्ने' शब्द है। उत्तरवर्ती 'ग्नें' अक्षर पर स्वरित का चिह्न है। पूर्व अक्षर रेखा-शून्य 'अ' उदात्त है।

(ग) ऐसे दो रेखा-शून्य अक्षर भी उदात्त हैं जिनके मध्य में पड़ी हुई (–) अनुदात्त-रेखा से युक्त अक्षर विद्यमान होगा। जैसे—'अग्नु आयाहि' (ऋ ६.१६,१०) इस संहिता-पाठ में 'ग्नु' के पूर्ववर्ती 'अ' और उत्तरवर्ती 'आ' दोनों उदात्त हैं। दो अनुदात्त अक्षरों के मध्यवर्ती रेखा-शून्य अक्षर भी उदात्त होते हैं। जैसे—'गृणानो

हुव्यदातये' (ऋ. ६,१६,१०) इस संहिता-पाठ में 'गृणानो' का अन्तिम उदात्त 'नो' पूर्ववर्ती अनुदात्त 'णा' और उत्तरवर्ती 'हु' अनुदात्त दोनों के मध्यवर्ती होने के कारण उदात्त है। 'हुव्यदातये' में 'व्य' उदात्त है।

(घ) यदि अनुदात्त रेखा वाले पूर्व अक्षर और स्वरित-रेखा वाले उत्तरवर्ती अक्षर के मध्य में दो रेखा शून्य अक्षर हों तो दोनों उदात्त होंगे। जैसे—'अ्या तर्दुच्छ' (ऋ. १,११३,१७) इस संहिता-पाठ में अनुदात्त 'अ्' और स्वरित 'दु' के मध्यवर्ती 'था त' दोनों अक्षर उदात्त हैं। ऐसे ही मध्यवर्ती तीन अक्षर भी उदात्त हो सकते हैं। यह चारों नियम संहिता-पाठ में उपलब्ध होंगे। पद-पाठ में (क) और (ख) ही नियम मिलेंगे।

२. मैत्रायणी-शाखा, काठक-शाखा (कृष्ण-यजुर्वेद) और अथर्व वेद की पैप्पलाद-शाखा में उदात्त का चिह्न अक्षर के सिर पर ऊर्ध्व रेखा (꠱) है। यथा—प्रं संविंष्णु (मै. १,२,६)। चिंत्ति स्रुक् (काठ ६,८)। विंश्वे देवांस. (पै. २,१६,४) सब ऊर्ध्व-रेखा वाले उदात्त हैं। ऋग्वेद आदि ग्रन्थ-राशि में जो ऊर्ध्व-रेखा वाला चिह्न संहिता-स्वरित का था, वह चिह्न इन शाखाओं में उदात्त का है। और मैत्रायणी और काठक (श्रोडर संस्करण में) अनुदात्त का चिह्न रेखा-शून्य अक्षर है। पैप्पलाद-शाखा में अनुदात्त का चिह्न अनुदात्त-अक्षर के नीचे खड़ी रेखा (꠰) है। यथा—देवांनां भद्रां सुमतिंर्ऋजूयताम् (पै. २,३०,१) यहां खड़ी रेखा (꠱) अक्षर के सिर पर उदात्त का चिह्न, नीचे खड़ी रेखा अनुदात्त का और बिन्दु ( ) संहिता-स्वरित का सूचक है (यही बिन्दु का चिह्न मैत्रायणी-पदपाठ में अवग्रह का सूचक है)। जिस पर कोई चिह्न नहीं, वह एक-श्रुति है। स्पष्टीकरण के लिए यही मन्त्र ऋग्वेद में यों है—देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम् (ऋ. १,८९,२)। यद्यपि काठक-संहिता के मूल-कोशों में कहीं-कहीं नीचे खड़ी रेखा वाले अनुदात्त का संकेत मिलता है, परन्तु मुद्रित संस्करणों में नहीं है।

३. साम-वेद (कौथुम-शाखा) में अनुदात्त उदात्त और स्वरित के सामान्य रूप से चिह्न क्रम से अक्षर के ऊपर ३, १, २ लगाए हैं। अनुदात्त (३) उदात्त (१) और स्वरित (२)। जैसे—वीतये, बर्हिषि (कौ १,१) ऋग्वेद (६,१६,१०) के पाठ में स्वर-संकेत यह होगा—वीतये, बर्हिषि।

४. साम-वेद में यदि अव्यवधान से अनेक उदात्त अक्षर हों तो पहले उदात्त अक्षर पर ही १ संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे—'स्पार्हं तद् आ' (कौ. १,२०७) यहां 'स्पार्हम्' शब्द अन्तोदात्त है, इसी लिए 'र्हम्' के सिर पर १ संख्या का निर्देश है। इसके अव्यवहित उत्तरवर्ती 'तद् आ' दोनों उदात्तों का उससे बोध हो गया, इस लिए इन पर संख्या का संकेत नहीं।

५. यदि उदात्त या स्वरित अक्षर से पूर्व अनेक अनुदात्त हों तो सब पर ३ संख्या का चिह्न नहीं लगेगा, बल्कि उदात्त या स्वरित से अव्यवहित पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) पर ही ३ संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे—समुद्रम् (कौ. १,११७) में 'द्रम्' इस उदात्त से पूर्व 'समु' यह दो अनुदात्त हैं। किन्तु ३ का चिह्न 'मु' पर ही है।

६. साम-वेद में अनेक अव्यवहित उदात्तों के अनन्तर ऐसा अनुदात्त अक्षर विद्यमान हो, जिसके अनन्तर-पर में उदात्त अक्षर हो, तो उन अनेक अव्यवहित उदात्तों के प्रथम अक्षर पर उदात्तत्व-सूचक (२उ) यह चिह्न लगाया जाता है। जैसे—'त्वं न धेनव.' (कौ. १,१४६)। यहां 'त्वं न' इन दोनों उदात्तों के अनन्तर 'धे' यह अनुदात्त है, और इसके आगे फिर 'न' यह उदात्त अक्षर है। इसलिए 'त्वं' के सिर पर (२उ) का निर्देश है।

७. सामवेद में दो अनुदात्तों के मध्यवर्ती उदात्त अक्षर पर उदात्तत्व-सूचक चिह्न (२) संख्या लगती है। जैसे—'गृणानो हव्यदातये' (कौ. १,१) इस संहिता-पाठ में 'गृणान' यह अन्तोदात्त शब्द है, उत्तरवर्ती 'हव्यदातये' का आद्यक्षर 'ह' अनुदात्त है, 'णा' और 'ह' इन दो अनुदात्तों के मध्य-पतित 'नः' यह उदात्त-अक्षर 'नः' इस संख्या में परिवर्तित हो जायेगा।

८. साम-वेद में यदि मन्त्र के अन्त में स्वरित से पूर्व अनुदात्त अक्षर होगा, तो उस पर ३ के स्थान में ३क का निर्देश होगा। जैसे—मरुद्भिः (कौ. १,७१), उरुष्य (कौ. २,१११६) इन उदाहरणों

में क्रम से 'ष्ये' और 'कथ्य' दोनों स्वरित हैं। मन्त्र के अन्त में होने से उन पर स्वरित का चिह्न २र लगा है। उनके पूर्ववर्ती अनुदात्त 'ज़ु और 'उ' पर ३ संख्या के स्थान में ३क अनुदात्त का चिह्न है।

९. साम-वेद में मन्त्र के अन्त में उदात्तत्व-सूचक चिह्न (२) संख्या लगती है। जैसे—वयम (कौ. १,१४)। यह अन्तोदात्त शब्द मन्त्र के अन्त में पठित है। इसलिए 'यम' पर (२) संख्या का चिह्न है।

१०. साम-वेद में मन्त्र के अन्त में अनेक अ-व्यवहित उदात्तों का ज्ञान कराने के लिए सबसे पहले उदात्त अक्षर पर (२) संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे—महाँ हि षः (कौ. २,६६) यहां मन्त्रान्त में 'हि, षः' दोनों उदात्तों का ज्ञान कराने के लिए पूर्ववर्ती उदात्त 'हाँ' के सिर पर (२) संख्या का चिह्न है।

११. शतपथ-ब्राह्मण (माध्यन्दिन तथा काण्व) में उदात्त का चिह्न उदात्त अक्षर के नीचे पड़ी (–) रेखा है (जो चिह्न अन्यत्र अनुदात्त का है)। इस ब्राह्मण-शाखा में अनुदात्त का कोई चिह्न नहीं है। किसी शब्द में अक्षर के नीचे लगाई गई यह पड़ी (–) रेखा उदात्त अक्षर का ज्ञान करायेगी। जैसे—प्रोचणीरध्वर्युरादत्ते (माश. १,२,३,१) यहां 'प्रो' और 'आ' दोनों उदात्त अक्षर हैं।

१२. शतपथ-ब्राह्मण में जहां अव्यवहित अनेक उदात्त इकट्ठे पड़े हों। वहां सबसे अन्तिम अक्षर के नीचे ही उदात्तत्व-सूचक पड़ी (–) रेखा लगेगी[1]। (स्मरण रहे साम-वेद में इसके विपरीत अनेक अव्यवहित उदात्तों के ज्ञान के लिए सबसे पहिले अक्षर पर १ संख्या लगती है)। जैसे—स आदत्ते (काश. ४,१,२,६) अग्निमादत्ते (माश. ४,६,१,४) अध्वर्युरादत्ते (माश. १,२,३,१) इन सब स्थलों में क्रमशः 'आ' उदात्त पूर्ववर्ती उदात्त 'सः' का, 'आ' उदात्त पूर्ववर्ती उदात्त 'ग्नि' का, 'आ' उदात्त पूर्ववर्ती उदात्त 'र्यु' का ज्ञान करा रहा है। यही न्याय अव्यवहितपूर्ववर्ती तीन या चार उदात्त अक्षरों में भी चलता है।

१३. शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त-स्वर के निर्देश में एक विशेषता यह भी है कि यदि अग्रिम ब्राह्मण का आदि अक्षर उदात्त है तो पूर्ववर्ती ब्राह्मण के अन्त में उदात्त अक्षर के नीचे उदात्तत्व का ज्ञान कराने

1. अन्त्यं संहतानाम् (भाष्. १,१६)।

के लिए (...) ऐसी नीचे पड़ी हुई तीन बिन्दुएं लग जाती हैं। जैसे—माश. १,३,४,७-८ में 'समिद्धि वसन्तः । अथाभ्याधाय जपति' यह दो ब्राह्मण हैं। दूसरे ब्राह्मण के आदि में 'अ' के नीचे उदात्त-चिह्न है। उसके पूर्व ब्राह्मण-समाप्ति-सूचक पूर्ण-विराम (।) है। और उसके पूर्ववर्ती 'वसन्तः' इस अन्तोदात्त शब्द के 'न्त' के नीचे ब्राह्मण के अन्त में उदात्तत्व सूचक (...) नीचे पड़ी तीन बिन्दुएं हैं (वेबर-संस्करण देखें)। यहीं पर 'समिद्धि' (समित्, द्धि) शब्द में 'द्धि' के नीचे उदात्त का चिह्न है। और इस एक चिह्न से पूर्ववर्ती 'समित्' शब्द के अन्तिम 'मित्' के उदात्त का बोध हो जाने के कारण 'मि' के नीचे उदात्तत्व-सूचक चिह्न लगाने की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

सप्तम अध्याय

एकश्रुति प्रकरण

[१ एक-श्रुति का महत्त्व, २ स्वर-संचार प्रकार]

१. एक-श्रुति का महत्त्व

स्वर-संचार की सामग्री पद-पाठ में भी मिल जाती है। संहिता-पाठ में विशेष ध्यान देने योग्य एक-श्रुति है। (आगामी उदात्त की श्रुति तक) स्वरित से अनन्तरपरवर्ती सम्पूर्ण अनुदात्तों को संहिता-पाठ में एक-श्रुति कहते हैं[१]। ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित चिह्न से आगे सपूर्ण रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति कहलाते हैं। जब तक आगे रेखा-शून्य उदात्त अक्षर उपस्थित न हो, एक-श्रुति का ही अधिकार चलता है। परन्तु रेखा शून्य एक-श्रुति से रेखा शून्य उदात्त अक्षर का भेद बताने के लिए रेखा-शून्य उदात्त अक्षर से अनन्तर पूर्व के अक्षर के (यथार्थ में यह अक्षर एक-श्रुति का ही अङ्ग है, किन्तु व्याकरण के नियम के अनुसार आगामी रेखा-शून्य उदात्त अक्षर के या ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर के कारण इसको सन्नतर या अनुदात्ततर कहा जाता है[२], और उसका चिह्न नीचे पड़ी अनुदात्त की रेखा है) नीचे अनुदात्त की नीचे पडी रेखा अवश्यम्भावी है। यही अनुदात्त-रेखा रेखा-शून्य एक-श्रुति तथा रेखा-शून्य उदात्त के मध्य में विच्छेदक रेखा है।

संहिता-पाठ के निर्माण के लिए पहले पद-पाठ के प्रथम पद 'अ॒ग्निम्' के अन्तिम 'ग्निम्' तथा दूसरे क्रिया-पद 'ई॒ळे' के आद्य अक्षर 'ई॒' का स्वर देखिये। 'ग्नि' अक्षर अनुदात्त-रेखा वाले 'अ॒' के अनन्तर रेखा शून्य उदात्त है। आगे 'ई॒' 'ई॒ळे' क्रिया का प्रथम अक्षर अनुदात्त है। संहिता-पाठ में 'ईळे' क्रिया का यही आद्य अनुदात्त 'ई' अक्षर स्वरित में बदल जायेगा। क्योंकि व्याकरण के नियम से उदात्त अक्षर के अनन्तरपरवर्ती अनुदात्त अक्षर को स्वरित हो जाता है[३]। अब पद-पाठ का अ॒ग्निम्। ई॒ळे॒

---

१. स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (पा १,२,३९)। २. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (पा १,२,४०)। ३. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (पा ८,४,६६)।

इतना वाक्य संहिता-पाठ में अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ. १,१,१) इस स्वरूप में परिवर्तित हो गया। 'अ॒ग्निमी॑ळे' इस संहिता-पाठ के साथ अब पद-पाठ के तीसरे पद 'पु॒रःऽहि॑तम्' को जोड़ना है। क्योंकि 'पु॒रःऽहि॑तम्' के आद्य अक्षर 'पु' के नीचे अनुदात्त-रेखा का चिह्न उसके अनन्तर-परवर्ती रेखा-शून्य उदात्त अक्षर 'रः' का बोधक है, इसलिए 'अ॒ग्निमी॑ळे' इस संहिता-पाठ में 'मी' इस ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर से अनन्तर श्रूयमाण रेखा-शून्य 'ळे' अक्षर एक-श्रुति कहलायेगा। इसी प्रकार 'पु॒रःऽहि॑तम्' शब्द में 'तम्' यह रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति है, क्योंकि ऊर्ध्व-रेखा वाले 'हि' स्वरित अक्षर के परवर्ती है। अब हम पद-पाठ के अवग्रह चिह्नों को हटाकर अ॒ग्निम्। ई॒ळे॒। पु॒रःऽहि॑तम्। इस पद-पाठ का संहिता-पाठ 'अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तम्' ऐसा पढ़ेंगे।

यदि संहिता-पाठ के पाद के आदि में ही उदात्त (रेखा-शून्य) अक्षर है, तो उसके पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) की आवश्यकता नहीं होती। वहां प्रथम उदात्त अक्षर के अनन्तरपरवर्ती अनुदात्त अक्षर को भी उसी स्थिति में ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित होगा, यदि उस अनुदात्त के आगे पुन. रेखा-शून्य उदात्त न आ रहा होगा। अन्यथा पूर्व अक्षर उदात्त, दूसरा अक्षर अनुदात्त और तीसरा अक्षर फिर उदात्त यही स्वरों का क्रम चलेगा। जैसे—'अग्न॒ आ या॑हि वी॒तये॑' (ऋ. ६,१६,१०) इस संहिता-पाठ में प्रथम अक्षर 'अ' उदात्त है। 'अग्ने' शब्द मन्त्र के प्रारम्भ में किसी अन्य पद से परे न होने के कारण आद्युदात्त आमन्त्रित पद है। यदि 'अग्ने' के अनन्तर पर में 'आ' यह फिर उदात्त अक्षर न आता तो प्रथम आद्युदात्त 'अ' अक्षर के बाद 'ग्न' अनुदात्त अक्षर अवश्य स्वरित होता, और उसके ऊपर स्वरित की खड़ी (।) रेखा होती। जैसे पद-पाठ में 'अग्ने' इस निर्देश से स्पष्ट है। इसके विपरीत इस संहिता-पाठ में 'ग्न' के बाद 'आ' यह उदात्त अक्षर आ रहा है, इस लिए स्वरित का संकेत ऊर्ध्व-रेखा न लगा कर सन्नतर (अनुदात्त) की सूचक पड़ी रेखा 'ग्न' के नीचे लगी हुई है। आगे 'आ' उदात्त के कारण 'याहि' क्रिया का प्रथम अक्षर 'या' स्वरित, और 'हि' एक-श्रुति है। 'वीतये' में क्रम से अनुदात्त उदात्त स्वरित वर्तमान है।

तात्पर्य यह कि संहिता-पाठ हो या पद-पाठ ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर के पश्चात् और सन्नतर (अनुदात्त) के निर्देशक अनुदात्त-

रेखाङ्कितअक्षर से पूर्व तक जो भी रेखा-शून्य अक्षर होंगे, एक-श्रुति कहलावेंगे। पृष्ठ ११-१२ में भी लिखा जा चुका है।

२. स्वर-संचार-प्रकार

संहिता-पाठ में अनुदात्त, उदात्त, स्वरित और एक-श्रुति (प्रचय) की अनुस्यूत स्वर-शृङ्खला के ज्ञान की सुविधा के लिए स्वर-संचार का प्रकार शाकल्य-शैली से जान लेना चाहिए।

१. संहिता-पाठ या पद-पाठ में अक्षर के नीचे पड़ी हुई रेखा (–) अनुदात्त की सूचक होती है।

२. अनुदात्त (सन्नतर) के अनन्तर रेखा-शून्य उदात्त अक्षर होगा।

३. यदि किसी पाठ में दो या तीन अक्षरों वाला सर्वानुदात्त शब्द है, उसका झटिति ज्ञान संहिता-पाठ में न होकर पद-पाठ में सुगम होगा। जैसे—'त्वा शतक्रतोऽभि प्रणोनुवुः' (ऋ. ६,४५,२५) इस संहिता-पाठ में रेखा-चिह्न के आधार पर सर्वानुदात्त शब्द की इयत्ता का तुरन्त ज्ञान नहीं होता। जब त्वा। शतक्रतो इति शतऽक्रतो। अभि। प्र। नोनुवुः। ऐसा पद-पाठ करते हैं तो अनुदात्त की इयत्ता का ज्ञान हो जाता है कि जिन जिन के नीचे पड़ी रेखा (–) है, यह सब अनुदात्त अक्षर हैं, और अनुदात्त-चिह्न से युक्त अक्षरों के पश्चात् जो रेखा-शून्य अक्षर हैं, वे उदात्त हैं। और उदात्त अक्षर के अनन्तर यदि कोई ऊर्ध्व-रेखा (।) वाला अक्षर उपलब्ध है तो वह स्वरित है। यहां 'त्वा' अनुदात्त, 'शतक्रतो' अनुदात्त, 'अभि' का 'अ' अनुदात्त, 'भि' उदात्त, 'प्र' उदात्त और 'नोनुवुः' यह सारी क्रिया अनुदात्त है। परन्तु यह अनुदात्तों की इयत्ता का अनुगम पद-पाठ में ही संभव है, संहिता-पाठ में नहीं। संहिता-पाठ में तो उदात्त अक्षर के अनन्तर-भावी अनुदात्त को संहिता-स्वरित होते ही स्वरित-सूचक खड़ी रेखा (।) के अनन्तरवर्ती सभी अनुदात्त एक-श्रुति के अङ्ग बन जाते हैं, और उनकी स्थिति का तब तक ज्ञान नहीं होता, जब तक आने वाले उदात्त अक्षर को बतलाने के लिए उदात्त अक्षर से पूर्ववर्ती अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा (–) का संकेत उपलब्ध न हो। जैसे इस मन्त्र के 'त्वा शतक्रतो' इतने एक-श्रुति बने हुए अनुदात्त अक्षरों का ज्ञान तभी संभव है, जब कि आगामी 'भि' उदात्त का बोध कराने के लिए अभिनिहित (पूर्वरूप) संधि में 'तो' के नीचे अनुदात्त (सन्नतर) का चिह्न दृष्टिगोचर हो रहा है।

४. रेखा-शून्य उदात्त अक्षर के पश्चात् संहिता-पाठ में ऊर्ध्व-रेखा (꠰) वाला अक्षर स्वरित होगा। ऊर्ध्व-रेखा वाले स्वरित अक्षर के अनन्तर-परवर्ती समस्त रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति कहलाते हैं।

५. उदात्त और स्वरित (जात्य-स्वरित तथा संधि-स्वरित) के पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) की (–) रेखा रहना अत्यावश्यक है। जात्य-स्वरित से पूर्व अनुदात्त रेखा का उदाहरण—ग्रीयँम् (ऋ. १०,६७,२१) है, और संधि-स्वरित से पूर्व अनुदात्त रेखा का उदाहरण—याभि-र्व्यँश्वम् (ऋ. १,११२,१५) है। दोनों ही स्थलों पर स्वरित की ऊर्ध्व-रेखा से पूर्व अनुदात्त (सन्नतर) की रेखा है।

६. संहिता-स्वरित से पूर्व रेखा-शून्य उदात्त होना अनिवार्य है।

७. समस्त या अ-समस्त शब्द में एक ही अक्षर उदात्त या स्वरित (जात्य तथा संधि-स्वरित) होगा। शेष सभी अक्षर अनुदात्त होंगे।

८. यदि कोई दो अक्षर वाला आद्युदात्त शब्द है, तो पहला अक्षर रेखा-शून्य उदात्त और दूसरा अक्षर ऊर्ध्व-रेखा (꠰) से युक्त स्वरित होगा। जैसे—अर्वन् (ऋ. १,२७,१२) शब्द में दो ही अक्षर हैं।

९. यदि तीन अक्षरों वाला आद्युदात्त शब्द है तो पहला रेखा-शून्य उदात्त, दूसरा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित, तीसरा रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति होगा। जैसे—'अर्वन्तः' (ऋ. १,४२,१)।

१०. यदि तीन अक्षरों वाला मध्योदात्त शब्द है तो पहला अक्षर नीचे पड़ी रेखा (–) से युक्त अनुदात्त, दूसरा रेखा-शून्य अक्षर उदात्त, तीसरा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित होगा। जैसे—'अस्मार्कम्' (ऋ. १,७,१०)।

११. यदि चार अक्षरों वाला ऐसा शब्द है जिसका दूसरा अक्षर उदात्त है, तो पहला अक्षर अनुदात्त, दूसरा रेखा-शून्य उदात्त, तीसरा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित और चौथा रेखा-शून्य अक्षर एक-श्रुति होगा। जैसे—अस्माकांनः (ऋ. १,१०,२) अस्मार्केभिः (ऋ. १,१००,६) पुर्नर्दिवम् (ऋ. १,१२९,१०) इत्यादि।

१२. यदि मध्योदात्त शब्द चार अक्षरों वाला है और उसका तीसरा अक्षर उदात्त है, तो पहले दो अक्षरों के नीचे अनुदात्त-रेखा, तीसरा उदात्त और चौथा ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित होगा। जैसे—सुरभिर्मन्त् (ऋ. ३,५२,१) परन्तु यह स्थिति पद-पाठ में मिलेगी संहिता-पाठ में नहीं।

१३. यही स्थिति पांच अक्षरों वाले शब्द की होगी, यदि उसका तीसरा अक्षर उदात्त होगा। इसमें पांचवां अक्षर एक-श्रुति हो जाएगा। जैसे—धर्णऽओभंना (ऋ. ८,७८,३)।

१४. यदि छः अक्षरों का शब्द हो और चौथा अक्षर उदात्त हो तो पहले तीन अक्षरों के नीचे अनुदात्त की रेखा, चौथा रेखा-शून्य अक्षर उदात्त, पांचवां ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित और छठा रेखा-शून्य एक-श्रुति। जैसे—पद-पाठ में 'गर्तेऽआरुर्गिव' (ऋ. १,१२४,७)।

१५. यदि शब्द अन्तोदात्त है तो अन्तिम रेखा-शून्य उदात्त अक्षर से पूर्ववर्ती एक, दो या अधिक अक्षरों के नीचे पद-पाठ में अनुदात्त-रेखा का चिह्न होगा। जैसे—अर्वाः (ऋ.३,५४,१४) अर्णवम् (ऋ.१,१९,७) आऽद्वादशम् (ऋ. १०,११४,६) अराति‌ऽयुतः (ऋ. १,६१,१)।

१६. तिङन्त क्रियाएं प्रायः सर्वानुदात्त होती हैं। जैसे—विधुते (ऋ. १०,६४,२) विन्दन्ति (ऋ. १,१०५,१) आदि।

१७. यदि क्रिया के किसी भी अक्षर पर उदात्त है तो शेष अक्षरों पर पूर्व प्रक्रिया के अनुसार चिह्न निर्देश होगा। जैसे—आऽजुहोति (ऋ. ७,१,२३) आऽजगाम (ऋ. १०,२८,१) आदि।

१८. आमन्त्रित शब्द प्रायः सर्वानुदात्त होंगे। जैसे—कुशिकाः (ऋ. ३,५३,१०) नासत्या (ऋ. १,३४,७) आदि।

१९. यदि आमन्त्रित शब्द आद्युदात्त है तो पहला अक्षर उदात्त, दूसरा स्वरित, शेष एक-श्रुति। जैसे—इन्द्रावरुणा (ऋ. १,१७,३) आदि।

अष्टम अध्याय

उदात्त-प्रकरण

[१. उदात्त-परिभाषा, २. सति-शिष्टस्वर, ३. तिङन्त-स्वर, (क) विकरण-भेद से नौ गणों की निष्पत्ति, (ख) णिजन्तादि-स्वर, (ग) लसार्वधातुक-स्वर, (घ) आर्धधातुक-स्वर, ४. उदात्त-स्वर, ५. आद्युदात्त-स्वर, ६. आद्युदात्तस्वर-विधायक नियम, ७. मध्योदात्त-स्वर, ८. अन्तोदात्त-स्वर, ९. विभक्ति-स्वर, १०. समास-स्वर, ११. नञ्-स्वर, १२. सु-स्वर, १३. आद्यन्त-उदात्त-स्वर, १४. द्वि-उदात्त-स्वर, १५. त्रि-उदात्त-स्वर ।]

१. उदात्त-परिभाषा

उदात्त-प्रकरण प्रारम्भ करने से पूर्व अत्यावश्यक सामान्य परिभाषाओं पर विवेचन कर लेना चाहिए—

१. उदात्तस्वर-युक्त शब्द कई प्रकार के हैं। (१) उदात्त, (२) आद्युदात्त, (३) मध्योदात्त, (४) अन्तोदात्त, (५) आद्यन्तोदात्त, (६) द्वि-उदात्त, (७) त्रि-उदात्त। इनमें शब्द के जिस अक्षर पर उदात्त या स्वरित का चिह्न होगा, उससे अतिरिक्त समस्त अक्षर अनुदात्त होंगे[1]। इस परिभाषा की आवश्यकता एकाक्षर शब्दों के अतिरिक्त संपूर्ण शब्दों में आदि, मध्य या अन्त में उदात्त-स्वर की व्यवस्था करने के लिए है। और उदात्त-स्वर की व्यवस्था होने के पश्चात् शब्द के शेष अक्षर स्वतः अनुदात्त होंगे।

व्याकरण-महाभाष्य के अनुसार आगम, विकार (आदेश), प्रकृति (धातु) तथा प्रत्यय के स्वरों की व्यवस्था के लिए इस परिभाषा की आवश्यकता है[2]। यथा—आगम-स्वर—चतुर् शब्द का प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'चत्वारः' (ऋ. १,१२२,१५) रूप बनता है। जो कि चतुर् शब्द के अन्तिम स्वर 'उ' को आम्-आगम करके निष्पन्न होता है, यह 'आम्' आगम उदात्त होता है[3]। आगम-

---

१. 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८)।

२. 'आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः' ॥ (महाभाष्य ६,१,१५८)।

३. 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' (पा. ७,१,९८)।

नियम के अनुसार मित् (जिसमे 'म' की इत्संज्ञा हो रही हो) आगम शब्द के अन्तिम स्वर के बाद उसका अवयव होकर होता है[1], इस लिए 'चतुर्' शब्द से 'चत्वारः' सिद्ध होने की साध्यावस्था चतु+आम्+र्+अस् >(अनुबन्ध-लोप के पश्चात्) चतु+आ+र्+अस् >(यण्-संधि से) चत्+व्+आ+र्+अस्=चत्वार होगी। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि 'चतुर्' शब्द स्वतन्त्र था और उसका आद्युदात्त स्वर था। क्योंकि 'चतेरुरन्' (उणादि ५,५८) सूत्र से √चत् धातु से 'उरन्' प्रत्यय होकर नित्-स्वर (इसी प्रकरण मे आगे देखें) से 'चतुर्' शब्द आद्युदात्त निष्पन्न हुआ है। पश्चात् उससे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन मे उदात्त 'आम्' आगम हुआ। अब एक ही 'चत्वार' शब्द मे आद्युदात्तत्व और मध्योदात्तत्व की प्राप्ति है। इस परिभाषा के अनुसार 'चतुर्' प्रकृति के आद्युदात्त स्वर की अपेक्षा मध्योदात्तत्व विधायक 'आम्' आगम का स्वर बलवान् है, अत 'चत्वार' मे आगम का स्वर माना जाता है और शेष अक्षर अनुदात्त होते हैं, तथा 'त्वा' उदात्त के बाद अनुदात्त 'र' स्वरित हो जाता है। ऐसे ही 'चत्वारि' (ऋ. १,१६४,४५) है। विकार-स्वर—यथा—'अस्थि' शब्द आद्युदात्त है, जो 'असिसञ्जिभ्यां क्थिन्' (उणादि ३,१५४) के नियम से (√अस्+क्थिन्) निष्पन्न हुआ है, और पूर्ववत् नित्-स्वर से आद्युदात्त है। 'अस्थि' शब्द के तृतीया विभक्ति के एकवचन (अस्थि+आ) मे अस्थि के अन्त्यावयव 'इ' के स्थान मे 'अनङ्' आदेश (विकार) उदात्त हुआ है[2], जो कि अस्थ्+अनङ्+आ> अस्थ्+अन्+आ>अस्थन्+आ>अस्थ्न्+आ='अस्थ्ना' (तै. ६,५,२,२) रूप मे परिणत हो गया है। यहा भी 'अस्थि' शब्द का अपना आद्युदात्त-स्वर रहे या विकार (आदेश) 'अनङ्' का उदात्त-स्वर रहे, इस विवाद मे परिभाषा की व्यवस्था से विकार-स्वर से अन्तोदात्तत्व की व्यवस्था होती है, और शेष 'अ' अनुदात्त होता है।

प्रकृति-स्वर—यथा—गोपायन्ति (ऋ. १०,१५४,५)। यह रूप √गुपू 'रक्षणे' धातु से स्वार्थ मे 'आय' प्रत्यय[3] करके आयन्त प्रकृति

१. 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (पा. १,१,४७)।
२. 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (पा. ७,१,७५)।
३. 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' (पा. ३,१,२८)।

को धातु मान कर[१] इससे प्रथम पुरुष के बहुवचन में सिद्ध हुआ है। यहां प्रथम √गुप धातु धातु-स्वर[२] (आद्यन्तवद्भाव से) से अन्तोदात्त है। √गुप् धातु से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय हुआ तो प्रत्यय-स्वर[३] से आय-प्रत्यय को आद्युदात्तत्व प्राप्त है, फिर 'गोपाय' इस आयन्त शब्द की धातु-संज्ञा होने पर 'गोपाय' इस प्रकृति को धातु-स्वर से अन्तोदात्तत्व प्राप्त है, भाव यह कि मूल धातु के स्वर से 'गोपाय' आद्युदात्त, आय-प्रत्यय के स्वर से 'गोपाय' मध्योदात्त और आयन्त शब्द की धातु-संज्ञा करके 'गोपाय' अन्तोदात्त प्राप्त है। तीनों स्वरों की व्यवस्था के लिए 'सति-शिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्यः' इस परिभाषा की आवश्यकता हुई। जिसका तात्पर्य यह है कि शब्द में एक स्वर के व्यवस्थित होने पर (सति) जो शेष बचे उसका स्वर बलवान् होता है (शिष्टस्वर-बलीयस्त्वम्) अर्थात् धातु-स्वर से प्रत्यय-स्वर बलवान् होता है, क्योंकि धातु-स्वरूप के उपपन्न होने पर ही उससे प्रत्यय होता है। धातु-स्वर का शेष प्रत्यय-स्वर है और प्रत्यय-स्वर होना चाहिए, परन्तु आयन्त-प्रकृति की धातु-संज्ञा दोनों की अपेक्षा सति-शिष्ट है, इसलिए 'सति-शिष्टस्वरबलीयस्त्वम्' के नियम से 'गोपाय' धातु का अन्तोदात्तत्व स्वर धातु-स्वर से व्यवस्थित हो जाता है, और शेष 'गोपा' अक्षर अनुदात्त होते हैं तथा स्वरित-प्रक्रिया से 'न्ति' स्वरित। ऐसे ही 'गोपायतम्' (ऋ. ६,७४,४) आदि हैं।

प्रत्यय-स्वर—यथा—कर्तव्यम् (माश. १,२,५,११) यह मध्योदात्त शब्द शतपथ-ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। 'कर्तव्यम्' (तै. १,५,२,४) यह स्वरितान्त शब्द अन्यत्र वेद में। इसी शब्द-भेद की उपपत्ति के लिए महर्षि पाणिनि ने 'तव्यत्तव्यानीयरः' (पा. ३,१,९६) सूत्र बनाया है, जिस में तित् ('त्' की इत्संज्ञा वाला) होने से 'तव्यत्' प्रत्यय से स्वरितान्त 'कर्तव्य' शब्द की निष्पत्ति 'तित्स्वरितम्' (पा. ६,१,१८५) सूत्र से और 'तव्य' प्रत्यय से प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त 'कर्तव्य' शब्द की सिद्धि हो जाती है। दोनों ही स्थितियों में हैं दोनों प्रत्यय-स्वर ही। यह दोनों स्वर सति-शिष्टस्वर हैं, क्योंकि धातु-स्वर से √कृ धातु का

७. 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा. ३,१,३२)।
सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाऽऽचारक्विब्-णिज् यङौ तथा।
यगाय-ईयङ्-णिङ् चेति द्वादशाऽमी सनादयः॥
८. 'धातोः' (पा. ६,१,१६२)। ९. 'आद्युदात्तश्च' (पा. ३,१,३)।

अन्तोदात्तत्व-स्वर पूर्व में विद्यमान है। धातु-स्वर से √कृ का स्वर मान कर 'कर्त्तव्य' शब्द आद्युदात्त हो या प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त या अन्त स्वरित। प्रकृत परिभाषा की सामर्थ्य से 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम्' की चरितार्थता होती है, और धातु-स्वर से प्रत्यय-स्वर बलवान् होकर मध्योदात्त तथा अन्त-स्वरित दोनों स्वर उपपन्न होते हैं। शेष अंश अनुदात्त रहता है।

स्वरित का उदाहरण यथा—'वीर्यैण' (ऋ २,११,५) है। 'वीर्य' शब्द 'बिल्वभक्ष्यवीर्याणि छन्दसि' (फिट्सूत्र ४,६) से अन्त-स्वरित है। 'र्यै' अक्षर के स्वरित व्यवस्थित होने पर उक्त परिभाषा सूत्र से शेष दोनों 'वी' और 'ण' अक्षर अनुदात्त हैं। 'वी' के नीचे आगामी स्वरित दिखाने के लिए सन्नतर की अधो रेखा है और 'ण' एक-श्रुति रेखा-शून्य है। कुछ विवेचन पृष्ठ ८२ पर 'स्वर-सचार प्रकार' प्रकरण में भी किया गया है।

२. उदात्त अक्षर के साथ उदात्त अक्षर का एकादेश हो तो उदात्त, उदात्त के साथ अनुदात्त का एकादेश हो तो उदात्त और उदात्त के साथ स्वरित का एकादेश हो तो भी उदात्त ही होता है[1]। भाव यह कि उदात्त अक्षर के साथ किसी स्वर का भी एकादेश हो तो यह उदात्त ही होगा। इसके विपरीत काशिकाकार और स्वरमञ्जरीकार के मत में पूर्व-सूत्र 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा. ८,२,४) से इस प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तस्य' की अनुवृत्ति है, अतः उदात्त के साथ अनुदात्त के एकादेश का ही प्रकृत सूत्र विधायक है, अन्य के साथ नहीं, परन्तु उनका मत आगे प्रस्तुत किए जाने वाले वैदिक उदाहरणों से पुष्ट नहीं होता।

(क) उदात्त का उदात्त के साथ एकादेश उदात्त यथा—भूतार्य शिप्रा (ऋ ४,३७,४)। इसका पद-पाठ 'भूत। अर्य ऽशिप्रा' है। पाद के आदि में होने से भूत (लोट्-मध्यमपुरुष के बहुवचन) में यादेश 'त' का सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय-स्वर श्रूयमाण है, और उस 'त' उदात्त के साथ अनन्तरवर्ती 'अर्य ऽशिप्रा' शब्द के आदि 'अ' उदात्त का एकादेश होकर संहिता-पाठ में 'भूतार्य शिप्रा' इस प्रकार दीर्घीभूत 'ता' उदात्त है। ऐसे ही नीणार्यमानम् (ऋ ४,३८,५ पपा. नीणा। अर्यमानम्) भी है।

---

1. एकादेश उदात्तेनोदात्तः (पा. ८,२,५)।

(ख) उदात्त का अनुदात्त के साथ एकादेश उदात्त-यथा—'इहैवोत' (शौ. ३,१४,५ पपा. इह । एव । उत)। यहां पूर्व पूर्व उदात्त के साथ उत्तरोत्तर अनुदात्त की संधि में उदात्त हो रहा है। 'उग्रासि' (ऋ. ४, ३०,२२ पपा. उग्र । असि) यहां 'उग्र' के अन्तोदात्त 'त' के साथ 'असि' अनुदात्त क्रिया के आद्यक्षर अनुदात्त 'अ' का दीर्घ एकादेश 'ता' उदात्त हुआ है। 'देवाधा' (ऋ. १,११४,१० पपा. देव । अध) यहां तीसरे पाद के अन्त में स्थित सर्वानुदात्त आमन्त्रित 'देव' के अन्तिम अनुदात्त 'व' के साथ चौथे पाद के आदि 'अध' शब्द के उदात्त 'अ' का दीर्घादेश 'वा' उदात्त है। 'विरप्शीमम्' (ऋ. ४,२०,२ पपा. विरप्शी । इमम्) में दीर्घ एकादेश से 'ई' उदात्त है। दो इकारों के प्रश्लेष (संधि) में शाकल्य के मत में उदात्त पूर्व में हो तो अनुदात्त को स्वरित होता है, ऐसे ही क्षैप्र-संधि (यण्-संधि) तथा अभिनिहित (पूर्वरूप) संधि में भी[1]। जैसे—'दिवीव चक्षुराततम्' (ऋ. १,२२,२०) यहां 'दिवि+इव' इस स्थिति में 'इव' सर्वानुदात्त के पूर्वावयव अनुदात्त 'इ' के साथ पूर्व-स्थित 'दिवि' के अन्त्यावयव उदात्त 'वि' की दीर्घ-संधि होकर 'वी' पर स्वरित का निर्देश है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा में यही मन्त्र है, परन्तु दीर्घ-संधि में स्वरित का निर्देश नहीं, प्रत्युत 'वी' उदात्त है। जैसे—'दिवीव चक्षुराततम्' (तै. १,३,६,२; ४,२,६,४)। यह तो शाखान्तर-कृत भेद है। ऋग्वेद में ही दीर्घ-संधि में जहां परवर्ती अनुदात्त दीर्घ ईकार के साथ पूर्ववर्ती ह्रस्व 'इ' उदात्त की संधि हो रही है स्वरित नहीं अपितु उदात्त की उपलब्धि होती है। जैसे—'दिवीयते' (ऋ. १,१३०,४ पपा. दिवि । ईयते) में 'वी' उदात्त है। इसके विपरीत 'वी३दं ज्योतिर्हृदये' (ऋ. ६,९,६) में 'वि' का 'इदम्' के अनुदात्त 'इ' के साथ एकादेश 'वी' स्वरित है, और दीर्घ-कम्प का चिह्न वर्तमान है। एक ही वेद में कहीं दीर्घ-संधि उदात्त, कहीं स्वरित, क्या व्यवस्था हो, आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दीर्घ 'ई' के साथ संधि में उदात्त[2], अन्यथा स्वरित। 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' (पा. ८,२,६) पद ⌊उत्तरवर्ती शब्द⌋ के आदि में स्थित अनुदात्त के साथ पूर्ववर्ती उदात्त का एकादेश विकल्प से स्वरित होता है, सूत्र का यह निष्कर्ष है।

---

1. इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च ।
   उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् ॥ (ऋप्रा. ३,१३)
2. दीर्घप्रवेशे तूदात्तः (सिद्धान्त कौमुदी) ।

३ उदात्त के साथ स्वरित के एकादेश में भी उदात्त यथा—'वार्वरं मरुत' (ऋ. १,१६८,६ पपा कं । अवरम) में 'कं' स्वरित के साथ आद्युदात्त 'अवंर' शब्द के 'अ' का दीर्घ एकादेश होकर 'का' उदात्त श्रूयमाण है।

४. अनुदात्त के साथ अनुदात्त के दीर्घ एकादेश में उदात्तत्व की योग्यता नहीं, अतः एकादेश भी अनुदात्त रहेगा। जैसे—'घासि' (ऋ. ४,३२,२ पपा. घ । असि)। यह प्रकृत सूत्र-नियम का प्रत्युदाहरण है।

२. सति शिष्टस्वर

प्रसङ्गवश 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्य' इस परिभाषा का भी स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। पहले बताया गया है कि किसी स्वरूप के व्यवस्थित होने पर जो शेष बचे, उसका स्वर बलवान् होता है (सति यच्छिष्यते तस्य स्वरस्य बलीयस्त्व भवति)। दूसरे शब्दों में जो शेष बचता है उसका स्वर पूर्वसिद्ध-स्वर का बाधक होता है[1]। जैसे—'वीथ' (ऋ १,१५१,७) यह √वी धातु से लट् में मध्यम-पुरुष के द्विवचन में सिद्ध प्रयोग है। √वी धातु के अदादि-गणी होने के कारण शप्-विकरण का लुक् हो जाता है। √वी धातु को धातु-स्वर से अन्तोदात्तत्व पहले विद्यमान है। पीछे से 'थस्' (लादेश) प्रत्यय हुआ। प्रत्यय-स्वर से 'थस्' भी उदात्त है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा ६,१,१५८) परिभाषा की सामर्थ्य से एक शब्द में एक ही उदात्त होना चाहिए। 'वीथ' में धातु-स्वर से उदात्त होकर 'वीं' को उदात्त हो और 'वीथ' ऐसा आद्युदात्त शब्द बने या प्रत्यय-स्वर से 'थस्' प्रत्यय उदात्त होकर अन्तोदात्त 'वीथ.' शब्द हो, इस स्थिति में सति-शिष्टस्वर के नियम की क्रियात्मक रूप में उपस्थिति होती है। और प्रत्यय-स्वर से धातु-स्वर का बाध होकर अन्तोदात्त 'वीथ' शब्द की निष्पत्ति होती है।

इससे सिद्ध हुआ कि धातु और प्रत्यय के स्वरों में प्रत्यय-स्वर बलवान् होगा। परन्तु 'पुनाति' (ऋ १,१६०,३) आदि शब्दों में 'श्ना' विकरण √पूञ् 'पवने' धातु तथा प्रथम-पुरुष के 'तिप्' (लादेश) प्रत्यय के पश्चात् हुआ है। इसी लिए सति शिष्टस्वर से 'श्ना' का स्वर सपन्न हुआ है। क्योंकि 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा ३,१,४) सूत्र के नियम

1. यो हि यस्मिन सति शिष्यते स तस्य बाधको भवति (काशिका)।

से तिप् (लादेश) प्रत्यय पित् (प् की इत्संज्ञा वाला) होने के कारण अनुदात्त है, विचार शेष रहता है कि धातु-स्वर से √पू धातु उदात्त हो या श्ना-विकरण उदात्त हो, सति-शिष्टस्वर के नियम से धातु-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर से 'श्ना' उदात्त होकर मध्योदात्त 'पुनाति' शब्द उपपन्न हो जाता है। ऐसे ही √मीञ् 'हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न 'मिनाति' (ऋ. १,१७१,१) रूप की भी उपपत्ति होगी। परन्तु 'पुनीषे' (ऋ. ७,८५,१) शब्द में सति-शिष्टस्वर चरितार्थ नहीं होता। √पू धातु के आत्मनेपद में मध्यम-पुरुष के एकवचन में थास् (लादेश) को 'से' आदेश होकर यह रूप सिद्ध हुआ है। सर्वप्रथम √पू धातु धातु-स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त है, सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से 'से' प्रत्यय प्रत्यय-स्वर से उदात्त श्रूयमाण है। 'पुनाति' के समान यहां 'पुनीषे' में भी श्ना-विकरण प्रत्यय-स्वर से उदात्त होना चाहिए, क्योंकि श्ना-विकरण धातु तथा 'से' प्रत्ययादेश दोनों के पश्चात् हुआ होने के कारण सति-शिष्ट है। परन्तु 'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्य'[३] (विकरण को छोड़कर ही सति-शिष्टस्वर बलवान् होता है) इस सिद्धान्त से 'से' के पश्चाद्भावी श्ना-विकरण का स्वर भी सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से सपन्न नहीं होता। 'पुनाति' में तो पित्-स्वर से अनुदात्त ने पहले ही प्रत्यय-स्वर को असमर्थ कर दिया, यहां तो प्रत्यय-स्वर तथा विकरण-स्वर का संघर्ष ही नहीं है, अत धातु-स्वर की अपेक्षा विकरण-स्वर को सति-शिष्ट मानकर निर्वाह हो गया। 'पुनीषे' में प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) के साथ विकरण-स्वर का संघर्ष है और इस सघर्ष में प्रत्यय-स्वर बलवान होगा, विकरण-स्वर नहीं। इसी प्रकार 'सिनीथ' (ऋ. ७,८४,२) शब्द भी √षिञ् 'बन्धने' धातु से लट् के मध्यम-पुरुष के द्विवचन में सिद्ध है। यहां पर भी 'श्ना' के विकरण-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर से 'थस्' (लादेश) प्रत्यय को उदात्तत्व हुआ है और विकरण होने के कारण 'अन्यत्र विकरणेभ्य' की शक्ति से 'श्ना' उदात्त नहीं हुआ। ये श्ना-विकरण के उदाहरण हैं।

श्नु-विकरण स्वादि-गण का है। स्वादि-गण की √षुञ् 'अभिषवे' धातु से 'सुनुत' (ऋ. ८,३१,५)। √चिञ् 'चयने' से 'चिनुषे'

३ विकरणस्वरस्तु सतिशिष्टोऽपि सार्वधातुकस्वरं न बाधते (काशिका ६,१,१५८)।

(ऋ० १०,११,५), √कृन् से 'कृणुतम्' (ऋ १,१३,१२) सिद्ध है। यहां सर्वत्र 'श्नु' विकरण की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर हो रहा है, जो कि 'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वर प्रत्यय-स्वरं न बाधते' इस नियम का निदर्शन है। यह सिद्धान्त वाचनिक नहीं, शास्त्र प्रतिपादित है। 'तास्यनुदात्तेत्०' (पा. ६,१,१८६) सूत्र में 'तासि' से परे ल-सार्वधातुक प्रत्यय को अनुदात्त का विधान इसमें बलवत्तर प्रमाण है। अन्यथा 'भवितास्म.' (शब्रा. १०,८,३,७) इस प्रयोग में √भू धातु से लुट् में उत्तम-पुरुष के बहुवचन में 'मस्' (ल-सार्वधातुक) प्रत्यय होने के बाद ही विकरण 'तासि' हुआ है। इसलिए √भू की अपेक्षा 'मस्' सति-शिष्ट है और 'मस्' से भी 'तासि' विकरण सति-शिष्ट है। 'सतिशिष्टस्वर बलीयस्त्वम्' इतने मात्र परिभाषा के स्वरूप से विकरण-स्वर के सति-शिष्ट होने के कारण 'तासि' का ही उदात्त स्वत सिद्ध था, और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा ६,१,१५८) सूत्र की मर्यादा से शेष अक्षरों को अनुदात्त होने के कारण ल-सार्वधातुक 'मस्' को अनुदात्त स्वत-सिद्ध था, फिर 'तास्यनुदात्तेत्०' सूत्र में 'तासि' से परे ल-सार्वधातुक को अनुदात्त का विधान करने के लिए 'तासि' का पाठ क्यों किया गया। उक्त अनुदात्त-विधायक सूत्र में 'तासि' का पाठ इसमें नियामक है कि विकरण-स्वर सति-शिष्ट भी प्रत्यय-स्वर से बलवान् नहीं होता। इस सिद्धान्त-ज्ञापन की सामर्थ्य से 'तासि' के विकरण-स्वर में सति शिष्टस्वर के बलवान् होने का नियम तो चरितार्थ होगा नहीं। फल-स्वरूप प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) बलवान् होने के कारण 'भवितास्म' ऐसा प्रयोग प्राप्त होगा, जो शतपथ-ब्राह्मण के पाठ से विरुद्ध है। जब सूत्र में 'तासि' को पढते हैं, तो विशेष-विधान की सामर्थ्य से सति-शिष्ट ल-सार्वधातुक प्रत्यय को भी सूत्र से अनुदात्त होकर तासि का स्वर चरितार्थ होता है।

३. तिङन्त-स्वर

तिङन्त क्रिया में सामान्यतया अनुदात्त स्वर होता है। क्योंकि किसी भी अ-तिङन्त (सुबन्त) से परवर्ती तिङन्त क्रिया को 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८,१,२८) सूत्र से सर्वानुदात्त हो जाता है। यदि कहीं वेद में तिङन्त क्रिया में उदात्त स्वर दृष्टि-गोचर होता है, तो उसमें ये विशेष कारण होने चाहिएं। यह विवेचन पृष्ठ ७० पर भी हो चुका है, प्रकरण-पुष्टि के लिये पुन प्रस्तुत है।

१. तिङन्त क्रिया मन्त्र के प्रारम्भ में हो। जैसे—'दहाशसो रक्षसः' (ऋ. ४,४,१५)। यहां मन्त्र के आदि में 'दह' क्रिया आद्युदात्त है। 'चकारि यज्ञं समिधान् हुरर्यक' (ऋ. ४,६,११) यहां मन्त्र के आदि में 'चकारि' क्रिया √कृ धातु का कर्म-प्रक्रिया में लुङ् लकार के प्रथम-पुरुष में एकवचन का रूप है। अ-तिङ् से परे न होने के कारण तिङन्त को निघात नहीं होता।

२. तिङन्त क्रिया पाद के आदि में हो। जैसे—'शंसात्युक्थम' (ऋ. ४,६,११)। यहां √शंस् धातु का लेट् लकार में 'शंसाति' रूप पाद का आदि है। 'असदित्स सुवितायु प्रयस्वान्' (ऋ. ७,८५,४)। यहां पर भी √अस् 'भुवि' धातु का लेट् लकार में 'असत्' रूप पाद के आदि में है।

३. तिङन्त क्रिया वाक्य के आदि में हो। जैसे—'पाह्यंस्मात्' (ऋ. ४,४,१४)। यहां √पा 'रक्षणे' धातु के लोट् लकार के मध्यम-पुरुष एकवचन में 'पाहि' क्रिया अन्तोदात्त है, सति-शिष्टस्वर की प्रधानता के कारण धातु-स्वर से 'पा' को उदात्त न होकर 'सिप्' प्रत्यय के आदेश 'हि'[१] को प्रत्यय-स्वर से उदात्त हो रहा है। क्योंकि 'हि' अ-पित् होने के कारण पित्-कार्य (अनुदात्तत्व) की योग्यता से रहित है। 'यजते व्यूधाः' (ऋ. ४,६,११)। यहां 'यजते' क्रिया वाक्य के आदि में है।

४. तिङन्त क्रिया किसी आद्युदात्त आमन्त्रित से पर में हो। जैसे—'अग्ने शुशुग्ध्या रयिम्' (ऋ. १,९७,१)। यहां √शुच् 'दीप्तौ' धातु का 'शुशुग्धि' रूप लोट् के मध्यम-पुरुष के एकवचन में है। और पूर्ववर्ती आमन्त्रित शब्द 'अग्ने' के अविद्यमानवत् हो जाने के कारण प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है। 'अध्वर्यवो भरत' (ऋ. २,१४,१)। यहां 'भरत' क्रिया √भृ धातु से लोट् में मध्यम-पुरुष के बहुवचन में आद्युदात्त है। 'आपो जनयथा च नः' (ऋ. १०,९,३) आदि भी ऐसे ही विवेच्य हैं।

५. तिङन्त क्रिया तिङन्त क्रिया के अनन्तर पश्चात् हो। क्योंकि उस स्थिति में अ-तिङ् से पर में तिङन्त की स्थिति न होगी। जैसे—'पीतं हर्यतम्' (ऋ. १,६३,७)। यहां 'पीतम्' क्रिया से परे होने के

१. सेर्ह्यपिच्च (पा. ३,४,८७)।

कारण 'हयँतम्' को अनुदात्त नहीं हुआ। 'गर्च्छपो पीथः' (ऋ. १,१५१,७; ७,८२,७) में भी यही न्याय है।

६. 'हि' अथवा यद्-वृत्त (यद् शब्द के रूप) का समान वाक्य में योग हो, तो भी तिङन्त क्रिया को अनुदात्त नहीं होता। उदाहरण आगे नवम-अध्याय में 'अनुदात्त के अपवाद' प्रकरण में विस्तार से देखिये।

जब यह निश्चित हो गया कि तिङन्त-स्वर का यथार्थ स्वरूप क्या है और किन स्थितियों में अनुदात्त न होकर तिङन्त क्रिया में उदात्त उपलब्ध होता है, तो गण-भेद से तिङन्त-स्वर की पृष्ठ-भूमि उपस्थित करने में पूर्व प्रकरणों में विशद रूप से वर्णित सति-शिष्टस्वर तथा लसार्वधातुक-अनुदात्त की पूर्ण सहायता प्राप्त होती है। स्मरण रहे लट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् लकारों के स्थान में आदेश तिङ् (तिप् तस् झि आदि १८) प्रत्यय तथा शतृ और शानच् प्रत्यय लादेश कहलाते हैं। इनकी सार्वधातुक-संज्ञा होती है[1], इसलिए इन्हें ल-सार्वधातुक कहा जाता है। 'तासि' विकरण, अनुदात्तेत् (कतिपय अदादिगणी आत्मनेपदी √ईर्, √ईड् आदि धातुएं) तथा ङित् (√शीङ् 'स्वप्ने' आदि) धातुओं और अदुपदेश (भ्वादिगण और तुदादिगण में शप्-श दोनों विकरणों के कारण अकारान्त) धातुओं से अनन्तरवर्ती ल-सार्वधातुक प्रत्यय को अनुदात्त हो जाता है[2]। इसी को संक्षेप में 'ल-सार्वधातुक-निघात' या 'ल-सार्वधातुक-अनुदात्त' कहते हैं।

(क) विकरण-भेद से नौ गणों की निष्पत्ति

धातु-पाठ को विकरण-भेद की विलक्षणता के कारण नौ गणों में विभक्त किया गया है। कर्तृवाच्यता का मुख्य समर्पक शप्-विकरण है[3]।

भ्वादि-गण में धातु और लादेश प्रत्ययों के मध्य में प्रधान शप्-विकरण है। सर्वत्र धातु-पाठ-मात्र में मुख्य शप्-विकरण की प्राप्ति होती है, किन्तु अपने-अपने अवकाश में अन्य विकरण 'शप्' का बाध कर लेते हैं।

---

१. तिङ्शित्सार्वधातुकम् (पा. ३,४,११३)। २. तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः (पा. ६,१,१८६)। ३. कर्तरि शप् (पा. ३,१,६८)।

इस विकरण-संघर्ष का परिणाम एक अविकल धातु-पाठ का नौ गणों में विभक्त हो जाना है। 'शप्' विकरण में 'श्' की इत्संज्ञा (शित्व) का फल सार्वधातुक-संज्ञा और 'प्' की इत्संज्ञा (पित्व) का फल पित्-स्वर से 'अ' (शप्-विकरण) को अनुदात्त हो जाना है। 'जयति' (मै. २,२,१०) आदि क्रियाओं में जहां धातु से पर में 'तिप् सिप् मिप्' (पित्) प्रत्यय हों, ल-सार्वधातुक-अनुदात्त की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं, वहां 'तिप्' और 'शप्' दोनों के पित्-स्वर से स्वयमेव अनुदात्त हो जाने से धातु-स्वर से आद्युदात्त है।

अदादि-गण में 'शप्-विकरण' का बाधक 'लुक्-विकरण' है। लुक्-विकरण का तात्पर्य है धातु और तिङ्-प्रत्ययों के मध्य में 'अ' (शप्-विकरण) का लुक् हो जाना अर्थात् लोप हो जाना[1]। भ्वादि-गण में जहां √भू धातु के 'भवति' रूप में भव्+अ+ति यह तीन अङ्ग थे और मध्य में 'अ' दृष्टिगोचर होता था, अदादि-गण की √अद् 'भक्षणे' धातु से निष्पन्न 'अत्ति' क्रिया में √अद्+ति यह धातु और तिङ्-प्रत्यय से सम्बद्ध दो ही अङ्ग हैं, मध्यवर्ती 'अ' का अदादि-गण में लुक् हो गया, अदर्शन हो गया है। इस गण में अपवादों को छोड़कर सदा प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) से अन्तोदात्त होगा।

जुहोत्यादि-गण में शप्-विकरण का बाधक श्लु-विकरण है। 'श्लु' का अर्थ भी यथार्थ में लोप है[1]। श्लु-विकरण में भी लुक्-विकरण के समान शप्-विकरण का लोप (अदर्शन) इष्ट है, अन्तर केवल इतना है कि श्लु-विकरण के कारण जुहोत्यादि-गण की धातुओं में द्वित्वापत्ति तथा अभ्यास-कार्य होते हैं, जो लुक्-विकरण में नहीं है। जैसे 'अत्ति' क्रिया में √अद्+ति के विच्छेद से यह तो ज्ञान हो गया कि भ्वादि-गण की क्रियाओं के समान यहां √अद्+ति दोनों प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में 'अ' (शप्) नाम की कोई वस्तु नहीं है, परन्तु √अद् धातु को द्वित्वापत्ति नहीं होती, जुहोत्यादि-गण की 'जुहोति' क्रिया में स्पष्ट रूप में √हु धातु की द्वित्वापत्ति और अभ्यास-कार्य से 'जुहु' निष्पन्न है। और श्लु (लोप) के धर्म के अनुसार जुहु+ति में मध्य-वर्ती 'अ' (शप्-विकरण) का दर्शन नहीं होता, बल्कि गुण होकर जुहु+ति का 'जुहोति' बन जाता है। यहां 'भीह्रीभृहु°' (पा. ६,१,१९२) सूत्र से मध्योदात्त होगा।

1. प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (पा. १,१,६१)।

दिवादि-गण में शप्-विकरण का बाधक 'श्यन्' विकरण है। श्यन्-विकरण में आदि के 'श्' की इत्संज्ञा का फल सार्वधातुक-संज्ञा है और 'न्' की इत्संज्ञा का फल निन्-स्वर से क्रिया का आद्युदात्त होना है। प्रकृति (धातु) और प्रत्यय (तिङ्) के मध्य में 'य्' का दर्शन होगा। 'दीव्यति' क्रिया में √दिव्+य्+ति यह तीन अङ्ग श्रूयमाण होंगे, और 'दीव्यति' क्रिया का 'दी' अक्षर उदात्त होगा।

स्वादि-गण में शप्-विकरण का बाधक 'श्नु' विकरण है। पूर्ववत् 'श्' की इत्संज्ञा सार्वधातुक-संज्ञा की सूचक है, और धातु तथा तिङ् प्रत्यय के मध्य में 'नु' श्रूयमाण होगा। गुण करके √सु+नो+ति यह तीन अङ्ग 'सुनोति' क्रिया में प्रतीत होते हैं। क्र्यादि-गण के समान इस गण में भी विकरण-स्वर से प्रत्यय-स्वर की प्रधानता है।

तुदादि-गण में शप्-विकरण का बाधक श-विकरण है। शप्-विकरण से श-विकरण का भेद 'प्' की इत्संज्ञा (पित्त्व) का है। और पित्त्व (प् की इत्संज्ञा) के कारण भ्वादिगणी धातुओं से 'भवति' में √भू धातु का गुणयुक्त रूप भो>भव् एवं 'जयति' में √जि धातु का जे>जय् रूप संभव होता है, क्योंकि गुण-निषेध के लिए ङित्त्व होना आवश्यक है[1], और ङित्व की संभावना ऐसे सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय में ही हो सकती है जो पित् न हो[3]। भ्वादि-गण में विकरण 'शप्' है, जो कि 'प्' की इत्संज्ञा के कारण पित् है, जिसमें ङित्त्व (गुण-बाधकता) की योग्यता नहीं है, इसके विपरीत तुदादि-गण में श-विकरण जिसमें 'प्' की इत्संज्ञा का प्रश्न ही नहीं, अ-पित् होने के कारण ङित् माना जाता है, इसी लिए श-विकरण से युक्त 'तुदति' (√तुद्+अ+ति) क्रिया में गुण होकर 'तोदति' (√तोद्+अ+ति) नहीं बनता।

विकरण-भेद (शप् 'पित्' श 'अपित्') की इसी विलक्षणता के कारण भ्वादिगणी धातुओं की क्रियाओं के स्वर में और तुदादिगणी धातुओं की क्रियाओं के स्वर में महान् अन्तर है। भ्वादिगणी धातुओं की क्रियाओं में 'शप्' (पित्) विकरण के मध्यवर्ती होने से मध्य का 'अ' अक्षर पित्-स्वर से अनुदात्त होगा, अन्तिम अक्षर ति, सि, मि हुए तो पित्-स्वर से अन्यथा लसार्वधातुक-अनुदात्त के कारण अनुदात्त है ही, शेष पहला धातु-सम्बन्धी अक्षर धातु-स्वर

१. ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा. ६,१,१९७)। २. ग्क्ङिति च (पा. १,१,५)।
३. सार्वधातुकमपित् (पा. १,२,४)।

से उदात्त होगा, और स्वादिगणी क्रियाएं सदा आद्युदात्त रहेंगी। तुदादिगणी धातुओं की क्रियाएं सर्वदा मध्योदात्त रहेंगी। क्योंकि श-विकरण में पित्-स्वर से अनुदात्तत्व की योग्यता नहीं है। वहां पूर्ववत् तृतीय अक्षर अनुदात्त होगा, और सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से बलवान् होने के कारण धातु-स्वर की अपेक्षा विकरण को उदात्त होगा। मध्य में विकरण उदात्त होने के कारण क्रिया का रूप मध्योदात्त होगा।

रुधादि-गण में शप्-विकरण का बाधक श्नम्-विकरण है। 'श्नम्' में 'श्' की इत्संज्ञा तथा 'म्' की इत्संज्ञा है, मित् होने से सर्वत्र धातु के मध्य में 'न' (श्नम्) का अन्तर्भाव होगा। जैसे 'रुणद्धि' क्रिया में रुणध्+ति यह दो प्रकृति और प्रत्यय अङ्ग हैं। श्नम्-विकरण के धातु में अन्तर्भाव होने के कारण √रुध् धातु का मूल-रूप 'रुणध्' में परिवर्तित हो गया है। ति, सि, मि, तो पित्-स्वर से अनुदात्त हैं, इसलिए धातु-स्वर से 'रुणध्' के अन्तिम अक्षर 'ण' को उदात्तत्व होने के कारण 'रुणद्धि' शब्द मध्योदात्त होगा। 'रुन्द्धः' में प्रत्यय-स्वर से 'तस्' प्रत्यय उदात्त होकर शब्द अन्तोदात्त होगा, क्योंकि 'तस्' प्रत्यय अपित्-सार्वधातुक होने के कारण ङित् है। इसलिए 'श्नसोरल्लोपः' (पा. ६,४,१११) सूत्र से 'रुणध्' में 'श्न' के 'अ' का लोप होकर √रुन्ध् धातु रह जाएगी, और √रुन्ध् धातु के स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर बलवान् है। 'रुन्धन्ति' में मध्योदात्त होगा, क्योंकि 'आद्युदात्तश्च' (पा. ३,१,३) के नियम से 'अन्ति' प्रत्यय आद्युदात्त होगा। 'रुन्धत्' (शतृप्रत्ययान्त) में 'अत्' (शतृ) प्रत्यय का स्वर होने से अन्तोदात्त शब्द बनेगा। 'रुन्धान' (शानच्-प्रत्ययान्त) में चित्त्व (च् की इत्संज्ञा) होने के कारण चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा।

तनादि-गण में शप्-विकरण का बाधक 'उ' विकरण है। 'तनोति' क्रिया में √तन्+उ+ति इस प्रकार तीन अङ्गों की स्पष्ट प्रतिपत्ति होगी। ति, सि, मि तो पित् हैं और अनुदात्त हैं, इसलिए विकरण 'उ' का उदात्त सति-शिष्टस्वर से सिद्ध होगा और मध्योदात्त क्रिया-शब्द होगा। 'अन्ति' प्रत्यय के आद्युदात्त होने के कारण 'तन्वन्ति' क्रिया भी प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त होगी। अन्यत्र तस्, थस् आदि में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त शब्द बनेंगे।

क्र्यादि-गण में शप्-विकरण का बाधक श्ना-विकरण है। क्र्यादि-

गणी धातुओं की क्रियाओं के मध्य में 'श्ना' विकरण दृष्टिगोचर होता है। यहां भी ति, सि, मि (पित्) मे प्रत्यय के अनुदात्त होने से सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य के कारण विकरण-स्वर से क्रिया-शब्द मध्योदात्त होंगे। 'श्नन्ति' मे प्रत्यय-स्वर से प्रत्यय का आदि अक्षर उदात्त होने से शब्द मध्योदात्त होगा। यहां 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा ६,४,११२) सूत्र से ङित् सार्वधातुक मे श्ना-विकरण के 'आ' का लोप हो जाया करता है। अन्यत्र तस्, थस् आदि अपित्-सार्वधातुक प्रत्ययों मे प्रत्यय-स्वर से सदा अन्तोदात्त शब्द निष्पन्न होगा। क्योंकि सति-शिष्टस्वर की बलवत्ता विकरण-स्वर को छोड़कर मानी गई है। अर्थात् 'क्रीणीतः' मे √क्री धातु के स्वर से 'तस्' प्रत्यय का स्वर बलवान् है, क्योंकि धातु से प्रत्यय हुआ है, धातु-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय का स्वर सति-शिष्टस्वर है। √क्री धातु से 'तस्' प्रत्यय होने के पश्चात् मध्य मे 'श्ना' विकरण हुआ है, इसलिए यथार्थ में तो 'श्ना' का उदात्त-स्वर सब की अपेक्षा सति-शिष्ट होने के कारण सब से बलवान् है। और सतिशिष्ट-प्रत्ययस्वर तथा सतिशिष्ट-विकरणस्वर के संघर्ष मे विकरण-स्वर की बलवत्ता होनी चाहिए, परन्तु 'अन्यत्र विकरणेभ्यः' (विकरणों को छोड़कर ही सति-शिष्टस्वर की प्रधानता है, अथात् विकरण-स्वर सति-शिष्ट होता हुआ भी प्रत्यय-स्वर की अपेक्षा अनुत्कृष्ट है) के सिद्धान्त से प्रत्यय-स्वर ही बलवान् होता है, और 'तस्' का ही स्वर निश्चित होता है।

भावकर्म-प्रक्रिया मे धातु और प्रत्यय के मध्य में 'यक्' विकरण होता है। विकरणान्त धातु के अदुपदेश होने के कारण उससे परवर्ती लादेश अनुदात्त है और ल-सार्वधातुक को अनुदात्त होने पर सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से सर्वदा 'य' उदात्त होगा, और क्रिया-शब्द मध्योदात्त होगा।

(ख) णिजन्तादि-स्वर

चुरादिगण को धातु-संज्ञा की दृष्टि से मौलिक नहीं माना जाता। क्योंकि चुरादिगणी धातुओं की धातु-संज्ञा 'भूवादयो धातवः' (पा. १,३,१) सूत्र से नहीं होती, उनको सनाद्यन्त की श्रेणि मे रख कर 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा ३,१,३२) इस सूत्र के विशेष नियम से उनकी धातु-संज्ञा होती है। चुरादि-गण में धातुओं से 'णिच्' प्रत्यय स्वार्थ मे होता है। 'चोरयति' यह क्रिया-शब्द 'स्वयं चोरी करने वाले' का

अभिधायक है। प्रेरणा अर्थ में णिच् प्रत्यय इससे भिन्न है। कुछ भी हो णिच् प्रत्यय स्वार्थ में हो या प्रेरणा अर्थ में णिच्-प्रत्ययान्त इतने अंश की उक्त सूत्र से धातु-संज्ञा हुई है। 'धातोः' (पा. ६,१,१६२) सूत्र के नियम से उतने अंश को धातु मानकर उसके अन्त को उदात्त होगा। √भू धातु के णिच्-प्रत्ययान्त 'भावयति' रूप में 'भावि' अंश को धातु मान कर उसके अन्त्य 'इ' को उदात्त होगा, इसलिए 'भावयति' क्रिया में 'व' उदात्त होगा। शेष विवेचन भ्वादिगणी धातुओं के क्रिया-शब्दों के समान समझना चाहिए।

सन्नन्त-प्रक्रिया में इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय में 'न्' की इत्संज्ञा है। और प्रत्यय के नित् होने के कारण नित्-स्वर से सन्नन्त क्रिया 'चिकीर्षति' आदि में सदा आदि अक्षर उदात्त होगा।

यङन्त-प्रक्रिया में यङ्-प्रत्ययान्त 'बोभूय' इतने अंश की धातु-संज्ञा है। इसलिए धातु-स्वर से 'य' इस अक्षर पर उदात्तत्व होगा और क्रिया सदा मध्योदात्त रहेगी। यद्यपि 'बोभूयन्ते' में अभ्यस्त-स्वर से आद्युदात्त होना चाहिए, किन्तु 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६,१,१८९) सूत्र से आद्युदात्तत्व करने के लिए अभ्यस्त रूप 'बोभू' का अजादि ल-सार्वधातुक से अनन्तर पूर्व होना आवश्यक है जो यहां नहीं है।

यङ्-लुक्-प्रक्रिया में यङ् प्रत्यय के अदर्शन के कारण शेष धातु-स्वरूप अभ्यस्तसंज्ञक है और अजादि ल-सार्वधातुक से अनन्तर-पूर्व भी है, इसके कारण अभ्यस्त स्वर (पा. ६,१,१८६;१९०) से क्रिया का आद्य अक्षर उदात्त होगा।

नाम-धातु में भी क्यच्, क्यङ् प्रत्ययों से तदन्त अंश की धातु-संज्ञा होगी और धातु-स्वर से धात्वंश का अन्तिम अवयव अन्तोदात्त होगा। क्रिया इस विचार से मध्योदात्त होंगीं।

(ग) लसार्वधातुक-स्वर

यह पीछे लिखा जा चुका है कि सार्वधातुक-संज्ञक लट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् इन चार लकारों के स्थान में लादेश तिङ् प्रत्ययों तथा शतृ, शानच् (शित्) प्रत्ययों को ल-सार्वधातुक कहा जाता है। गण-भेद से लसार्वधातुक प्रत्ययों के स्वर का निर्देश इस स्तम्भ में दिखायेंगे।

१. भ्वादि-गण के लट् लकार में क्रिया का आद्य अक्षर (धात्वंश) उदात्त होगा, क्योंकि तिप्, सिप्, मिप् तीनों प्रत्यय पित्

(प् की इत्संज्ञा वाले) हैं। अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा. ३,१,४) सूत्र के नियम से वह अनुदात्त होंगे। मध्यवर्ती शप्-विकरण भी पित् होने के कारण अनुदात्त होगा। शेष रहा धात्वंश पहला अक्षर, 'धातोः' (पा. ६,१,१६२) सूत्र के नियम से वही उदात्त होगा। जैसे—'चरति' (ऋ. ४,३८,४) यहां √चर्+अ+ति यह तीन अङ्ग हैं। अ+ति दोनों अनुदात्त होने से शेष आद्यवयव √चर् धातु के 'च' पर उदात्तत्व का संकेत है। ऐसे ही 'चर्षति' (ऋ. ७,४६,२) आदि हैं। यह प्रक्रिया पित्-सार्वधातुक में होगी। अपित्-सार्वधातुक (तस्, अन्ति आदि में, त, आताम्, झ आदि तथा शतृ, शानच्) में भी क्रिया या शब्द के आद्य अक्षर पर ही उदात्त का संकेत रहेगा। यहां ल-सार्वधातुक प्रत्ययों को लसार्वधातुक-अनुदात्त से अनुदात्तत्व होता है, मध्यवर्ती शप्-विकरण पित् होने से अनुदात्त है ही, शेष प्रथम अक्षर (धात्वंश) ही उदात्त होगा। जैसे—तपन्ति (ऋ. ६,५१,८) नयंथ (ऋ. १,४१,५) नमंते (ऋ. ६,२४,८) गूहते (ऋ. १०,२७,२४) पचन् (ऋ. ५,२१,११) पचन्तम् (ऋ. २,१२,१४) यार्चमानः (शौ. ६,११८,२) इत्यादि में सर्वत्र लसार्वधातुक-निघात से लादेश सार्वधातुक प्रत्यय अनुदात्त, 'शप्' अनुदात्त, शेष धात्वंश धातु-स्वर से उदात्त है।

लोट् लकार में भी उक्त प्रक्रिया ही चरितार्थ होगी। उत्तम-पुरुष में मिप्, वस्, मस् प्रत्ययों को मध्य में 'आट्' आगम होता है[1], और उत्तम-पुरुष पित् माना जाता है। यहां √भू>भव्+अ+आ+नि (=भवानि) यह चार अङ्ग होंगे। परन्तु आद्यक्षर पर ही उदात्त होगा। पित् होने से अ+आ+नि सब अनुदात्त हैं।

लङ् लकार में सर्वत्र कोई भी गण हो, परस्मैपद हो या आत्मनेपद, कर्तृ-वाच्य हो या भावकर्म-वाच्य अट्-आगम ही उदात्त होगा जैसे—अभंवत् (ऋ. १,५८,१) अकृणोत् (ऋ. २,१०,६) अभुंव (ऋ. १,४६,१०) अभेयत् (शत. १४,४,२,६) अकारि (ऋ. ५,६,११) आदि। *विधि-लिङ् में लट् लकार जैसा ही न्याय चरितार्थ होगा।*

'भवन्ती' आदि स्त्रीलिङ्ग के शब्दों में 'ङीप्' प्रत्यय पित्-स्वर से अनुदात्त हो जाएगा, तथा शत्रन्त के समान आद्युदात्त शब्द होगा।

२. अदादि-गण में √ईर्, √ईड् आदि अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) धातुओं तथा √शीङ् 'स्वप्ने' आदि ङित् धातुओं से परे लसार्वधातुक-

1. आडुत्तमस्य पिच्च (पा. ३,४,९२)।

प्रत्ययों को लसार्वधातुक-अनुदात्त के नियम से अनुदात्त हो जायेगा[१]। मध्य में शप्-विकरण का लुक् हो चुका है। शेष धात्वंश को ही धातु-स्वर से उदात्त होगा।

गण के अन्त में स्वप् आदि कुछ धातुएं हैं, यहां इडागमरहित कित् ङित् अजादि ल-सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते विकल्प से आद्युदात्त होगा[२]। धात्वंश उदात्त हुआ तो आद्युदात्त, अन्यथा प्रत्यय-स्वर। 'स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः' (शौ. ४,५,६) में उक्त नियम से धात्वंश 'स्व' को उदात्त होने से क्रिया आद्युदात्त है। विकल्प पक्ष में प्रत्यय-स्वर से 'अन्तु' का आद्यक्षर उदात्त होगा, और क्रिया मध्योदात्त होगी।

'रात्री जार्गर्ति' (मै. ३,६,३)। मैत्रायणी शाखा में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। इसलिए 'जार्गर्ति' का 'र्ग' उदात्त है। स्मरण रहे √जागृ धातु अभ्यस्त-संज्ञक है[३], और अभ्यस्त धातुओं में पित्-स्वर से 'तिप्' के अनुदात्त हो जाने पर 'अनुदात्ते च' (पा. ६,१, १९०) सूत्र के नियम से आद्यक्षर उदात्त होना चाहिए, परन्तु 'भीह्रीभृहु॰' (पा. ६,१,१९२) इस विशेष नियम से 'तिप्' (पित्) प्रत्यय के पूर्ववर्ती अक्षर 'र्ग' को उदात्त हुआ है। इस प्रकार क्रिया-शब्द मध्योदात्त होगा। यदि √स्वप् धातु में निर्दिष्ट आद्युदात्त के नियम से क्रिया का आद्यक्षर उदात्त होगा तो क्रिया-शब्द आद्युदात्त होगा। जैसे—'भूतेषु जाग्रति' (शौ. १६,४८,५)। यहां 'जाग्रति' क्रिया का आद्यवयव 'जा' उदात्त है। इसी का विकल्प-पक्ष उक्त मध्योदात्त है। जहां आद्युदात्त और मध्योदात्त दोनों की योग्यता नहीं, वहां प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'जागृहि' (ऋ. १०,८७,२४) 'जागृत' (शौ. १,३०,१) इन दोनों स्थलों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है।

उक्त प्रकार के धातुओं को छोड़कर अदादि-गण में सदा अ-पित् प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त रहेगा। जैसे—'हते' (मै.४,२,३)। 'दुहे' (ऋ. ६,८६,२)। यहां 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. ७,१,४१) सूत्र से √दुह्+ते>दुग्धे>मध्यवर्ती 'त' का लोप होकर 'दुहे' शब्द बना है। 'इतः' (ऋ. १०,६४,१४), 'दृतः' (ऋ. ६,६०,६)। 'घ्नन्ति' में प्रत्यय के आद्यवयव 'अ' को प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त हो जाने के

१. तास्यनुदात्तेन्ङिद॰ (पा. ६,१,१८६)। २. स्वपादिर्हिसामच्यनिटि (पा. ६,१,१८८)। ३. जक्षित्यादयः षट् (पा. ६,१,६)।

कारण क्रिया मध्योदात्त होगी। जैसे—'द्विषन्ति' (शौ. ६,५,२) 'उशन्ति' (ऋ. १,२,४) आदि। 'घ्नन्ति' (ऋ. ८,८४,६) 'यन्ति' (ऋ. १,१००,३) यहां धात्वक्षर के अभाव के कारण मध्योदात्त भी आद्युदात्त प्रतीत होता है। 'एषि' (ऋ. १,१२२,१०) 'हन्ति' (ऋ १,८०,८) 'द्वेष्टि' (ऋ. ३,५३,२१) आदि पित् सार्वधातुक में प्रत्यय तो पित्-स्वर से अनुदात्त हो गया। शेष धात्वंश पर धातु-स्वर से उदात्त रहेगा।

शतृ-प्रत्ययान्त शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होंगे। जैसे—'दुहत्' (ऋ. १०,१२२,६) 'स्तुवन्तम्' (ऋ. २,२०,३)। 'शस्' आदि अजादि-विभक्तियों में 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा ६,१,१७३) के नियम से विभक्ति उदात्त होगी और शब्द अन्तोदात्त होगा। जैसे—'द्विषतः' (ऋ. ६,४९,१२), 'दुहते' (ऋ. १,५०,१३), 'स्तुवते' (ऋ. २,२२,३)।

स्त्रीलिङ्ग में नदी-स्वर[1] से 'ङीप्' प्रत्यय के 'ई' के उदात्त होने से सदा अन्तोदात्त शब्द होगा।

शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों में चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'दुहानः' (ऋ. ६,४२,४) आदि।

लोट् में मध्यम-पुरुष के एकवचन में प्रत्यय-स्वर से 'हि' को उदात्त होगा। क्योंकि 'सिप्' के स्थान में 'हि' आदेश अ-पित् होता है[2]। जैसे—'पाहि' (ऋ. १,३६,१५) 'याहि' (ऋ. १,१२६,६) 'इहि' (ऋ. ८,३२,२२) इत्यादि। इसके विपरीत भ्वादि-गण में 'हि' का लुक् हो जाने के कारण[3] धातु-स्वर से क्रिया आद्युदात्त ही होगी। जैसे—'नय' (ऋ. १,१८६.१) आदि।

'वेद' (ऋ. १,१६४,७) आदि में तिङ् (लादेश) को 'णल्' हुआ है[4]। इसलिए लित्-स्वर से प्रत्यय का पूर्ववर्ती धात्वंश उदात्त होगा।

लङ् में पूर्ववत् अट्-आगम को उदात्त होता है। जैसे—'अहन्' (ऋ. १,३२,४)।

विधि-लिङ् में उदात्त यासुट्-आगम का 'या' रहेगा। जैसे—'द्विष्यात्' (तै. २,६,७,४) 'विद्याम' (ऋ. १,४,३) आदि।

३. जुहोत्यादि-गण में श्लु-विकरण से धातु को द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'उभे अभ्यस्तम्' (पा. ६,१,५) सूत्र के

---

१. शतुरनुमो नद्यजादी (पा. ६,१,१७३)। २. सेर्ह्यपिच्च (पा. ३,४,८७)। ३. अतो हेः (पा. ६,४,१०५)। ४. विदो लटो वा (पा. ३,४,८३)।

नियम से अभ्यस्त-संज्ञा होगी। अजादि (इडागम-रहित) अपित्-सार्वधातुक (अन्ति, शतृ, शानच् प्रत्ययों में) 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६.१.१८९) सूत्र से क्रिया का आद्यक्षर उदात्त होगा। जैसे—'जुह्वत' (ऋ. ७,८५,१), 'जुह्वानः' (ऋ. १,७५,१) आदि। पित-सार्वधातुक पर में होने पर 'अनुदात्ते च' (पा. ६,१,१९०) सूत्र से आद्यक्षर उदात्त होगा। जैसे—'बिभर्षि' (ऋ. ६,५३,८) आदि। विवेचन आगे आद्युदात्त-प्रकरण में देखें। ङीवन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द आद्युदात्त होंगे।

पित् प्रत्ययों में √भी, √ह्री आदि कतिपय धातुओं के पित्-प्रत्यय से पूर्ववर्ती धात्वंश को उदात्त होता है[1], आद्युदात्त नहीं होता। जैसे—'बिभर्षि' (मा. १६,२), इसी का पाठ-भेद उक्त आद्युदात्त 'बिभर्षि' (ऋ.६,५३,८) है। 'बिभर्ति' (ऋ. ४,५०,७) 'जुहोमि' (ऋ. ३,१८,३) आदि।

लोट् के मध्यम-पुरुष के बहुवचन में 'थ' को 'त' आदेश होता है[2]। उस तादेश को वेद में 'तप्, तनप्' आदेश होते हैं[3]। तप्, तनप् दोनों पित् हैं। इसलिए यहां भी पित्-प्रत्यय से पूर्ववर्ती धात्वंश को ही उदात्त होगा। क्रमश जैसे—'जुहोत' (ऋ. १,१५,९), 'जुहोतन' (ऋ.७, ५८,१) आदि। यहां पित् होने के कारण ही अपित्-सार्वधातुक को होने वाले ङित्त्व के कारण 'हु' को गुण का निषेध नहीं हुआ और 'हो' बना है।

ऐसे ही लोट् के उत्तम-पुरुष के एकवचन में 'मिप्' के स्थान में 'मेर्निः' (पा. ३,४,८९) सूत्र से 'नि' होता है और उसको 'आडुत्तमस्य पिच्च' (पा. ३,४,९२) से आड्-आगम हो जाने पर 'आनि' इतना अंश पित् माना जाता है। पित्त्व के कारण पूर्ववर्ती धात्वंश को उदात्त होगा, जैसे—'जुहवानी३' (तै. ६,५,६,१) में धात्वंश 'ह' उदात्त है। इस उदाहरण में विशेष ध्यान देने योग्य 'नी३' इतने क्रिया के अन्तिम अंश को प्लुत का निर्देश और उदात्तत्व होना है। 'अमुक कार्य करना कि नहीं करना' इस विचार में वाक्य की 'टि' को उदात्त प्लुत हो जाया करता है[4], उसी नियम से यहां उदात्त प्लुत का संकेत है।

---

१. भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति (पा. ६,१,१९२)। २. तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (पा. ३,४,१०१)। ३. तप्तनप्तनथनाश्च (पा. ७,१,४५)। ४. विचार्यमाणानाम् (पा. ८,२,९७)।

शेष हलादि ल-सार्वधातुक अ-पित् प्रत्ययों में नहीं आद्युदात्त होगा और नहीं प्रत्यय से पूर्व या मध्योदात्त स्वर हो सकेगा। यहां प्रत्यय-स्वर से सदा अन्तोदात्त रहेगा। जैसे—'बिभृत' (ऋ. ५,४७,४) 'बिभीत' (शौ २,१५,१) 'बिभृय' (ऋ. १०,३०,१२)। 'जुहुधि' (मै १,८,१)। यहां 'सेह्यपिच्च' (पा. ३,४,८७) सूत्र से 'सिप्' के स्थान मे 'हि' को ही 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा ६,४,१०१) सूत्र से 'धि' अ-पित् होता है। इसी लिए प्रत्यय-स्वर से 'धि' उदात्त है।

लङ् लकार मे अट्-आगम को ही उदात्त होगा। जैसे—'अजुहोत्' (मै १ ८,१) आदि। यहा 'अ' उदात्त है।

विधि-लिङ् मे यासुट्-आगम उदात्त होगा। जैसे—'बिभीयात्' (ऋ १,४१,६) आदि।

दिवादि-गण मे सर्वत्र परस्मैपद हो या आत्मनेपद शप्-विकरण के बाधक श्यन्-विकरण मे 'न्' की इत्संज्ञा होने के कारण 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा. ६,१,१९७) सूत्र से नित्-स्वर से क्रिया-शब्द आद्युदात्त होंगे। जैसे—'रीयते' (ऋ. १,१३५,७) 'सिध्यति' (ऋ १,१८,७) 'नश्यतु' (ऋ. ७,३२,४) 'विध्यामि' (शौ ७,७८,२) 'विध्यता' (ऋ. १ ८६,९) आदि।

लङ् मे अट्-आगम को उदात्त होगा और शतृ, शानच् प्रत्ययों मे भी आद्युदात्त, स्त्रीलिङ्ग मे ङीवन्त शब्द भी आद्युदात्त होंगे।

स्वादि-गण मे तिप् सिप् मिप् (पित्) प्रत्ययों के पित् स्वर से अनुदात्त हो जाने से सति-शिष्टस्वर की सामर्थ्य से मध्यवर्ती श्नु-विकरण ही उदात्त होगा, और मध्योदात्त क्रिया-शब्द बनेंगे। जैसे—'सुनोति' (ऋ. १,१२२,६) आदि।

अपित्-प्रत्ययों मे प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्ट) से सदा अन्तोदात्त शब्द बनेंगे। 'कृणुते' (ऋ. २,२५,१) 'सुनुत' (ऋ. ८,३१,५) आदि। 'झि' के स्थान में 'अन्ति' मे प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त होने से 'सुन्वन्ति' (ऋ. ३,३०,१) कृण्वन्तु' (ऋ. ३,३०,२) मे मध्योदात्त रहेगा।

लोट् मे 'सुनु' (ऋ. १,२८,६) मे प्रत्यय का लोप हो जाने से सति-शिष्ट विकरण-स्वर है।

'सुनोता' (ऋ. ७,३२,८) मे 'त' के स्थान मे 'तप्' आदेश पित् है और पित्-स्वर से अनुदात्त है, इसलिए पूर्ववत् ही विकरण-स्वर से मध्योदात्त होगा। ऐसे ही 'सुनोतन' (ऋ. ५,३४,१) मे

वादेश 'तनप्' पित् है, यहां भी पूर्ववत् मध्योदात्त है। लोट् के उत्तम-पुरुष में आट्-आगम भी पित् होता है, इसलिए विकरण-स्वर से 'सुनवाम' (ऋ. ३,५३,४) आदि मध्योदात्त हैं।

शतृ-प्रत्ययान्त शब्द अदादि-गण के तुल्य अन्तोदात्त होंगे। 'सुन्वन्तम्' (ऋ. २,१२,१४) शब्द 'सुन्वत्' (अन्तोदात्त) प्रातिपदिक का द्वितीया विभक्ति के एकवचन में रूप है। 'शस्' आदि अजादि विभक्तियों में विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'सुन्वतः' (ऋ. १,३,६)।

स्त्रीलिङ्ग में नदी-स्वर[1] से अन्तोदात्त शब्द बनेंगे। 'कृण्वती' (ऋ. १,९२,४) आदि।

शानच्-प्रत्ययान्त शब्द भी चित्-स्वर से अन्तोदात्त हैं। जैसे—'सुन्वानः' (ऋ. १,१२३,७) आदि।

लङ् में अड-आगम उदात्त होता है। विधि-लिङ् में यासुट्-आगम उदात्त होता है।

तुदादि-गण में तिप् सिप् मिप् (पित्) को पित्-स्वर से तथा अ-पित् प्रत्ययों को ल-सार्वधातुक-निघात से अनुदात्त होने से सति-शिष्टस्वात् मध्यवर्ती 'अ' (श-विकरण) उदात्त होगा। जैसे—'विन्दति' (ऋ. ६,१०,२१) 'विन्दते' (ऋ. ६,५१,१६) 'क्षियन्ति' (ऋ. ८,७२,१०)।

लोट् लकार में, शतृ और शानच् प्रत्ययों में सर्वत्र मध्यवर्ती विकरण उदात्त रहेगा। शतृ-प्रत्ययान्त शब्दों में पूर्ववर्ती 'अ' (विकरण) के कारण 'आच्छीनद्योर्नुम्' (पा. ७,१,८०) सूत्र के नियम से 'ङीप्' प्रत्यय परे होने पर विकल्प से नुम्-आगम होगा। जहां नुम्-आगम होगा, वहां 'इष्णन्ती' (ऋ. ५,२७,३) आदि शब्दों में मध्योदात्त ही रहेगा। क्योंकि नुम-आगम से रहित शतृ-प्रत्ययान्त अन्तोदात्त शब्द से परे ही नदी-संज्ञक 'ई' को उदात्त होता है[1]। जहां नुम्-आगम नहीं वहां नदी-स्वर[1] से स्त्रीलिङ्ग शतृ-प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त होंगे।

रुधादि-गण में पहले ही लिख आये हैं कि विकरण के धातु में अन्तर्भूत हो जाने से धातु (प्रकृति) और प्रत्यय दो ही अंश होंगे। तिप्, सिप्, मिप् (पित्) में पित्-स्वर से प्रत्यय अनुदात्त हैं। इसलिए धातु-स्वर से शेष धात्वंश उदात्त होगा। अ-पित् ल-सार्वधातुक

---

१. शतुरनुमो नद्यजादी (पा. ६,१,१७३)।

प्रत्ययों तस्, थस् आदि में ङित्त्व मान कर धात्वन्तर्भूत 'श्नम्' के 'अ' का लोप होगा[1]। प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्तत्व होगा। 'अन्ति, आते, अते' आदि प्रत्ययों को प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त हो जाने से 'भिन्दन्ति', 'इन्धाते', 'भुञ्जते' (ऋ. ५,४२,६) आदि क्रिया-शब्द मध्योदात्त होंगे। इस प्रकार एक ही धातु के लट् लकार में मध्योदात्त तथा अन्तोदात्त रूप निष्पन्न होंगे। लोट् में भी यही क्रम है। लङ् में अड् आगम और विधि-लिङ् में यासुट्-आगम उदात्त होंगे। शतृ-प्रत्ययान्त अन्तोदात्त से परे 'शस्' आदि अजादि विभक्तियों को तथा स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (नदी) को नदी-स्वर से पूर्ववत् अन्तोदात्त होगा। शानज्-अन्त में चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा।

तनादि-गण में स्वादि-गण के समान तिप्, सिप्, मिप् तथा तप्, तनप् (पित्) आदि प्रत्यय अनुदात्त हैं, इसलिए मध्यवर्ती 'उ' विकरण उदात्त होगा। जैसे—'कृणोति' (ऋ. १,१३१,७) 'कृणोर्षि' (ऋ. १,३१,१३) 'करोति' (श. ??,८) 'कृणोतु' (तै. १३,१३,१) आदि में विकरण स्वर है। 'कुर्वन्ति' (तै २,५,५,६) आदि में प्रत्यय-स्वर से 'अन्ति' का आद्यक्षर 'अ' उदात्त होने से क्रिया मध्योदात्त होगी। शेष हलादि अ-पित् प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त होगा। जैसे—'कृनुथ' (ऋ. ७,३०,६) 'कृणुतम्' (ऋ. १,६३,१) आदि। शेष स्वादिगणवत् है।

क्र्यादि-गण में 'मिनाति' (ऋ १,१०६,१) आदि में पित्-प्रत्यय अनुदात्त हो जाने से सतिशिष्टत्वात् 'श्ना' विकरण उदात्त होगा और क्रिया मध्योदात्त। अ-पित् प्रत्ययों में अजादि अन्ति, आते, अत् (शतृ) आन (शानच्) में पूर्ववर्ती 'श्ना' विकरण के 'आ' का लोप हो जायेगा[2]। इस लिए प्रत्यय स्वर से सर्वत्र प्रत्यय के आद्यवयव उदात्त होंगे। इस लिए 'गृणते' (ऋ. १,११३,१७) आदि अजादि विभक्तियों में 'गृणत्' (शतृ-प्रत्ययान्त) अन्तोदात्त शब्द से परे विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त होगा। शतृ प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीप्रत्यय में भी नदी-स्वर से 'ई' (ङीप्) को उदात्त होगा। और शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों में चित्-स्वर से अन्तोदात्त होगा।

---

१ श्नसोरल्लोपः (पा ६,४,१११)। २ श्नाभ्यस्तयोरातः (पा ६,४,११२)।

अ-पित् हलादि प्रत्ययों में प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) से अन्तोदात्तत्व ही रहेगा। जैसे—'सि॒नी॒थ' (ऋ ७,८४,३) 'पु॒नी॒षे' (ऋ. ७,८५,१) आदि में 'थस्' और 'से' उदात्त हैं।

लोट् के परस्मैपद के मध्यम-पुरुष के एकवचन में 'हि' पर में होते हुए 'हल श्न शानज्झौ' (पा. ३,१,८३) सूत्र से 'श्ना' को 'शानच्' आदेश होगा। अनुबन्ध-लोप के पश्चात् 'आन' विकरण अकारान्त शेष रहेगा। और 'अतो हे' (पा ६,४,१०५) सूत्र से 'हि' का लोप होकर चित् स्वर से अन्तोदात्त क्रिया-शब्द निष्पन्न होगा। अन्यत्र 'हि' प्रत्यय का ही स्वर होगा। लङ् लकार में सर्वत्र अट्-आगम उदात्त होता है। विधि लिङ् में 'पृ॒णी॒यात्' (ऋ. १०,११७,५) आदि में यासुट्-आगम ही सर्वत्र उदात्त होगा।

भावकर्म-प्रक्रिया में मध्यवर्ती यक् विकरण उदात्त होगा। जैसे—'सू॒यते॑' (ऋ. ४५८,१), 'क्रि॒यते॑' (ऋ ३,४१,२), 'कु॒च्यते॑' (ऋ. ३,५७,५) आदि। लङ् में अड्-आगम सर्वत्र उदात्त होगा।

णिजन्त-प्रक्रिया में धातु-स्वर[1] से णिच्-प्रत्ययान्त धातवश अन्तोदात्त होगा। शेष पित् तथा अपित्-लसार्वधातुक की स्वर-प्रक्रिया का अनुगम भ्वादि-गण के समान है। जैसे—'कृ॒ण्पयति' (ऋ. १०, २,४), 'पु॒तयन्ति' (ऋ १,१३५,६), 'पु॒तयन्त' (ऋ १ १६६,७), 'पु॒तयन्ते' (ऋ ८४६,१८), 'गमयेत' (मै १,८,५), 'जु॒नयन्' (ऋ. १,३२,४), 'जु॒नयन्ती' (ऋ. १०,१२१,७) आदि।

सन्नन्त-प्रक्रिया में इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय नित् ('न्' की इत्संज्ञा वाला) है। अत नित-स्वर[2] से ल-सार्वधातुक में आद्युदात्तत्व होगा। जैसे 'चिकी॑र्षति' (शौ ४,८,३) 'बुभूषति' (मै १,५,८) आदि।

यङन्त प्रक्रिया में पीछे लिख आए हैं धातु-स्वर से यङ्-अन्त भाग को अन्तोदात्तत्व होगा, ल-सार्वधातुक प्रत्यय ल-सार्वधातुक-अनुदात्त की प्रक्रिया से अनुदात्त होंगे, और मध्योदात्त क्रिया-शब्द बनेंगे। जैसे—वे॒वि॒ज्यते॑ (ऋ १,८१,१४), 'ने॒नी॒यते॑' (मा. ३४,६) आदि।

यङ्लुगन्त-प्रक्रिया में योग्यतानुसार पित् और अजादि-लसार्वधातुक प्रत्ययों में अभ्यस्त-स्वर[3] से आद्युदात्त होगा। जैसे—

---

1 धातो (पा ६,१,१६२)। २. ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा ६,१,१९७)।
३. अभ्यस्तानामादि, अनुदात्ते च (पा ६,१,१८९,१९०)।

'नर्नमीति' (ऋ. ५,८३,५), 'नर्नमीति' (तै. ४,७,१२,२), 'कनिक्रन्ति' (ऋ. ६,४३,५), 'धनिंष्नत' (ऋ. ६,६०,६), 'कनिक्रत्' (ऋ. १,१३१,३), 'जङ्घनत्' (ऋ ६,६६,२४), 'नन्नमत्' (ऋ. ८,४३,८), 'नर्नमाने' (ऋ. १०, ८२,१), 'नन्नमाने' (तै. ४,६,२,४) आदि।

नाम-धातु के क्यच्, क्यङ्, काम्यच् आदि प्रत्ययों से तदन्त भाग की 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा. ३,१,३२) सूत्र से धातु-संज्ञा होकर पित् प्रत्ययों मे पित्-स्वर से प्रत्यय के और मध्यवर्ती विकरण के अनुदात्त हो जाने से तथा 'वृषायसे' (ऋ. १,५५,२) आदि अ-पित् प्रयोगों मे ल-सार्वधातुक निघात से प्रत्यय अनुदात्त हो जाने के कारण धातु-स्वर से धातु का अन्त्यावयव 'य' उदात्त होगा। जैसे—'पृतन्यति' (ऋ. ६, ५३,३) 'पृतन्यसि' (ऋ. १,५४,४) 'नमस्यन्ति' (ऋ. १,३६,३) आदि। 'देवयन्त' (ऋ ३,६,१) आदि शत्रन्त शब्दों मे तथा 'ओजायमानम्' (ऋ. २,१२,११) आदि शानच्-अन्त शब्दों मे यही न्याय होगा। और शत्रन्त से अजादि 'शस्' आदि विभक्तियों मे विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त रूप निष्पन्न होंगे।

(घ) आर्धधातुक-स्वर

आर्धधातुक-स्वर मे गण-भेद नहीं है। किसी भी गण की धातुओं से आर्धधातुक प्रत्यय समान रूप मे होते है। लिट्, लुट्, लृट्, लेट् (सार्वधातुक लेट् का विवेचन भ्वादि-गण के तुल्य ऊपर गतार्थ हो चुका है) आशीर्लिङ्, लुङ्, लृङ् इन लकारों मे आर्धधातुक-संज्ञा का अवकाश है।

परस्मैपद मे लिट् लकार के प्रथम-पुरुष तथा उत्तम-पुरुष के एकवचन मे तिङ् प्रत्यय को 'णल्' आदेश[1] होता है। लित् ('ल्' की इत्संज्ञा वाला) होने के कारण द्वित्वापन्न धातु का 'णल्' से अनन्तरपूर्ववर्ती अंश लित्-स्वर[2] से उदात्त होगा। जैसे—'जुजान' (ऋ. २,१२,३), 'जघान' (ऋ २,१२,१०), 'बभूव' (ऋ. २,१२,६) आदि। अतुस्, उस्, अथुस्, अ, व, म प्रत्ययों (तिङादेशों) मे प्रत्यय-स्वर[3] होगा। अतुस्, अथुस् द्वयक्षर हैं, इसलिए प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त होगा। अर्थात् मध्योदात्त क्रिया-शब्द

१. परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः (पा. ३,४,८२)। २. लिति (पा. ६,१,१९३)। ३. आद्युदात्तश्च (पा. ३,१,३)।

होगा। जैसे—'बभूवतुः' (ऋ. ६,६२,५), 'चक्रथुः' (ऋ. १,६२,१; ७,८२,५)। उस्, थ, व, म एकाक्षर हैं, इसलिए प्रत्यय-स्वर से भी क्रिया-शब्द अन्तोदात्त होंगे। जैसे—'चानृधुः' (ऋ. २,२०,४), 'चकर्' (मै. ४,१४,१) चकृमा' (ऋ. १,३१,१८) आदि। 'थल्' में लित्-स्वर से मध्योदात्त होगा। 'चकर्थ' (ऋ. १,६३,४), 'बभूविथ' (ऋ. ८,३३,१६)।

आत्मनेपद में 'एश्'[1] प्रत्यय का स्वर होगा—'चक्रे' (ऋ.१,२५,१५) 'भेजे' (ऋ. ७,१८,१६) आदि। आताम्, आथाम् में प्रत्यय-स्वर से 'आ' उदात्त होकर मध्योदात्त क्रिया-शब्द होंगे। जैसे—'भेजाते' (ऋ. ७, ३६,१),'चक्राथे' (ऋ.१,१०८,३)। 'इरेच्'[1] में चित्-स्वर[2] से अन्तोदात्तत्व होगा। जैसे—'चक्रिरे' (ऋ. १,५०,७), 'भेजिरे' (शौ. १२,१,२३)। 'थास्' के स्थान में 'से' आदेश प्रत्यय-स्वर से उदात्त होगा। जैसे—'चकृषे' (ऋ. १,५२,१२)। वहिङ्, महिङ् प्रत्यय-स्वर से आद्युदात्त होंगे।

जहां आदन्त धातुओं से परे 'णल्' को 'औ' आदेश[3] हो जाता है, वहां प्रत्यय-स्वर से 'औ' उदात्त होगा। जैसे—'पपौ' (ऋ.१,१६२,१४)।

'ददृशे' (ऋ. ५,४४,६) आदि कतिपय विलक्षण क्रिया-शब्द हैं, जहां अभ्यस्त-स्वर से आद्युदात्तत्व सिद्ध करने के लिए लिट् लकार में तिङा-देश को भी छान्दस सार्वधातुक मानकर अजादि-लसार्वधातुकत्व की व्यवस्था करनी पड़ती है। परन्तु वेद में ऐसे शब्द अपूर्व नहीं। श्नु-विकरण सदा ल-सार्वधातुक में होता है। वेद में 'सुन्विरे' (ऋ. ८,५१,३) इस लिट् के रूप में श्नु-विकरण उपलब्ध है। जिसकी सिद्धि के लिए लिट् लकार में भी लसार्वधातुकत्व माने बिना निर्वाह नहीं होता।

लुट् लकार में सदा 'तासि' विकरण उदात्त रहेगा, यह पूर्व कहा जा चुका है। जैसे 'भवितास्म.' (शत्रा. १२,८,३,७)। शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न निम्न रेखा (–) है।

लृट् लकार में मध्यवर्ती स्य-विकरण को उदात्त होगा। जैसे—'करिष्यसि' (ऋ. १,१,६), 'भविष्यति' (ऋ. १०,८६,७), 'पक्ष्यामि' (ऋ. ६, ४,६), जनिष्यमाणम्' (मा. १८,५) आदि।

आशीर्लिङ् में यासुट्-आगम उदात्त होगा। जैसे—'भूयास्म'

---

1. लिटस्तझयोरेशिरेच् (पा. ३,४,८१)। 2. चितः (पा. ६,१,१६३)।
3. आत औ णलः (पा. ७,१,३४)।

(तै ४,३,११,२), 'भूयास्म' (मै २,१३,१०)। मैत्रायणी-शाखा मे उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व रेखा है।

लुङ् मे अड् आगम उदात्त रहेगा। जैसे—'अभूत' (ऋ. १,४६,१०) आदि। लृङ् मे भी अड्-आगम[1] उदात्त होगा।

४. उदात्त-स्वर

एकाक्षर नौ प्रादि—प्र, सम्, निस्, दुस्, वि, आ, नि, सु, उद्, उदात्त स्वर-युक्त हैं। यह आद्युदात्त आदि की गणना मे नहीं आ सकते (विस्तृत विवेचन 'गति-स्वर' के प्रकरण मे पढे)।

निपातों की इयत्ता का यथार्थ ज्ञान तो असम्भव है, परन्तु आचार्यों ने शास्त्रों के निरन्तर अवगाहन के पश्चात् कुछ सख्या का पता लगाया है। ऋग्वेद के महान् भाष्यकार आचार्य वेङ्कटमाधव का प्रयास इस दिशा मे अत्यन्त प्रशसनीय है। उन्होंने ऋग्वेद (३,७,१) की अपनी भाष्य-भूमिका मे निपातों की इयत्ता तथा उनके स्वर की स्थिति का विशद चित्रण किया है[2]। उनमे एकाक्षर कतिपय निपात उदात्त स्वर-युक्त हैं। जैसे—'न' (ऋ १,५८,२३) आदि। उपमा या प्रतिषेध आदि अर्थों में 'न' निपात उदात्त है।

---

१ लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त (पा ६,४,७१)।

२ इयत्ता इति सख्यान निपाताना न शक्यते।
उपसर्गास्तु विज्ञेया क्रियायोगेषु विंशति ॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
निपाता —खलु काम वै पृथङ् नाऽच्छा सचा पुन ।
९ १० ११ १२ १३१४ १५ १६ १७
शश्वन्नवर्त दिवा माकिर्यथेत् इति सद मुहु ॥
१८१९२० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७
मादयाऽघ मिथू शोर्भ मृषा स ज्योग् ऋधक् पृथक्।
२८ २९३०३१३२ ३३३४ ३५३६३७
हिरुक् श्रौपङर यट् नु किल हन्त नकिर्न्वह ॥
३८ ३९ ४०
अथो यदि नमस्तेऽमी चत्वारिंशद् उदाहृता ।
आद्युदात्ताश्च सर्वेऽमी सन्त्यन्येऽपि च तादृशा ॥
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
भामेदाशु वषट् स्वाहा नाना जोष स्मदन्ति कम्।
११ १२ १३१४१५ १६ १७ १८ १९
शन सामि हि मा वशि माकी माकीं सनेमि तात् ॥

आचार्य वेङ्कटमाधव (ऋ. १,७०,३-४) ने 'न' को समुच्चयार्थक भी माना है। भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने पदपूरणार्थक भी माना है। ऐसे ही प्रतिषेध अर्थ में 'मा' (ऋ. १,५,१०) उदात्त है।

एकाक्षर उपसर्ग तथा निपातों के अतिरिक्त एकाक्षर त्यद्, तद् आदि सर्वनाम शब्दों के विभक्त्यन्त रूप 'त्यम्' (ऋ. १,६१,१५) आदि सब उदात्त-स्वर से युक्त हैं।

गो, त्मन्, द्यो, इष्, दिव्, विश् आदि शब्दों के विभक्त्यन्तों में एकाक्षर उदात्त होंगे, और द्वयक्षर योग्यतानुसार आद्युदात्त और अन्तोदात्त भी होंगे। जैसे—एकाक्षर—'त्मन्' (ऋ. ४,४,६) उदात्त, और द्वयक्षर 'त्मना' (ऋ. १,२०,१४) 'त्मनि' (ऋ. १,१५८,४) आद्युदात्त। यहाँ 'आत्मन्' शब्द के आद्यक्षर 'आ' का 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा.६,४,१४१) सूत्र से लोप हो गया है। 'त्मन्' रूप में यद्यपि 'आङ्' पर में नहीं, परन्तु 'आङोऽन्यत्राऽपि छन्दसि लोपो दृश्यते' (काशिका ६,४,१४१) इस नियम से आदि के 'आ' का लोप हो गया है।

५. आद्युदात्त-स्वर

परा, अप, अनु, अव, अधि, अपि, अति, प्रति, परि, उप यह दस उपसर्ग आद्युदात्त हैं। जैसे—अनु (ऋ. १,१८७,४) अपि (ऋ. १,१८६,१) 'उप' (ऋ. १,२,६) आदि।

---

२० २१ २२ २३ २४ २५ २६
भूयस्तूर्यं मृषा द्युः श्वश्चकी वस्तोः षड्विंशतिः।

१ २ ३ ४
अन्तोदात्ता निपातेषु—मक्षु नूनं स्वयं पुरा॥

५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३
उतापिरेव मक्षित्था पश्चाद्देवम् अमा तिरः।

१४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२
प्रातरुच्चाऽऽञ्ज सुष्ठ्वद्धा कुवित् सद्य इह मिथः॥

२३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३०
साकमारात् सह चिरमन्तर् याशु सनाद् ऋते।

३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८
अन्तरा सनुत. स्वस्ति चनाऽऽरेऽधाऽनुपक् पुनः॥

३९ ४०
दोषा साप चत्वारिंशत्, सन्ति चान्ये च तादृशाः।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
दिद्युत् सत्रा द्रुहद् पराचैः शनकैर्मिथुया मृषु॥

८ ९ १०
सस्वर् ईषाद्‌ना वेऽमी दश सन्ति तथाऽपरे।

(वेङ्कटभाष्य-भूमिका ऋ. ३,७,१)

निपातों में भी दो अक्षर वाले कतिपय निपात आद्युदात्त जैसे—'अच्छ' (ऋ. १,२,२ प्रभृ.) 'अध' (ऋ. १,१८६,६) आदि विस्तार वेङ्कटमाध्य-भूमिका में (टिप्पण में) देखें।

श्रुत्यम (ऋ. २,३०,११), सूर्यः (ऋ. १,२३,७) आदि क्य प्रत्ययान्त शब्दों में, उत्तरम (ऋ. २,२३,८), नूतनस्य[1] (ऋ. २,२,५ नूत्नाः[1] (ऋ. ७,१८,२०) आदि तद्धित शब्दों में आद्युदात्त होंगे क्योंकि सर्वत्र प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्त होगा और शेष प्रकृत्यंश ही उदात्त रहेगा।

इन्द्राय (ऋ. ३,२६,७), ऋषिः (ऋ. १,३१,१) आदि उणादि निष्पन्न शब्द भी आद्युदात्त होंगे।

वैदिक शब्दों में आद्युदात्त शब्दों की इयत्ता का निर्देश असम्भव है। ऐसे अनन्त आद्युदात्त शब्द हैं। पाणिनीय-अष्टाध्यायी के स्वर प्रकरण में आद्युदात्तत्व-विधायक कतिपय नियम बताये गए हैं जिन आद्युदात्त शब्द सिद्ध होते हैं।

६. आद्युदात्त-स्वर-विधायक-नियम

१. सिच्-अन्त (लुङ् लकार में 'च्लि' विकरण के स्थान में 'सि आदेश जिसके अन्त में हो) क्रिया में विकल्प से आद्युदात्त होते हैं[2]। जैसे—यद्दैव जोषो अनिष्टाः (ऋ. १,६८,२), अनिष्ट हि जैन्यो अ (ऋ. ५,१,५), यथा नई जनिष्टारणी (ऋ. ५,६,३), यावा यमुनि पूधि अनिशाम् (ऋ. १०,४६,६) इत्यादि उदाहरणों में 'अनिष्टाः, जनि जनिशाम्' क्रियाओं में स्पष्ट आद्युदात्त हो रहा है। क्योंकि 'हि' तथ 'यत्', 'यथा', 'यत्र' (यद्-वृत्त) इन शब्दों के योग में तिङन्त क्रियाओं को अतिङन्त से परे सर्वानुदात्त होने का नियम[3] बाधित हो जाता है

विकल्प-पक्ष में इस सूत्र से आद्युदात्त न होकर प्रत्यय-स्वर से तिङ्-विभक्ति में अन्तोदात्त श्रवण होगा। जैसे—प्रासिष्टं वर्तिर्नृपेष (ऋ. १,११६,४)।

२. स्वप्-आदि (अदादिगणी √स्वप्, √श्वस्, √अन √जक्ष्, √जागृ आदि) तथा √हिंस् धातु को विकल्प से

१. नवस्य नू आदेशः यत्नप्खाथ प्रत्यया वक्तव्याः (वार्त्ता. ५,४,२५)
२. आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् (पा. ६,१,१८७)। ३. तिङ्ङतिङः (पा. ८,१,२८)।

आद्युदात्त होता है, यदि इडादि-भिन्न (जिनके आदि में इट्-आगम नहीं हुआ है) अजादि (जिनके आदि में अच् (अ इ उ आदि स्वर वर्ण) हैं) कित् ('क्' की इत्संज्ञा वाले) और ङित् ('ङ्' की इत्संज्ञा वाले) ल-सार्वधातुक प्रत्यय परवर्ती हों[1]। जैसे—स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः (शौ. ४,५,६) यहां लोट् लकार के प्रथम-पुरुष के बहुवचन में इड्-आगम से रहित तथा अ-पित् सार्वधातुक होने के कारण ङित्[2] प्रत्यय परवर्ती होने के कारण √स्वप् धातु को आद्युदात्त हो रहा है।

'ये च भूतेषु जाग्रति' (शौ. १६,४८,५)। यहां √जागृ धातु की अभ्यस्त-संज्ञा होने के कारण 'झि>अति' ल-सार्वधातुक प्रत्यय हो रहा है। क्योंकि अदादिगणी √जक्ष् आदि छः धातुओं की अभ्यस्त-संज्ञा[3] होकर, 'अदभ्यस्तात्' (पा. ७,१,४) सूत्र से अभ्यस्त से परे 'झि' के 'झ' भाग को 'अत्' आदेश होने का नियम है। यहां √जागृ धातु को आद्युदात्त हुआ है। विकल्प-पक्ष में जहां धातु को आद्युदात्त न होगा, वहां सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय-स्वर होगा, जैसे—उतादित्या जागृत यूयमस्मिन् (शौ. १,३०,१), सं त्वा शिशामि जागृहि (ऋ. १०,८७,२४) इत्यादि में 'जागृत', 'जागृहि' दोनों स्थलों में प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त हुआ है। क्योंकि अजादि ल-सार्वधातुक परवर्ती न होने के कारण आद्युदात्त संभव नहीं है। धातु के आद्युदात्तत्व में परवर्ती ल-सार्वधातुक का कित् या ङित् होना परमावश्यक है। इसी लिए उसके विपरीत जहां पर मे ल-सार्वधातुक अजादि न होगा और पित् (तिप्, सिप्, मिप्) होगा, वहां प्रस्तुत सूत्र-नियम तो चरितार्थ होगा नहीं, इसलिए मध्योदात्त क्रिया-शब्द बनेगा। क्योंकि पित् ल-सार्वधातुक प्रत्यय पर में पूर्ववर्ती √भी 'भये', √ह्री 'लज्जायाम्', √भृ 'धारणपोषणयोः', √हु 'दानादनयोः' √मद्, √जन्, √धन, √दरिद्रा और √जागृ धातुओं को उदात्त हो जाता है[4]। जैसे—यां प्रथमां दीक्षितो रात्रीं जागर्ति (मै. ३, ६,३) इस प्रयोग में 'ग' पर मध्योदात्त स्वर है। स्मरण रहे मैत्रायणी-संहिता में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। उक्त उदाहरण

1. स्वपादिहिंसामच्यनिटि (पा. ६,१,१८८)। 2. सार्वधातुकमपित् (पा. १,२,४)। 3. जक्षित्यादयः षट् (पा. ६,१,६) 4. भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति (पा. ६,१,१९२)।

मे ऊर्ध्व-रेखा वाले सब शब्द उदात्त हैं। यह तो √स्वप् आदि धातुओं का विवरण है। (पृष्ठ १०० पर तिङन्त-स्वर मे अदादि-गण के ल-सार्वधातुक-स्वर के विवेचन मे भी यह उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं)।

√हिंस् धातु रुधादि-गण की है उक्त सूत्र नियम मे इस धातु का विशेषत उल्लेख होने के कारण धातु मे आद्युदात्तत्व का श्रवण होगा। जैसे—न य हिंसन्ति धीतय (ऋ. ६,३४,३)।

३. प्रत्यय को आद्युदात्त होता है[1]। यदि प्रत्यय मे दो अक्षर होंगे तभी आद्युदात्तत्व का यथार्थ दर्शन होगा। जैसे—यान्ति (ऋ १, १७,१३), व्यन्ति (ऋ. ५,२३,३), घ्नन्ति (ऋ ८,८४,६) आदि प्रयोग क्रम से अदादि-गणी √या 'प्रापणे', √वी 'गत्यादिषु', √हन् 'हिंसागत्यो' धातुओं से ल-सार्वधातुक झि>अन्ति प्रत्यय से निष्पन्न हैं। सति-शिष्टस्वर से 'अन्ति' प्रत्यय आद्युदात्त हो रहा है। शेष अक्षर 'न्ति' के अनुदात्त हो जाने से, उदात्त से परवर्ती होने के कारण उस अनुदात्त को स्वरित[2] हो गया है जो ऊर्ध्वरेखा (॑) से चिह्नित है। जहा एकाक्षर प्रत्यय हैं, वहा आद्यन्तभाव से एक ही अक्षर मे आद्युदात्तत्व की कल्पना करनी होगी। जैसे—बोध (ऋ. १,१५१,७) आदि मे मध्यम-पुरुष के द्विवचन मे 'थस्' इस एकाक्षर ल-सार्वधातुक प्रत्यय को भी सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय-स्वर होकर अन्तोदात्त क्रियारूप निष्पन्न हुआ है।

४ इट्-आगम (आर्धधातुक प्रत्ययों मे वल-आदि प्रत्यय परे होने पर इट्-आगम होता है[3]) से रहित अजादि ('अच्' स्वरवर्ण आदि वाले) ल-सार्वधातुक प्रत्यय परवर्ती होने पर अभ्यस्त धातु को आद्युदात्त होता है[4]। जैसे—ये ददति प्रिया वसु (ऋ ७,३२,१५)। इस प्रयोग मे √दा 'दाने' धातु के लट् के प्रथम-पुरुष के बहुवचन मे झि>अति प्रत्यय से 'ददति' रूप निष्पन्न हुआ है। धातु के द्वित्वापन्न रूप (√दा>ददा) की अभ्यस्त-सज्ञा[5] है, अभ्यस्त रूप से अनन्तर परे मे ल-सार्वधातुक 'झि' प्रत्यय को 'अति' आदेश है, जो कि स्पष्ट

१. आद्युदात्तश्च (पा ३,१,३)। २. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित (पा. ८,४, ६६)। ३. आर्धधातुकस्येड् वलादे (पा ७,२,३५)। ४. अभ्यस्तानामादि (पा. ६,१,१८९)। ५ उभे अभ्यस्तम् (पा ६,१,५)।

अजादि ल-सार्वधातुक है। ददा+अति इस स्थिति में धात्वंश 'आ' का लोप हो गया है[1], और दद्+अति=ददति बना है। यहां अजादि 'अति' परे होते अभ्यस्त 'ददा' के आद्यक्षर 'द' को इस सूत्र-नियम से आद्युदात्त हुआ है।

ऐसे ही उद्योषधीर्जिहते (ऋ. ५,८३,४) में √ओहाङ् 'गतौ' के लट् लकार में प्रथम-पुरुष के बहुवचन में आत्मनेपद में झ>अते (अजादि लसार्वधातुक) प्रत्यय परे रहते 'जिहा' इस अभ्यस्त रूप के आद्यक्षर 'जि' पर आद्युदात्त है।

ऐसे ही 'शतृ' (अत्) 'शानच्' (आन) इन अजादि ल-सार्वधातुक प्रत्ययों के परे रहते भी अभ्यस्त धातुओं को आद्युदात्त होगा। जैसे—'पुनर्ददता' (ऋ. ५,५१,१५) में ददता। घनिघ्नत् (ऋ. ६,६०,६) में घनिघ्नत्, दधानाः इन्द्र इद्दुवः (ऋ. १,४,५) में 'दधानाः', 'चित्रं कृतुं कृणुते चेकिताना (ऋ १, ११३,१५) में 'चेकिताना' क्रम से √दा, और √हन् धातु के यङ्-लुगन्त घनिहन् तथा √धा, एवं √कित् से रूप निष्पन्न हैं। सर्वत्र आद्युदात्त है। यद्यपि शानच् प्रत्यय में 'च्' की इत्संज्ञा होने से चित्-स्वर[2] से अन्तोदात्तत्व प्राप्त है, परन्तु विशेषविहित होने के कारण आद्युदात्त ही होगा।

५. यदि ल-सार्वधातुक प्रत्यय अजादि न हों, और अनुदात्त प्रत्यय परे हों तो भी अभ्यस्त को आद्युदात्त होता है[3]। जैसे—'मिमाति मायुम्' (ऋ. १,१६४,२८) यहां पर √मा धातु से तिप् (पित् लसार्वधातुक) परे रहते अभ्यस्त को आद्युदात्त हुआ है। तिप्, सिप्, मिप् प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्त होते हैं[4]।

६. सर्व शब्द सर्वनाम-संज्ञक है और काशिकाकार ने अन्तोदात्त शब्द माना है। अन्तोदात्तत्व में प्रमाण 'सर्वस्य विकारः सार्वः' प्रस्तुत किया है और 'अनुदात्तादेरञ्' (पा. ४,२,४४) से विकार अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय से सिद्ध किया है। क्योंकि अन्तोदात्त द्व्यक्षर शब्द ही अनुदात्तादि हो सकता है। सर्वजन्मनः (शौ. ११,६,२४) आदि बहुव्रीहि समास के प्रयोगों के पूर्व-पद में अन्तोदात्तत्व (प्रकृतिस्वर) का ही श्रवण इसमें उपपादक हो सकता है। कर्मधारयसमास में 'सर्व

१. श्नाभ्यस्तयोरातः (पा. ६,४,११२)। २. चितः (पा. ६,१,१६३)। ३ अनुदात्ते च (पा. ६,१,१९०)। ४. अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा. ३,१,४)।

गुणकात्स्न्यें' (पा. ६,२,९३) सूत्र से पूर्व-पद में अन्तोदात्तत्व का विधान इसमें सहायक नहीं है। परन्तु सुप् (सु, औ, जस् आदि) विभक्ति पर में हो तो सर्व शब्द को आद्युदात्तत्व हो जाता है[1]। जैसे—सर्वः (ऋ. १,४१,२), सर्वम् (ऋ. १,२६,७), सर्वस्य (ऋ. १०, १२७,६), सर्वा (ऋ. १,१२६,७), सर्वाः (ऋ. १,१८८,८), सर्वान् (ऋ. १, १६१,८), सर्वाभ्यः (ऋ. २,४१,१२), सर्वासाम् (ऋ. १,१२७,८), सर्वे (ऋ. १,१६१,३) आदि।

समास में पूर्वपद-प्रकृतिस्वर के उदाहरण भी मिलते हैं, वहां अन्तर्वर्तिनी सुप् विभक्ति मानकर आद्युदात्त शब्द की कल्पना करनी होगी। जैसे—सर्वसेनः (ऋ. १,३३,३), सर्ववीरः (ऋ. ३,६२,३) आदि।

७. लित् (जिसमें 'ल्' की इत्संज्ञा होती है) प्रत्यय पर में हो तो पूर्व धात्वंश को आद्युदात्त होता है[2]। जैसे—ल्यु—वर्धनम् (ऋ. २, १२,१४)। √वृध् धातु से कर्ता अर्थ में 'ल्यु' प्रत्यय हुआ है[3]। प्रत्यय के आदि के 'ल्' की इत्संज्ञा होकर[4] शेष 'यु' को 'अन' आदेश हो जाता है[5]। √वृध्+यु>अन=वर्धन। ल्यु प्रत्यय यद्यपि धातु-स्वर की अपेक्षा सति-शिष्ट होने से बलवान् है, परन्तु इस सूत्र से विशेष विधान होने के कारण धात्वंश को उदात्त हुआ है। धरणः (ऋ. २, २४,७)। ण्वुल्—जार्भकम् (मा. ३०,१६)। √जभि 'गात्रविनामे' से कर्ता में 'ण्वुल्' प्रत्यय हुआ है[6]। अन्त्य 'ल्' की इत्संज्ञा होकर[7] 'वु' को 'अक' आदेश हुआ है[5]। √जम्भ्+वु>अक=जम्भक। यहां पर भी लित् प्रत्यय के परे होने के कारण आद्युदात्त है। ल्युट्—भोजनम् (ऋ. १,८३,४; २,१५,२) यहां √भुज् धातु से भाव-कर्म में 'ल्युट्' प्रत्यय हुआ है। शेष 'ल्यु' जैसे जानना। ऐसे ही करणम् (ऋ. ५,३१,७) शब्द √कृ+ल्युट् से निष्पन्न है।

(८. अजन्त धातुओं को कर्ता अर्थ में 'यक्' प्रत्यय परे होने पर विकल्प से आद्युदात्त होता है[8]।) कर्मकर्तृ-प्रक्रिया में यह नियम

---

१. सर्वस्य सुपि (पा. ६,१,१९१)। २. लिति (पा. ६,१,१९३)। ३. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (पा. ३,१,१३४)। ४. लशक्वतद्धिते (पा. १,३,८)। ५. युवोरनाकौ (पा. ७,१,१)। ६. ण्वुल्तृचौ (पा. ३, १,१३३)। ७. हलन्त्यम् (पा. १,३,३)। ८. अचः कर्तृयकि (पा. ६, १,१९५)।

चरितार्थ होता है। जैसे—यो जिनाति न जीयते (ऋ. ६,५५,४), न जीयते कदाचन (ऋ. १०,१५२,१) ✓जि धातु से कर्मकर्तृ-प्रक्रिया में प्रथम-पुरुष के एकवचन में आत्मनेपद तथा 'यक्' आगम करके यह रूप बना है[1]। यहां दीर्घ हुए 'जी' इस धात्वंश को 'य' प्रत्ययांश परे आद्युदात्त हुआ है। इसी का अथर्ववेद (१,२०,४) में पाठ-भेद 'जीयते' यह मध्योदात्त शब्द है। जहां विशेष विहित होने के कारण 'यक्' विकरण का स्वर हुआ है। सायणाचार्य जी ने अपने ऋग्वेद और अथर्ववेद के भाष्य में दोनों जगह 'न च शत्रुभि पराजितो भवति' यह अर्थ किया है। इस लिए निर्दिष्ट उदाहरण सूत्र-नियम का और पाठ-भेद से पक्षान्तर में मध्योदात्तत्व का भी उपपादक हो जाता है। ऐसे ही 'युदा धा जीयेरन्' (तै. ७,२,१,४) यह भी इसी सूत्र-नियम का उदाहरण है।

६. ञित् (जहां 'ञ्' की इत्संज्ञा हुई है) और नित् (जहां 'न्' की इत्संज्ञा हुई है) प्रत्यय परे होने पर (शब्द या क्रिया में) नित्य आद्युदात्त होता है[2]। जैसे ञित्—यञ् प्रत्यय[3]—दैव्यं (ऋ १, २७,१४), दैव्यम् (ऋ १,३१,१७), दैव्याय (मा १,१२)। अञ्—दैवं (शौ. ७,१२,१), दैवेन (मा ३७,१५), पार्थिवात्[4] (ऋ. १,६,१०), औदुम्बरेण[4] (शौ १६,३१,१), औदिंगहाय[5] (मा. २६,६०) आदि में देव आदि शब्दों से 'अञ्' प्रत्यय हुआ है। 'ञ्' की इत्संज्ञा होने से प्रत्यय ञित् है, और इसी लिए शब्द के आद्यक्षर को निर्दिष्ट नियम से आद्युदात्तत्व हुआ है। ऐसे ही और्वाय (तै ७, १,८,१), भारद्वाज (ऋ. ६,५१,१२) इन दोनों शब्दों में अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय है[6]। इञ्[7]—औद्दालकि (तै. ७,२,२,१) शब्द उद्दालक शब्द से अपत्य अर्थ में बना है। जानकिम् (तै ७,३,८,१) जनक शब्द से अपत्यार्थ में। ष्यञ्[8]—औपद्रष्टाय (मा. ३०,१३) उप-द्रष्टृ शब्द से। काव्यानि (ऋ १९६,१) कवि शब्द से। जानराज्याय (मा. ६,४०) जन-राज शब्द से। यस्मिन् विश्वानि पौंस्या (ऋ. १,५,६) पुस्-शब्द से कर्म अर्थ में प्रत्यय हुआ है[8]। ऐसे ही तद्धित के संपूर्ण ञित्-प्रत्ययों में

---

१. कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय (पा. ३, १, ८७)। २ ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा. ६, १, १९७)। ३ देवाद् यञञौ (पावा. ४, १, ८५)। ४. पृथिव्या ञाञौ (पावा. ४, १, ८५)। ५. उत्सादिभ्योऽञ् (पा. ४, १,८६)। ६. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् (पा ४,१,१०४)। ७. अत इञ् (पा. ४,१,९५)। ८. गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च (पा. ५,१,१२४)।

यही स्थिति है। ब्य[1]—गार्हपत्येन (ऋ १,१५,१२)। कृदन्त शब्दों में घञ्—भोगं (ऋ. १,१६३ ७)। रोगं (शौ ६,४४,१), मोदाँ (ऋ ६, ११२,११) आदि। उकञ्—कामुका (तै ६,१,६ ६), हार्रुका (तै. ५, ६,४,५), घातुंक (शौ १२,४,७) आदि।

इसी प्रकार नित्—मनिन्[2]—कर्मण (ऋ १,११,४), ब्रह्म (ऋ २ १८,७)। तृन्—कर्ता (ऋ. २,३४,६), जनिता (ऋ ३, १,१२)। तोसुन्—कर्तो (ऋ १,११५,४), जनितो (ऋ ४, ६,७)। कृत्यार्थे त्वन्—जनित्वम् (ऋ. १,६६,४)। तवेन्—सर्तवे (ऋ २,१८,१२), यातवे (ऋ १,३७,१०), हर्वितवे (ऋ ८,१०१,४), कर्तवे (ऋ १,८५,६)। तुमुन्—कर्तुम् (मै ४,६,८)। असेन्—अर्वसे (ऋ २,१०,६)। किन्—जग्मि (ऋ. ६,६१,२०), चक्रये (ऋ. १,६,२)। शध्यैन्—पिबध्यै (ऋ १,८०,४)। श्यन्—जायते (ऋ १,३१,११), पुष्यमाना (ऋ. ७,१२,६)। असुन्[3]—नम (ऋ. २,२१,२), सुते दधिष्व नश्चनः (ऋ १,३,६) यहां चनं शब्द चनस् (=अन्न) से नित होने के कारण आद्युदात्त है। सन्—जिघांसति (ऋ ७,२३,१२) सन्नन्त √हन् धातु से। चिकीर्षति (शौ ५,८,३) सन्नन्त √कृ धातु से। शानन्[4]—पर्वमानम् (ऋ ६,१३,१२)। वर्तमानाव (ऋ. २,१८,३)। इष्ठन्—करिष्ठ (ऋ ७,६७,७) कर्तृ-शब्द से अतिशय अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्यय है। यजिष्ठ (ऋ १,७७,१) यष्टृ-शब्द से। इसी प्रकार नविष्ठया (ऋ १,८२ २) नव-शब्द से। ईयसुन्—नवीयसा (ऋ. १,१२,११) आदि सपूर्ण कृदन्त तथा तद्धितान्त ञित्, नित् प्रत्ययों में इस सामान्य सूत्र नियम से आद्युदात्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। इसी नियम को ञित् स्वर तथा नित्-स्वर कहते हैं।

१०. पद से परे न हो और पाद के आदि मे स्थित हो (चाहे अविद्यमानवद्भाव से ही क्यों न सपन्न हुआ हो) वैसे आमन्त्रित (संबोधन) का आद्यक्षर उदात्त होता है[5]। जैसे—अश्विना यज्वरीरिषः (ऋ. १,३,१), वायवायांहि दर्शत (ऋ १,२,१), इन्द्र वाजेषु नोऽव (ऋ. १, ७,४) यहां 'अश्विना', 'वायो', 'इन्द्र' इन पाद के आदि मे स्थित

---

१ गृहपतिना सयुक्ते ञ्य (पा ४, ४, ९०)। २ सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणादिसूत्र ४, १४२)। ३ सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणादिसूत्र ४, १८६)। ४ पूङ्यजो शानन् (पा ३, २, १२८)। ५ आमन्त्रितस्य च (पा ६, १, १९८)।

आमन्त्रित शब्दों को आद्युदात्तत्व हुआ है। विशेष विवेचन पञ्चम अध्याय में देखें।

११. लुङ् लङ् लृङ् लकारों में निष्पन्न शब्दरूप (अङ्ग) को उदात्त अट्-आगम होता है[1]। टित् (जिसमें ट् की इत्संज्ञा हो रही है) आगम अङ्ग के आदि का अवयव होता है[2]। इसलिए यह अड्-आगम (अजादि धातु मे आट्-आगम) क्रियारूप के आद्यवयव होने से क्रिया आद्युदात्त होगी। जैसे—अहन् (ऋ. १,३२,४) √हन् धातु से तथा अह्वयेताम् (ऋ. १०,५४,१) √ह्वे धातु से लङ् लकार मे निष्पन्न रूप हैं। और आदि के अड्-आगम को उदात्त हुआ है।

१२. सर्वनामस्थान विभक्तियों (सु, औ, जस्, अम्, औट्) मे पथिन् (अन्तोदात्त) शब्द आद्युदात्त होता है[3]। जैसे—सुगा पन्थाम् (ऋ. १,२४,८)। अ-सर्वनामस्थान विभक्तियों मे उदात्तनिवृत्ति-स्वर से अन्तोदात्तत्व होगा।

१३. निवास अर्थ मे 'क्षय' शब्द आद्युदात्त होता है[4]। जैसे—स्वे क्षये शुचिव्रत (ऋ. १०,११८,१), महतो यस्य हि क्षये (ऋ. १,८६,१)। ध्रुव उरु क्षयाय चक्रिरे (ऋ. १,३६,८)। सर्वत्र √क्षि 'निवासे' (तुदादिगणी) से अधिकरण मे घ प्रत्यय[5] करके निवास-वाचक 'क्षय' शब्द है। जो कि निर्दिष्ट नियम से आद्युदात्त हो रहा है। इसके विपरीत नाश-वाची 'क्षय' शब्द भावार्थक अन्तोदात्त है, जो 'एरच्' (पा. ३,३,५६) सूत्र से इकारान्त √क्षि 'क्षये' से भाव मे अच्-प्रत्यय होकर चित्स्वर से अन्तोदात्त है।

१४. 'जीतना' अर्थ मे 'जय' शब्द पूर्ववत् अच्-प्रत्ययान्त भावार्थक अन्तोदात्त है। परन्तु करणवाची 'जय' शब्द (जिसके साधन से युद्ध जीता जावे, अर्थात् मन्त्र या जयमन्त्र) आद्युदात्त होता है[6]। जैसे—यदजयन् तज्जयानां जयत्वम् (तै ३,४,४,१)। अर्थात् जिन मन्त्रों से आहुति देकर असुरों पर देवताओं की विजय हुई, वह जय-संज्ञक मन्त्र यहां आद्युदात्त विवक्षित है। यहां √जि धातु से करण अर्थ में 'अच्'

---

१. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (पा. ६,४,७१)। २. आद्यन्तौ टकितौ (पा. १,१,४६)। ३. पथिमथोः सर्वनामस्थाने (पा ६,१,१९९)। ४. क्षयो निवासे (पा. ६, १,२०१)। ५. पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (पा. ३, ३, ११८)। ६. जय. करणम् (पा. ६,१,२०२)।

प्रत्यय (पा. ३,३.५६) करके 'जय' शब्द निष्पन्न है। सिद्धान्तकौमुदी में 'जयत्यनेन जयोऽश्वः' यह उदाहरण लौकिक है, वैदिक नहीं।

१५. जो कोई शब्द वेद में आद्युदात्त उपलब्ध होता है, और उसकी सिद्धि के लिए कोई विशेष सूत्र नहीं है, ऐसे आद्युदात्त शब्दों का अनुगम करने के लिए वृषादि-गण में पाठ मान लेते हैं। क्योंकि वृषादि-गण में पठित शब्दों को आद्युदात्तत्व होता है[1], और वृषादि-गण इसी लिए आकृति-गण है। गण-पाठ में वृषादि-गण में वृष, जन, ज्वर आदि शब्द पठित हैं। व्याकरण के न्याय से 'वृष' शब्द 'वर्षतीति वृषः' इस कर्ता अर्थ में 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा. ३,१,१३५) सूत्र से √वृष् धातु से क-प्रत्यय होकर सिद्ध है। परन्तु सति-शिष्टस्वर (प्रत्यय-स्वर) से यह अन्तोदात्त बनेगा, आद्युदात्त नहीं। ऐसे ही 'जायते इति जनः' इस व्युत्पत्ति से √जन् धातु से तथा 'ज्वलतीति संतापयतीति ज्वरः' इस व्युत्पत्ति से √ज्वर धातु से कर्ता अर्थ में अच्-प्रत्यय (पा. ३,१,१३४) करके चित्-स्वर से 'जन' शब्द और 'ज्वर' शब्द अन्तोदात्त प्राप्त हैं। उपलब्ध आद्युदात्त होते हैं, इसलिए ऐसे शब्दों का वृषादि-गण में पाठ करने से आद्युदात्तत्व हो जाता है। जैसे—वृषा (शौ.२०,१२७,५), न् चित्स दम्पते जनः (ऋ. १.४१,१)। 'ज्वर' का वैदिक उदाहरण लभ्य नहीं है।

कामम् (ऋ. २,२०,४) शब्द √कम् धातु से 'घञ्' प्रत्यय में बना है। आकारवान् घञन्त शब्द[2] अन्तोदात्त होते हैं, किन्तु इस गण में पाठ के कारण आद्युदात्त हो गया है।

१६. 'शुष्क' और 'धृष्ट' शब्द को आद्युदात्त होता है[3]। √शुष् और √धृष् धातु से क्त-प्रत्यय होकर दोनों शब्द प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त हैं। किन्तु निर्दिष्ट विशेष नियम से आद्युदात्त होते हैं। जैसे—अतसं न शुष्कम् (ऋ. ४,४,४)। 'पादाभ्यां हि धृष्टं प्रहरति' (शत्रा. १४, २१,२२)। स्मरण रहे शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त अक्षर का ज्ञान कराने के लिए अक्षर के नीचे पड़ी रेखा का चिह्न लगाते हैं। इसलिए 'धृष्टम्' यह आद्युदात्त शब्द है।

१७. कर्तृवाचक 'आशित' शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—कृधन्नित्फाल आशितम् (ऋ. १०,११७,७)। कर्तृवाचक 'आशित' शब्द को

१. वृषादीनां च (पा. ६, १, २०३)। २. कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः (पा. ६,१,१५९)। ३. शुष्कधृष्टौ (पा. ६,१,२०६)।

शेखरकार आचार्य नागेश ने √अश् 'भोजने' धातु से कर्ता अर्थ में क्त-प्रत्यय करके इसी सूत्र-नियम की सामर्थ्य से धातु की उपधा को दीर्घत्व और आद्युदात्तत्व दोनों माने हैं[१]। क्योंकि पदपाठकार ने 'आशित' शब्द के मध्य में अवग्रह-चिह्न नहीं माना। महर्षि शाकल्य समस्त शब्द के दो अवयवों का निर्देश करने के लिए पद के मध्य में (ऽ) ऐसा अवग्रह का चिह्न लगा दिया करते हैं। इसके विपरीत व्याकरण-महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने 'आशित' शब्द में 'आङ्' उपसर्ग को आद्यवयव मानकर आ+अशित ऐसा अवग्रह-युक्त शब्द माना है[२]। काशिका-वृत्ति ने भी महाभाष्यकार का समर्थन किया है[३]। शेखरकार ने भी महाभाष्यकार का आदर करते हुए विकल्प पक्ष में उनका सिद्धान्त माना है। हमारी दृष्टि में शेखरकार का पहला अवग्रह-रहित पदपाठानुसारी पक्ष युक्ति-युक्त है। जिस सूत्र की सामर्थ्य के विशेष-विधान से आद्युदात्तत्व हो सकता है, उसी सामर्थ्य से उपधादीर्घत्व की कल्पना भी अधिक युक्ति-संगत है। यदि पाणिनीय सूत्रों 'पङ्क्तिविंशति°' (पा. ५,१,५९), 'आसन्दीवत्°' (पा. ८,२,१२) से निपातनात् अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। यदि 'गरिष्ठ' शब्द की निष्पत्ति के लिए गुरु+इष्ठन् में 'प्रियस्थिर°' (पा. ६,४,१५७) से निपातन से गुरु को 'गर्' हो सकता है। यदि √ऋ धातु के 'इयर्ति' का 'अलर्षि' रूप 'दाधर्तिदर्धर्ति°' (पा. ७,४,६५) सूत्र की सामर्थ्य से निपातनात् बन सकता है तो उसी निपातन[४] के न्याय से आद्युदात्तत्व के साथ-साथ उपधादीर्घत्व मान लेना अधिक युक्तियुक्त है, इससे पदपाठकार का भी समर्थन हो जाता है। ऐसी युक्ति-युक्त शब्द-सिद्धि की संभावना में भी महाभाष्यकार पतञ्जलि का आङ्-उपसर्गपूर्वक

---

१. सकर्मकादप्यशेः कर्तरि क्त उपधादीर्घश्चाद्यैव निपात्यते (लघुशब्देन्दुशेखर)। २. किं निपात्यते ? आशिते कर्तरि निपातनम् उपधादीर्घत्वम् आद्युदात्तत्वं च (वार्तिक)। आशित इति क्तः कर्तरि निपात्यते। आशितवान् आशितः, उपधादीर्घत्वम् आद्युदात्तत्वं च निपात्यते। आद्युदात्तत्वम् अनिपात्यम्, अधिकारात् सिद्धम्। उपधादीर्घत्वम् अनिपात्यम्। आङ्पूर्वस्य प्रयोगः। यद्येवमवग्रहः प्राप्नोति, न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्तव्यम् (महाभाष्य)। ३. आङ्पूर्वादश्नाते भोजनेऽस्मात् कर्तरि क्तो निपात्यते। ४. यदिह लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम् (काशिका पा. ५, १, ५९)।

√अश् धातु से 'अर्शित' शब्द को सिद्ध मानकर पदपाठकार को अवग्रह करने के लिए बाध्य करने में कोई अकाट्य तर्क नहीं है। √अश् धातु से णिजन्तावस्था में कर्म में क्त-प्रत्यय करके 'आशित' शब्द अन्तोदात्त होगा। जैसे—आशितम् (शत. १४,७,३,११)।

१८. 'रिक्त' शब्द को वेद में विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है[1]। उदाहरण उपलब्ध वैदिक-स्वर-युक्त साहित्य में प्राप्त नहीं है। अन्तोदात्त 'रिक्त' शब्द उपलब्ध है। जैसे—रिक्ताय स्वाहा (तै. ७,३,२०,१)।

१६. छन्द में 'जुष्ट' और 'अर्पित' शब्दों को विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है[2]। पक्ष में अन्तोदात्तत्व भी। जैसे—जुष्टो दमूना अतिथि-र्दुरोणे (ऋ. ५,४,५)। यहां 'जुष्ट' शब्द आद्युदात्त है। 'मतो जुष्टो धिया हितः' (ऋ. ६,४४,२) में अन्तोदात्त 'जुष्ट' है। 'अर्पित' शब्द भी पर्वे-णाहुरर्पितम् (ऋ. १,१६४,१२) में आद्युदात्त है। और अर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः (ऋ. १,१६४,४८) में अन्तोदात्त है। इस प्रकरण में क्त-प्रत्ययान्त शब्दों को आद्युदात्तत्व के विधान से सिद्ध है कि यथार्थ में क्त-प्रत्ययान्त शब्द सामान्य तौर पर प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त हैं।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस 'जुष्टार्पिते चच्छन्दसि' (पा. ६, १,२०६) सूत्र में 'छन्दसि' शब्द पठित है। इसके अगले सूत्र 'नित्यं मन्त्रे' (पा. ६,१,२१०) सूत्र में 'मन्त्रे' पढ़ा गया है। 'छन्दसि' शब्द वेद के मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग दोनों के लिए सामान्य है। ब्राह्मण-भाग की व्यावृत्ति के लिए 'नित्यं मन्त्रे' सूत्र में 'मन्त्रे' शब्द चरितार्थ होगा। तात्पर्य यह कि दोनों सूत्रों का अनुगत अर्थ यह होगा कि वेद के ब्राह्मण-भाग में 'जुष्ट' और 'अर्पित' शब्द आद्युदात्त और अन्तोदात्त दोनों प्रकार के हों और 'मन्त्रे'=मन्त्र-भाग में नित्य (केवल) आद्युदात्त। उपलब्ध इससे विपरीत होता है। आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त दोनों प्रकार के जुष्ट और अर्पित शब्द वेद के मन्त्र-भाग में ही उपलब्ध हैं। ब्राह्मण-भाग में नहीं। कदाचित् आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त दोनों प्रकार के शब्दों वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों को कालकवलित भी मान लें, परन्तु मन्त्र-भाग में तो 'नित्यं' का प्रतिबन्ध लगा हुआ है। उसके अनुसार मन्त्र-भाग में आद्युदात्त ही दोनों शब्द मिलने चाहिएं, न कि अन्तोदात्त भी। इसलिए सिद्धान्तकौमुदी में तो भट्टोजिदीक्षितजी ने 'एतत्सूत्रं

१. रिक्ते विभाषा (पा. ६,१,२०८)। २. जुष्टार्पिते चच्छन्दसि (पा. ६, १,२०९)।

शक्यमकर्तुम्' (यह सूत्र प्रत्याख्यानयोग्य है) इन शब्दों से प्रत्याख्यान की पुष्टि की है। काशिकाकार ने 'केचित्' का पक्ष देकर कहा है कि उनके मत में 'जुष्टार्पिते च्छन्दसि' (पा. ६,१,२०६) सूत्र से 'नित्यं मन्त्रे' सूत्र में जुष्ट शब्द की ही अनुवृत्ति है, अर्पित की नहीं, अतः अर्पित-शब्द आद्युदात्त अन्तोदात्त दोनों मिलेगा, और जुष्ट केवल आद्युदात्त। किन्तु यह सगत नहीं। जुष्ट-शब्द के भी आद्युदात्त अन्तोदात्त दोनों वैदिक उदाहरण हमने ऊपर दिखाये हैं। जिससे 'केचित्' का समाधान न-गम्य है।

२०. युष्मद् और अस्मद् शब्दों के 'ङस्' (षष्ठी विभक्ति के एकवचन) तथा 'ङे' (चतुर्थी विभक्ति के एकवचन) में निष्पन्न तव, तुभ्यम्, मम, मह्यम् आद्युदात्त होते हैं[1]। शेष विभक्ति-वचन में अन्तोदात्त ही रहते हैं। जैसे—तव मम नहि पस्तव नो मर्म (ऋ. ८, ३३,१६), तुभ्यं हिन्वानः (ऋ. २,३६,१), मह्यं वातं पवताम् (ऋ. १०, १२८,२)।

२१. दो अच् (स्वर अक्षर) वाले यत्-प्रत्ययान्त (कृदन्त हो या तद्धित शब्द, जिनके अन्त में 'यत्'प्रत्यय हो रहा हो) शब्द को आद्युदात्त होता है[2]। 'नाव्य' (नौ शब्द से तद्धित 'यत्' प्रत्यय[3] करके निष्पन्न) शब्द को छोड़ कर। जैसे—युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी (ऋ. १,६,२)। यहां 'काम्या' शब्द णिङ्-प्रत्ययान्त √कमु 'कान्तौ' धातु से अर्हार्थ में 'यत्' प्रत्यय[4] होकर निष्पन्न है। 'यत्' में अन्त्य 'त्' की इत्संज्ञा हो जाने से तित् प्रत्यय कहलायेगा। और 'तित् स्वरितम्' (पा. ६,१,१८५) सूत्र से 'काम्या' शब्द में अन्त-स्वरित प्राप्त है। परन्तु निर्दिष्ट नियम से स्वरित न होकर आद्युदात्त होता है। ऐसे ही 'हव्यः' (ऋ. १,३३,२) शब्द √हु धातु से अर्हार्थ में पूर्ववत् 'यत्' प्रत्यय करके यत्प्रत्ययान्त शब्द बना है। और 'अश्व्यः' (ऋ. १,३२,१२) शब्द अश्व शब्द से तद्धित 'यत्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। दोनों ही प्रकार के यत्प्रत्ययान्त द्व्यच् शब्दों में यह आद्युदात्त नियम चरितार्थ होगा। इसी को यतोऽनावीय-स्वर कहते हैं। नाव्य-शब्द यत्प्रत्ययान्त द्व्यच् होते हुए भी पर्युदास की सामर्थ्य से आद्युदात्त न होकर स्वरितान्त ही होगा। जैसे—नाव्याः (ऋ. १,८०,८), नाव्यानाम् (ऋ. १,३३,११)।

---

१. युष्मदस्मदोर्ङसि, ङयि च (पा. ६,१,२११;२१२)। २. यतोऽनावः (पा. ६,१,२१३)। ३. नौवयोधर्म॰ (पा. ४,४,९१)। ४. अचो यत् (पा. ३,१,९७)।

२२. √ईड 'स्तुतौ', √वदि 'अभिवादनस्तुत्योः', √वृङ् 'संभक्तौ', √शंस 'स्तुतौ', √दुह् 'प्रपूरणे' धातुओं के ण्यत् प्रत्ययान्त शब्दों को आद्युदात्त होता है[1]। जैसे—ईड्यो नूतनैरुत (ऋ. १,१,२), आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च (ऋ १०,११०,३), श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम् (ऋ ३,२१,२), उक्थमिन्द्राय शंस्यम् (ऋ. १,१०,५)। 'दोह्य' का वैदिक उदाहरण अनुपलब्ध है।

२३. दिशा-वाचक 'आशा' शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—इन्द्र आशाभ्यस्परि (ऋ. २,४१,१२)। इसके विपरीत आशंसा-वाचक 'आशा' शब्द अन्तोदात्त होगा[2]। जैसे—आशाम् (शौ. ६,११९,३)।

७. मध्योदात्त-स्वर

१. सामान्यतः प्रत्यय-स्वर आद्युदात्त होने के कारण[3] सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय-स्वर बलवान् होगा, और शब्द में उसका श्रवण मध्योदात्त के रूप में होगा। जैसे—उचथानि (ऋ. १,०२,१०) में √वच् धातु से उणादि 'अथक्' प्रत्यय हुआ है। अनुबन्ध 'क्' का परिहार करके धातु में सम्प्रसारण होकर √उच्+अथ=उचथ में प्रत्यय-स्वर से प्रत्यय का आदि 'अ' उदात्त है। इसलिए शब्द मध्योदात्त होगा। यज्ञियम् (ऋ. १,६,४) में 'अर्हति' अर्थ में यज्ञ-शब्द से घ-प्रत्यय[4] और 'घ'>'इय' आदेश[5] होकर प्रत्यय-स्वर से प्रत्यय का आदि 'इ' उदात्त है। और शब्द मध्योदात्त है। प्राचीनेन (ऋ. १५४,५) में 'प्राच्' शब्द से स्वार्थ में ख-प्रत्यय[6] और ख>ईन आदेश[5] होकर प्राच्+ईन में प्रत्यय-स्वर से आदि के 'ई' को आद्युदात्त होने से मध्योदात्त शब्द बना है। शुभ्रमयम् (ऋ १,११६,४२) में 'मयट्' प्रत्यय के आदि 'म' को उदात्तत्व होने से मध्योदात्त शब्द है। ऐसे ही स्वादि-गण के कृणोति (ऋ. ८,११,०), कृणोषि (ऋ. ४,१०,७) आदि में मध्यवर्ती 'नु' विकरण को सति-शिष्ट होने के कारण प्रत्यय-स्वर से उदात्तत्व हुआ है। और तिङन्त क्रिया मध्योदात्त है। अदादिगणी धातुओं के शतृ-प्रत्ययान्त 'स्तुवन्तम्' (ऋ. ३,२०,१) आदि 'स्तुवत्' शब्द से, स्वादिगणी धातुओं के शत्रन्त

1. ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः (पा. ६,१,२१४)। 2. आशाया अदिगाख्या चेत् (फिट्सूत्र १९८)। अर्थान्तरम् अन्तोदात्त इत्यर्थः। 3. आद्युदात्तश्च (पा. ३,१,३)। 4. यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (पा. ५,१,७१)। 5. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (पा. ७,१,२)।
6. विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् (पा. ५,४,८)।

'सुन्वन्तम्' (ऋ. २,१२,१४) आदि 'सुन्वत्' शब्द से, तुदादिगणी धातुओं के 'नुदस्व' (ऋ. ६,५३,१), नुदामः (शौ. १७,१,४३), इच्छान्ति (ऋ. ३,३०,१) इत्यादि क्रियारूपों और इच्छन्तः (ऋ. १,७२,२), क्षियन्तम् (ऋ. २,१२,११), इच्छन्ती (ऋ. ५,३७,३) आदि शत्रन्त और इच्छमानः (ऋ. १,१२६,१) शानच्-प्रत्ययान्त रूपों में ल-सार्वधातुक को अनुदात्त हो जाने पर मध्यवर्ती विकरण 'अ' को प्रत्यय-स्वर से उदात्त हुआ है। जिससे सब शब्द मध्योदात्त हैं। 'चत्वारः' शब्द मध्यवर्ती उदात्त आम्-आगम के कारण मध्योदात्त है। ऐसे ही क्र्यादिगणी धातुओं के रूपों में भी प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्त होगा। जैसे—पुनन्ति (ऋ. ३,८,५), पुनात (ऋ. ६,१०४,३)। हुवध्यै (ऋ. १,१२२,४) में 'अध्यै' प्रत्यय के आद्युदात्त होने के कारण मध्योदात्त है।

२. लित् (जिनमें 'ल्' की इत्संज्ञा हुई है) प्रत्यय परे रहते पूर्ववर्ती धात्वंश को उदात्त होकर आद्युदात्त शब्दों का निर्देश पीछे हो चुका। णल्, थल्, तातिल्, तल् (लित्) प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द मध्योदात्त होते हैं। जैसे णल्—सुषाव (ऋ. ४,७५,५), जगाम (ऋ. १०, ५८,१), जजान (ऋ २,१२,३), जघान (ऋ. २,१२,१०), बभूव (ऋ. २, १२,६)। थल्—जगन्थ (मा. २३,४६), दुशोहिथ (ऋ. २,१३,१)। तातिल्—देवताता (ऋ. १,३४,५)। तल्—जनताम् (तै. २,२,१,४) आदि।

३. णिच्-प्रत्ययान्त, आय-प्रत्ययान्त, यक्-प्रत्ययान्त, यङ्-प्रत्ययान्त क्यच्-क्यङ्-प्रत्ययान्त शब्द मध्योदात्त होंगे। जैसे—जनयन् (ऋ. १, ९२,४), जनयन्तीः (ऋ. १०,१२१,७), गोपायतम् (ऋ. ६,७४,४)। सूयते (ऋ. ४,५८,६), क्रियते (शौ. ३,२६,३), क्रियन्ते (ऋ. ३,४१,३), नेनीयते (मा. ३४,६), ओजायमानम् (ऋ. २,१२,११)।

४. स्य-विकरण को प्रत्यय-स्वर से उदात्त होकर शब्द मध्योदात्त होगा। जैसे—जनिष्यमाणम् (मा. १८,५), करिष्यसि (ऋ. १,१,६)।

५. षट्-संज्ञक (नकारान्त पञ्चन्, सप्तन् आदि संख्यावाची शब्द) और त्रि, चतुर् शब्दों से झलादि (झल् प्रत्याहार[1] के 'भ्' इत्यादि अक्षर जिसके आरम्भ में हैं) विभक्ति परे रहते उपोत्तम (अन्त्यवर्ण का पूर्ववर्ती) वर्ण उदात्त होता है। जैसे—पञ्चभिः (ऋ. ३,७,७), सप्तभ्यः (ऋ. ८,९६,१६), दशभिः (ऋ २,१८,४), दशसु (ऋ. ८,१०१,१२), तिसृभ्यः (ऋ. २,५,५), चतुर्भिः (ऋ. ८ ६०,६)।

१. झल्युपोत्तमम् (पा. ६,१,१८०)।

६ √ञिभी 'भये', √ह्री 'लज्जायाम्', √डुभृञ् 'धारणपोषणयोः', √हु 'दानादनयोः', √मदी 'हर्षे', √जन 'जनने', √धन 'धान्ये', √दरिद्रा 'दुर्गतौ', √जागृ 'निद्राक्षये' इन धातुओं के अभ्यस्त-रूपों में ल-सार्वधातुक पित् प्रत्यय परे होने पर प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है[1]। पित् से तप्, सिप्, मिप् आदि सभी प्रत्ययों का ग्रहण है। जैसे—बिभेति, बिभेमि (शत. १०,६,३,८)। शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न नीचे पड़ी रेखा है। बिभर्ति (ऋ. ४, ५०,७), जुहोत (ऋ. १,१५,६), जुहोति (ऋ. १० ७६,५), जुहोमि (ऋ. ३, १८,३), ममत्तु (ऋ. १,१२२,३), अजीजनत् (मै. १,३,२०, काठ. ६,८) दधनत् (ऋ. १०,७३,१) आदि। शेष विचार 'तिङन्त-स्वर' प्रकरण आदि में देखें।

७ रित् ('अनीयर्' आदि प्रत्यय जिनके अन्त्य के 'र्' की इत्संज्ञा हो रही है) प्रत्यय परे होने पर उपोत्तम (उत्तम=अन्त्य वर्ण का समीपवर्ती पूर्व वर्ण) वर्ण को उदात्त होता है[2]। जैसे—आहवनीय (शत. १ ३,३,१२), हवनीयम् (शत. ५,२,४,४), उत्पवनीय (तै. ६, १,५ १) आदि। पाश्चात्त्य विद्वानों के आधार पर अर्वाचीन भारतीय विद्वान् भी 'अनीयर्' प्रत्यय को व्यर्थ मानते हैं। अर्थात् उनके मत में यह सूत्र वृथा है, उक्त प्रयोग 'आहवन' 'हवन' और 'उत्पवन' शब्दों से भवार्थ में तद्धित छ>ईय प्रत्यय करके प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर से प्रत्यय के ईय-आदेश के आद्यच् 'ई' के उदात्त होने से मध्योदात्त सिद्ध हैं।

८ चङ्-आदेश-युक्त क्रियाओं में उपोत्तम (चङ् का पूर्ववर्ती धातुस्थ अक्षर) को उदात्तत्व विकल्प से होता है[3]। चङ्-आदेश णिच्-प्रत्ययान्त धातुओं से लुङ् लकार में च्लि के स्थान में होता है। जैसे—दूदाभि गृभ्णन् (मै. ४,१४ ८)। 'उपप् करने' अर्थ में √पु धातु से लुङ् के प्रथम-पुरुष में चङ्-आदेश-युक्त यह रूप है। गृभ्णन् में 'चङ्' का 'अ' 'द' में है, उससे पूर्ववर्ती धात्वंश 'द' को उक्त नियम से उदात्तत्व हुआ है। मैत्रायणी-संहिता में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा होता है।

---

१ भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति (पा ६ १,१९२)।
२ उपोत्तमं रिति (पा ६,१,२१७)। ३. चङ्यन्यतरस्याम् (पा ६, १,२१८)।

९. 'क्त्वा' प्रत्यय को यक्-आदेश होकर निष्पन्न शब्दों मे मध्योदात्त होगा[1]। जैसे—कृत्वार्य (ऋ ११,५१)।

१०. परस्मैपद प्रत्ययों मे यासुट्-आगम ङित् और उदात्त होता है[2]। और अ-पित् प्रत्ययों मे क्रिया-शब्द मध्योदात्त होंगे, और पित्-प्रत्ययों से अन्तोदात्त। जैसे—पृणीयात् (ऋ. १०,११७,५), भुज्यातांम् (ऋ. ७,४२,१) आदि।

८. अन्तोदात्त-स्वर

अन्तोदात्त शब्द दो प्रकार के हैं। १. विभक्तीतर प्रत्ययों से निष्पन्न अन्तोदात्त। २. विभक्ति-स्वर से निष्पन्न। प्रथम प्रकार निम्न है।

१. आकारवान् घञ्-प्रत्ययान्त शब्द तथा 'कर्ष' शब्द अन्तोदात्त होते हैं[3]। जैसे—राम (शत्रा. ४,६,१,७), रामम् (ऋ. १०,३,३), मारम् (ऋ. १ २१,३) आदि। यहा √रम् धातु का उपधा-वृद्धि[4] होकर राम, और √मृ धातु का अजन्त[5] वृद्धि होकर मार आकारवान् है। इसके विपरीत भोग, मोद आदि घञ् प्रत्ययान्त शब्द आकारवान् नहीं है, इसलिए वहां यह नियम चरितार्थ नहीं होता, और ञित्-स्वर से वहां आद्युदात्त हो जाता है। काम (ऋ. २,३८,६), घर्म (तै. ६ ३,१,६) यह शब्द आकारवान् होकर भी अन्तोदात्त नहीं है। वृषादि-गण (पा. ६,१,२०३) में पाठ होने के कारण आद्युदात्त हैं। 'त्यागरागहास°' (पा. ६,१,२१६) सूत्र में 'त्याग' को आद्युदात्त बताया गया है। परन्तु वेद मे अन्तोदात्त है। त्यागम् (ऋ. ४,२४,३)। आचार्य वेङ्कटमाधव ने इसका अर्थ 'धन' किया है (त्यज्यते इति)। इसके विपरीत 'सर्ग' (ऋ. ७,२०,१) आदि शब्दों मे आकारवान् न होने से ञित् स्वर से आद्युदात्त ही होगा।

२. परवर्ती अनुदात्त को निमित्त मानकर जहां पूर्व उदात्त का लोप होता है, वहां निमित्तीभूत अनुदात्त को उदात्तत्व होता है[6]। यह

---

१. क्त्वो यक् (पा. ७,१,४७)। २. यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (पा ३,४,१०३)। ३. कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (पा. ६,१,१५९)। ४. अत उपधायाः (पा. ७,२,११६)। ५. अचो ञ्णिति (पा. ७,२,११५)। ६. अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (पा. ६,१,१६१)।

नियम प्राय. जहां भ-संज्ञा के कारण पूर्व अवर्ण का लोप होता है, वहां चरितार्थ होता है। जैसे—देवी (ऋ. १,४०,३), नदी (ऋ. १,१२५,६) 'दीव्यति इति देव', 'नदति इति नद' इस कर्त्ता अर्थ में 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः' (पा. ३,१,१३४) सूत्र से पचादि-गण में पठित देव और नद शब्द से अच् प्रत्यय (चित्) हुआ है। अच्-प्रत्ययान्त शब्द चित्स्वर से अन्तोदात्त होते हैं। टित्त्व (ट् की इत्संज्ञा) के कारण 'टिड्ढाणञ्°'(पा.४,१,१५) इत्यादि सूत्र से स्त्री-लिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। ङीप् प्रत्यय में 'प्' की इत्संज्ञा है, इसलिए पित्-प्रत्यय होने से 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा. ३,१,४) सूत्र से 'ई' अनुदात्त है। देव+ई, नद+ई इस स्थिति में भ-संज्ञा मानकर 'यस्येति च' (पा. ६,४,१४८) सूत्र से 'देव' के और 'नद' के अन्तिम अवर्ण का लोप हुआ है। और भ-संज्ञा होने में निमित्त अजादि प्रत्यय 'ई' (ङीप्) है, इसलिए 'ई' अनुदात्त को मानकर पूर्ववर्ती 'देव' और 'नद' के अन्त्य उदात्त 'अ' का लोप होने से निमित्तीभूत 'ई' को इस नियम से उदात्तत्व हो गया है। इसी नियम से विहित स्वर को उदात्तनिवृत्ति-स्वर कहते हैं। 'पुषिन्' शब्द अन्तोदात्त है। इसकी अजादि अ-सर्वनाम विभक्तियों को निमित्त मानकर भसंज्ञा के कारण 'भस्य टेर्लोपः' (पा. ७,१,८८) सूत्र से 'इन्' टि का लोप हुआ है। अतः विभक्ति उदात्त होगी। जैसे—पूष्णः (ऋ १,४२,१), पूष्णा (ऋ. १,२८,५) आदि।

३. धातु को अन्तोदात्तत्व होता है[1]। मूल धातु इत्संज्ञा आदि होकर एकाक्षर शेष रह जाती है। इस नियम से उसी एक अक्षर को उदात्त होगा। स्पष्ट ज्ञान के लिए इस नियम के उदाहरण दो तीन अक्षरों वाली धातुएं हैं। जहां मूल धातु से णिच्, णिङ् आदि प्रत्यय करके णिजन्त णिङन्त शब्दों की 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा. ३,१,३२) सूत्र से धातु-संज्ञा होकर तिङन्त क्रियाएं निष्पन्न होती हैं, यहां इस सूत्र-नियम की स्पष्ट प्रतिपत्ति होती है। जैसे—कामयन्ते (ऋ. २,१५,८) में णिङ्-प्रत्ययान्त कामि धातु के अवयव 'म' को उदात्त हुआ है। दर्शय (ऋ. १,१६५,१२) में णिच्-प्रत्ययान्त दर्शि धातु के अवयव 'श' को उदात्त हुआ है। 'गोपायतम्' (ऋ. ६,७४,४) में आय-प्रत्ययान्त गोपाय के 'पा' को। अपायति (ऋ. १,१११,७) में 'कर्मणि-उपमाने' अर्थ में क्यच्-प्रत्ययान्त अपाय धातु के, दुच्छुनायते

1. धातोः (पा. ६,१,१६२)।

(ऋ. १०,३७,१२), दुवस्यन्ति (ऋ १,६२,१०) यहां 'क्यङ्' तथा 'क्यच्' प्रत्ययान्त √दुच्छुनाय, √दुवस्य धातुओं के अन्त्य अवयव 'य' को इस नियम से अन्तोदात्त हुआ है। धातु-स्वर से इसी नियम का सर्वत्र बोध होगा।

४. जिन शब्दों की निष्पत्ति चित् (च् की इत्संज्ञा वाले) प्रत्ययों से होती है, वह अन्तोदात्त होते हैं[1]। जैसे अच्—सुवार्य (ऋ १, ११३,१) 'सुव' शब्द √पूङ् 'प्रेरणे' धातु से भाव में अच् प्रत्यय[2] करके निष्पन्न है, और चित् स्वर से अन्तोदात्त है। ऐसे ही भोजम् (ऋ. २,१७,८), जीव (ऋ. १,६८,२ में कर्ता अर्थ में अच् प्रत्यय और शयासु (ऋ ३,५५,४) में √शी धातु से अधिकरण में 'अच्' प्रत्यय है। शानच्—इयान (ऋ १,३०,१४) √इण् 'गतौ' धातु से, हिन्वाना (ऋ ७ २१,५) √हि धातु से आदि। इरेच्—दृशिरे (ऋ २,२२,१४) आदि। कानच्—ईजानाय (ऋ १,११३,२०) आदि। अकच्—अल्पकेशम् (ऋ १०,१३३ १)। मानच्—बाहुमानात् (शत. ३,५,४,१४)। क्वचच्—शुशुचु (ऋ. ७,२२,१) घच्[3]—इन्द्रियम् (ऋ. १ ५५,४)। इष्णुच्[4]—पतयिष्णु (ऋ. १, १६३,११)। काम्यच्—धनकाम्या (शौ १२,२,५१)। टच्[5]—देवच्छन्दांसि (मै ३,२ ६)। ब्रह्मसामम् (तै १ ८,१८,१) यहां षष्ठीसमासान्त से प्रत्यय है। और चित्त्व के कारण अन्तोदात्त शब्द है। इसी स्वर को चित्-स्वर कहते हैं।

५ तद्धित में कित् (क् की इत्संज्ञा वाले) प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में होंगे उन्हें अन्तोदात्तत्व होता है[6]। जैसे—मामतेयः (ऋ १, १४७,३)। सूक्तद्रष्टा महर्षि 'दीर्घतमा' को मामतेय कहा गया है। इनकी माता का नाम ममता था। 'ममताया अपत्यम्' अर्थ में 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा ४,१,१२०) सूत्र से ढक् प्रत्यय को 'एय' आदेश होकर शब्द निष्पन्न हुआ है। ढक् प्रत्यय कित् है, इसलिए अन्तोदात्त शब्द है। इसी स्वर को कित्-स्वर कहते हैं। सम्पूर्ण तद्धित कित् प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त इसी सूत्र-नियम से सिद्ध होगा।

---

१. चितः (पा ६,१,१६३)। २ भावाधिकारे अयमपी प्रदन्ति शास्त्री (पा ३ ३,५६)। ३ इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टम्° (पा ५,२,९३)। ४ णेश्छन्दसि (पा ३, २, १३७)। ५. अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि (पा ५,४,१०३)। ६ कितः (पा. ६,१,१६५)।

६. एकाक्षर-प्रत्ययान्त शब्द भी अन्तोदात्त होते हैं। जैसे—सुनुत. (ऋ ८,३१,५) में सति-शिष्टस्वर की प्रधानता के कारण प्रथम-पुरुष के द्विवचन में 'तस्' प्रत्यय को अन्तोदात्तत्व हुआ है। यद्यपि प्रत्यय स्वर से प्रत्ययों को आद्युदात्तत्व होता है। परन्तु एकाक्षर प्रत्यय तो आद्युदात्त भी यथार्थ में अन्तोदात्त हैं। स्पष्ट प्रतिपत्ति प्रत्यय-स्वर की दो या तीन अक्षरों वाले प्रत्ययों में होती है। ऐसे ही—ददि (ऋ. २,१७,८) शब्द √दा 'दाने' धातु से ताच्छील्य में कि-प्रत्यय करके निष्पन्न है। कि-प्रत्ययान्त शब्द को लिड्वद्भाव से[1] द्वित्व हो गया है। और प्रत्यय-स्वर से शब्द अन्तोदात्त है। ऐसे ही स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि गणों की धातुओं से शतृ-प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त होंगे। क्योंकि अनुबन्ध-लोप होकर एकाक्षर 'अत्' यह प्रत्यय शेष रहता है। जैसे तुदादि—तृपत् (ऋ. २, २२, १)। कृदत् (ऋ. ८,१,११) आदि। क्र्यादि—रिणन् (ऋ. ७,२२,४) आदि।

जगृधुः (ऋ २,२०,४) क्रिया-शब्द √गृध् धातु से लिट् में प्रथम-पुरुष के बहुवचन में 'उस्' (तिङादेश) से[2] निष्पन्न है। जागृधु. (ऋ ७, १२,१६) √गृध् धातु से है। प्रत्ययादेश एकाक्षर है, इसलिए अन्तोदात्त शब्द होगा।

पृक्ष (ऋ. १,६६,३), वृधे (शौ. ३,२४ ३) ये एकाक्षर 'क' प्रत्यय के रूप हैं। भूथे (ऋ २,३४,४) में 'भूथ' शब्द भी एकाक्षर थक् प्रत्यय के स्वर का निदर्शन है।

७. जैसे व्याकरण के सामान्य नियमों से अनुपपन्न अनेक आद्युदात्त शब्दों में आद्युदात्तत्व की सिद्धि के लिए आकृति-गण के रूप में वृषादि-गण (पा. ६,१,२०३) है। ऐसे ही अनेकों अन्तोदात्त शब्दों को सिद्ध करने के लिए उञ्छादि-गण का परिगणन महत्त्वपूर्ण है[3]। जैसे—युगम (ऋ. ३,५३,१७) में काल-विशेष (सत्य-युग आदि) और रथावयव अर्थ में 'युग' शब्द घञ्-प्रत्ययान्त है। निपातन-सामर्थ्य से गुण नहीं हुआ। ऐसे ही मुख (ऋ ६,२८,५) शब्द भी घञ् अन्त है। ञित्-स्वर से प्राप्त आद्युदात्तत्व की निवृत्ति के लिए तथा अन्तोदात्तत्व की सिद्धि के लिए दोनों का उञ्छादि-गण में पाठ है। उत्तम (ऋ. ३,५, १०), उत्तमम् (ऋ. १,२४,१५), शवस्तमम (ऋ. ७, २८,१) में 'तमप्'

1. आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (पा. ३,२,१७१)। 2. परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः (पा ३,४,८२)। 3. उञ्छादीनां च (पा. ६,१,१६०)।

प्रत्यय के पित्-स्वर से अनुदात्त होने पर आद्युदात्त शब्द प्राप्त थे। गण-पाठ से अन्तोदात्त हैं।

८. भाव अर्थ[1] में स्त्रीलिङ्ग में क्तिन् प्रत्यय होता है। इसलिए क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्दों में सामान्य रूप से नित्-स्वर से आद्युदात्तत्व होता है। जैसे—वृष्टिः (मा. १३,३०), भूतिः (मा. १८,१४) आदि। वेद में कतिपय क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्दों में क्तिन् प्रत्यय उदात्त होता है[2]। जैसे—√वृष् धातु से वृष्टिः (ऋ. १,३८,८)। √इष् धातु से इष्टेः (ऋ. १,१२५,३)। √पच् धातु से पुक्तिः (ऋ. ४,२४,५)। √मन् धातु से मृतिः (ऋ. ८,७४,७)। √विद् 'ज्ञाने' से वित्तिः। इसका वैदिक उदाहरण अनुपलब्ध है। √भू धातु से भूतिम् (ऋ. १,१६१,१)। √वी धातु से वीतिम् (ऋ. ६,१४,१) √रा धातु से रातिः (ऋ. १,३४,१)। इन सब में प्रत्यय उदात्त करने का प्रयोजन नित्-स्वर से प्राप्त आद्युदात्तत्व का बाध करके अन्तोदात्तत्व की स्थापना करना है। ये उदाहरण पाणिनीय सूत्र के आधार पर हैं। वेद में कतिपय क्तिन्-प्रत्ययान्त अन्तोदात्त शब्द इस परिगणन के अतिरिक्त भी हैं। जैसे—√चित् 'चयने' धातु से चितये (मा. २३,४६)। यह अन्तोदात्त चिति शब्द का चतुर्थी का एकवचन है। √भृ धातु से भृतिम् (ऋ. ८,६६,११) आदि।

९. सामान्य रूप से 'क्यप्' प्रत्यय पित (प् की इत्संज्ञा वाला) होने के कारण पित्-स्वर से अनुदात्त होगा। और पूर्व धात्वंश को धातु-स्वर से उदात्त होता है। परन्तु कतिपय क्यप्-प्रत्ययान्त संज्ञा-वाचक शब्दों में 'क्यप्' प्रत्यय उदात्त होता है[3]। और शब्द अन्तोदात्त होते हैं। जैसे—विद्याम् (मा. ४०,१४) √विद् 'ज्ञाने' से, सुत्याम् (मा. ५,७) √पुञ् 'अभिषवे' से, भृत्याम् (ऋ. १,८४,१६) √भृ धातु से, इत्या (ऋ. १,१६७,५) √इण् 'गतौ' धातु से। 'क्यप्' प्रत्यय करके सब रूप निष्पन्न हैं। और 'क्यप्' प्रत्यय के उदात्त होने के कारण अन्तोदात्त हैं। मत्या. (शौ. ६,२५,१) शब्द सूत्र-नियम के विपरीत क्यप्-प्रत्ययान्त होते हुए भी अन्तोदात्त नहीं आद्युदात्त है।

---

१. स्त्रियां क्तिन् (पा. ३,३,९४)। २. मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः (पा. ३,३,९६)। ३. संज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिणः (पा. ३,३,९९)।

पाणिनीय सूत्र में परिगणित होने के कारण √मन् धातु से 'गलशिरा' अर्थ में 'मन्या' शब्द अन्तोदात्त होना चाहिए।

इसी प्रकार क्यप्-प्रत्ययान्त 'हत्या' शब्द वार्तिककार के विशेष प्रयत्न से अन्तोदात्त सिद्ध हुआ है। जैसे—ब्रह्महत्याम् (तै. २,५,१,३)। 'हत्या' शब्द स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में √हन् 'हिंसायाम्' धातु से भाव में 'क्यप्' प्रत्यय से बना है। और पित् प्रत्यय होने से पित्-स्वर से प्रत्ययांश अनुदात्त न हो, इसलिए वार्तिककार ने क्यप् को चित्' ('च्' की इत्संज्ञा वाला) मान लिया। चित्त्व होने से 'हत्या' शब्द अन्तोदात्त बना है।

१०. 'एव' आदि निपातों को अन्तोदात्तत्व होता है[2]। जैसे—एव (ऋ १,१,३) पुरस् (ऋ. १०,१५१,२) नूनम् (ऋ. १, १२,६) सना (ऋ. १, ५७,६) सद्य (ऋ. १,२३,१७) हुये (ऋ. २,२१,४) आदि। विशेष विमर्श पृष्ठ ११० के टिप्पणी में वेङ्कटभाष्य-भूमिका में देखें।

११. उपसर्गों में केवल 'अभि' अन्तोदात्त होता है[3]। जैसे—अभि (ऋ. १,११,६)।

९. विभक्ति-स्वर

१. सुप् (सप्तमी का बहुवचन) विभक्ति परे रहते एकाच् (एक अच्=स्वर वर्ण वाले) शब्दों की तृतीयादि (तृतीया से सप्तमी तक) विभक्ति को उदात्तत्व होता है[4]। जैसे—वाच्—वाचा (ऋ. १,११३,१७), वाचा (ऋ. १,१२०,५), वाचि (ऋ. १०, ७१,२)। इष्—इषा (ऋ १, २०,१०), इषे (ऋ. १,५४,११; मा १,१)। सन्—सनाम् (ऋ. २,१६,१)। भास्—भासा (ऋ. २,४,५)। युज्—युजा (ऋ. १,८,४)। यान्—यानः (ऋ. १,३२,१५), यानाम् (ऋ ४,२८,३)। द्विप्—द्विपाम् (ऋ. ७, ३४,१३)। दिश्—दिशा (ऋ. १,८५,११), दिशाम् (मा. १४,५)। विश्—विशा (ऋ. १,३१,१), विशाम् (ऋ. १,२६,१), विशि (ऋ. ४, २२,१)। गिर्—गिरा (ऋ. १,३८,१३), गिराम् (ऋ. १, १०,३)। निद्—निद (ऋ. १,२४.४), निदे (ऋ. ३.२३,१४)। शुभ्—शुभा (ऋ. १,६२,४)। शुभि (ऋ. ७,३५,१२) आदि।

---

१. हलन्ताद् स्त्रियां पुम्वद् (पा. ३,१,१०८)। २. एवादीनामन्तः (फिट्सूत्र ४, १४)। ३. अभेरुपसर्गस्यान्तः (पा. ?, २४)। ४. सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (पा. ६.१.१६८)।

२. √अञ्च् 'गतौ' धातु से निष्पन्न 'प्राञ्च्', 'प्रत्यञ्च्' आदि शब्दों में अ-सर्वनामस्थान (द्वितीया के बहुवचन 'शस्' से सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' पर्यन्त) विभक्ति को उदात्तत्व होता है[1]। जैसे—प्रतीचः (ऋ. १,१७३,५) प्राचा (ऋ. २,२६,४) अनूचः (ऋ. ३,३०,६) आदि। 'चौ' (पा. ६,१,१२२) सूत्र से पूर्व को उदात्तत्व प्राप्त है, जिसका यह बाधक है।

३. ऊठ् ('वाह्' के स्थान में आदेश[2]), इदम् शब्द, पदादि[3], अप् शब्द, पुंस्, रै तथा दिव् शब्दों से परे अ-सर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्तत्व होता है[4]। जैसे—इदम्—अस्मै (ऋ. १,५७,३), आभिः (ऋ. ४,१०,४), आभ्याम् (ऋ. २,४०,२), आभ्यः (ऋ. २,३३,२), अस्य (ऋ. १,४,८), अस्मिन् (ऋ. १,१२,३), अस्यै (ऋ. १,१२७,११), अस्याः (ऋ. १,८७,४), अस्मात् (ऋ. १,१७१,४) आसु (ऋ १,१७३,८)। पदादि—पद्—पदः (ऋ. १,१४६,२), पदा (ऋ. १,२२,१८), पदे (ऋ. १,२१,६), पदोः (ऋ. १०,१६६,२), पदि (ऋ. ४,१२,६)। दत्—दतः (ऋ. ७,५५,२), दता (ऋ. १०, ११५,२), दद्भिः (ऋ. ८,४३,३)। अप्—अपः (ऋ. १,१०,८), अपा (ऋ. ८, ४,३), अद्भिः (ऋ. १,२५,८), अद्भ्यः (ऋ. १,३४,६), अपाम् (ऋ. १, २३,६), अप्सु (ऋ. १,२३,१९)। पुंस्—पुंसः (ऋ. १,१२४,७)। रै—रायः (ऋ. १,४,१०), राया (ऋ. १,४८,१), राये (ऋ. १,५,३), रायाम् (ऋ. ६,१०८,१३)। दिव्—दिवः (ऋ. १,६,६), दिवा (ऋ. १,१६१,१४), दिवे (ऋ. १,५४,३), दिवि (ऋ. १,६,१)। सर्वत्र विभक्ति-स्वर से शब्द अन्तोदात्त हैं। झलादि विभक्तियों (भ्याम्, भिस् आदि) में दिव् शब्द से उदात्तत्व का निषेध[5] होगा। जैसे—द्युभिः (ऋ. १, २४,८) आदि।

४. नुम्-आगम से रहित शतृ-प्रत्ययान्त शब्द से परे नदी ('ङीप्' आदि प्रत्यय) तथा अजादि अ-सर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्तत्व होता है[6]। जैसे नदी—पुनती (ऋ. ४,५,७), कृण्वती (ऋ. १,९२,४) आदि। अजादि विभक्ति—स्तुवते (ऋ. २,१२,२)। कृण्वते (ऋ. २,

१. अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् (पा. ६, १, १७०)। २. वाह ऊठ् (पा. ६, ४, १३२)। ३. पद्दन्नोमास्° (पा. ६, १, ६३)। ४. ऊडिदं-पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (पा. ६, १,१७१)। ५. दिवो झल् (पा. ६, १,१८३)। ६. शतुरनुमो नद्यजादी (पा. ६,१,१७३)।

३०,१) । सुन्वते (ऋ. ८,२१,२) । सुन्वते (ऋ. ६,७०,६) । सुन्वतः (ऋ. १, २, ६), सुन्वताम् (ऋ. ८,३२,१६), सुन्वति (ऋ. ८,३०,२) । ऋतायतः (ऋ. २,३२,१) । सुम्नायता (ऋ. २,३२,२) ।

५. जिस उदात्त अक्षर को पूर्ववर्ती हल् (व्यञ्जन) अक्षर विद्यमान होते हुए यण्-आदेश हो रहा है, उससे परे नदी ('ङीप्' आदि) और अजादि अ-सर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्तत्व होता है[1]। जैसे—नदी—चोदयित्री (ऋ. १,३,११), अवित्री ऋ ७,३७,१२) आदि । यहां 'चोदयितृ' और 'अवितृ' शब्द तृच्-प्रत्ययान्त हैं। चित्-स्वर से 'तृ' का 'ऋ' उदात्त है। उसके पूर्व व्यञ्जन अक्षर 'त्' है। फिर स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में ऋकारान्त दोनों शब्दों से 'ङीप्' प्रत्यय[2] होकर चोदयितृ+ई, अवितृ+ई इस स्थिति में यण्-आदेश से 'ऋ' को 'र्' हो गया। इस प्रकार हल्-पूर्वक उदात्त यण्-आदेश के परे नदी (ङीप्) को उदात्तत्व हो रहा है। तृन्-प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होंगे, इसलिए वहां यह नियम नहीं लगता।

पृथ्वी (ऋ १,१८८,५) में अन्तोदात्त 'पृथु' शब्द में 'थ्' व्यञ्जन उदात्त 'उ' से पूर्व है। यहां 'वोतो गुणवचनात्' (पा. ४,१,४४) सूत्र से 'ङीष्' (नदी) प्रत्यय हुआ है, और पृथु+ई की स्थिति में 'उ' को 'व्' यण्-आदेश होकर पर में स्थित नदी को उदात्तत्व हुआ है।

विभक्ति—सवित्रा (ऋ. २,३८,१), मन्था (ऋ. ५,५८,५) आदि। 'सवितृ' शब्द तृच्-प्रत्ययान्त होने से चित्-स्वर से अन्तोदात्त है। 'मन्थि' शब्द उदात्त 'इन्' प्रत्यय के कारण अन्तोदात्त है। यण्-आदेश करके दोनों स्थलों में परवर्ती तृतीया विभक्ति का एकवचन 'आ' उदात्त है।

यदि यण्-आदेश होने वाला उदात्त अक्षर धातु का अवयव होगा तो उससे परे विभक्ति को उदात्तत्व नहीं होगा[3]। जैसे—सुभ्वे (ऋ. ६,११,३)। यहां 'सुष्ठु भवति' इस विग्रह में 'सुभू' शब्द उत्तरपद-प्रकृतिस्वर[4] से उदात्त है, व्यञ्जन अक्षर 'भ' पूर्व में विद्यमान है, यण्-आदेश भी हो रहा है, परन्तु विभक्ति को उदात्तत्व नहीं हुआ। क्योंकि √भू धातु का ही 'भ' अवयव है। विभक्ति-स्वर न होने पर अनुदात्त 'ए' विभक्ति के 'ए' को स्वरित हो गया है[5]।

---

१. उदात्तयणो हल्पूर्वात् (पा. ६,१,१७४)। २. ऋन्नेभ्यो ङीप् (पा. ४,१,५)। ३. नोङ्धात्वोः (पा. ६,१,१७५)। ४. गतिकारकोपपदात् कृत् (पा. ६,२,१३९)। ५. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (पा. ८,२,४)।

६. ह्रस्वान्त अन्तोदात्त शब्द से तथा नुड्-आगम से परे 'मतुप्' प्रत्यय उदात्त होता है[1]। ह्रस्व—अ॒ग्नि॒वान् (ऋ. ७,१०४,२), स्व॒स्ति॒मत॑ः (ऋ. १,६०,५), क्षु॒मन्त॑ः (ऋ. १,३०,१३)। यहां ह्रस्व इकारान्त 'अ॒ग्नि' और 'स्व॒स्ति' शब्द अन्तोदात्त हैं। 'क्षु' शब्द उवर्णान्त उदात्त है। इनसे परे 'मतुप्' प्रत्यय उदात्त हो गया है। अन्यथा 'मतुप्' प्रत्यय के पित्-स्वर से अनुदात्त होने पर 'अ॒ग्नि' आदि का अन्तोदात्तत्व विद्यमान रहता।

ह्रस्वान्त शब्द आद्युदात्त हों तो भी यह नियम नहीं लगता। जैसे—मधु॑मन्तम् (ऋ. १,१३,२) हरि॑वान् (ऋ. १,८१,४)। यहां आद्युदात्त शब्दों का अपना उदात्त स्वर है, 'मतुप्' प्रत्यय का नहीं।

ह्रस्व अवर्णान्त अन्तोदात्त शब्दों से परे भी 'मतुप्' प्रत्यय का उदात्त-स्वर नहीं होता। 'न गोश्वन्°' (पा. ६,१,१८२) सूत्र से 'सावर्ण' मानकर निषेध हो जाता है। क्योंकि सावर्ण (=सौ अवर्ण =प्रथमा विभक्ति के एकवचन 'सु' परे रहते जो शब्द अवर्णान्त होते हैं) में ऐसे शब्द अवर्णान्त ही उपलब्ध होते हैं। जैसे—वी॒रव॑त् (ऋ. १,१६०,८), शु॒क्रव॑न्तम् (ऋ. ८,५,१५) आदि।

नुट्—अ॒क्ष॒ण्वान् (ऋ. १,१६४,१६) अ॒स्थ॒न्वन्त॑म् (ऋ. १,१६४,४)। यहां 'अक्षि' शब्द को 'अ॒क्षन्'[2] और 'अस्थि' शब्द को 'अ॒स्थन्'[2] हुए 'अन्' युक्त अकारान्त शब्दों से परे मतुप् प्रत्यय को नुट्-आगम हुआ है[3]। और इस नियम से 'नुट्' से परे मतुप् प्रत्यय को उदात्तत्व हुआ है।

'स्वरविधौ व्यञ्जनम् अविद्यमानवत्' (स्वर के विषय में व्यञ्जन अक्षर न होने के समान माना जाता है) यह व्याकरण का नियम 'ह्रस्वनुड्भ्याम्°' (पा.६,१,१७६) सूत्र में 'नुट्' के पृथक् पाठ के ज्ञापन से इस मतुप् प्रत्यय के स्वर में चरितार्थ नहीं है। अन्यथा 'अ॒क्ष॒ण्वान्' शब्द में 'ण्' व्यञ्जन को अ-विद्यमानवत् मान कर भी ह्रस्वान्त अवर्णान्त शब्द से परे मतुप् का उदात्तत्व सिद्ध था फिर 'नुट्' का पृथक् पाठ क्यों किया। इसी लिए म॒रुत्वा॑न् (ऋ. १,८०,११) वि॒द्युत्वा॑न् (ऋ. १,१३५,४) आदि शब्दों में 'मतुप्' प्रत्यय के पूर्ववर्ती 'मरुत्' और 'विद्युत्' दोनों अन्तोदात्त शब्दों को उकारान्त नहीं माना

---

१. ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (पा. ६,१,१७६)। २. छन्दस्यपि दृश्यते (पा. ७,१,७६)। ३. अनो नुट् (पा. ८,२,१६)।

गया, और 'मतुप्' प्रत्यय को उदात्तत्व नहीं हुआ। अन्यथा 'मरुत्' और 'त्रिवृत्' दोनों शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन वर्ण 'त्' को अ-विद्यमानवत् (न होने के समान) मान कर दोनों शब्द ह्रस्वान्त अन्तोदात्त हो सकते थे। 'नुट्' का पृथक् पाठ ज्ञापक है कि 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' का नियम यहां चरितार्थ नहीं होता।

७. 'मतुप्' प्रत्यय परे रहते जो शब्द ह्रस्वान्त है, ऐसे अन्तोदात्त शब्द से परे 'नाम्' (षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में नुड्-आगम सहित 'आम्') को विकल्प से उदात्तत्व होता है[1]। जैसे—सुमतीनाम् (ऋ. १, ३,११) में 'सुमति' शब्द अन्तोदात्त भी है और मतुप्-प्रत्यय से युक्त होने पर 'सुमतिमान्' इत्यादि शब्दों में 'मतुप्' प्रत्यय से पूर्व ह्रस्वान्त 'सुमति' शब्द भूयमाण भी है। इसलिए परवर्ती 'नाम्' को उदात्त हो गया है। ऐसे ही—अग्नीनाम् (ऋ १०,७८,३), कृवीनाम् (ऋ.२,३१,१), दुर्मतीनाम् (ऋ. १,१२९,८), ऋभूणाम् (ऋ. ४,३५,८), बहूनाम् (ऋ. २,३५,१२), स्तोतॄणाम् (ऋ. ३,५,२) आदि।

ह्रस्व अकारान्त शब्दों से परे 'नाम्' विभक्ति को उदात्तत्व न होगा। पूर्ववत् 'न गोश्वन्'[2] इत्यादि सूत्र से निषेध हो जायेगा। जैसे—इन्द्राणाम् (ऋ. १,१०१,७)।

स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीनन्त शब्दों से भी परे 'नाम्' को उदात्तत्व होता है[2]। जैसे—अभिभञ्जतीनाम् (ऋ १०,१०३,८)। कहीं नहीं भी होता—नदीनाम् (ऋ २,१५,३)। यहां 'नदी' शब्द का उदात्तत्व है, 'नाम्' का नहीं।

८. षट्संज्ञक (षकारान्त 'षष्' नकारान्त पञ्चन्, सप्तन् आदि) शब्द, त्रि और चतुर् शब्दों से परे हलादि विभक्ति (अजादि विभक्तियों के अतिरिक्त) को उदात्तत्व होता है[3]।

यहां ध्यान देने योग्य यह है कि इसी से अगला 'झल्युपोत्तमम्' (पा.६,१,१८०) सूत्र झलादि विभक्तियों (भ्याम् भिस्, भ्यस्, सुप्) में इस नियम का बाध करके उपोत्तम को उदात्तत्व का विधान करता है (देखें पृ १२४) षष्ठी के बहुवचन में 'नाम्' विभक्ति शेष रहती है। उसी को इस नियम से उदात्तत्व होगा। या फिर षष्, त्रि आदि षकारान्त

1. नामन्यतरस्याम् (पा ६,१,१७७)। 2. ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (पा ६,१,१७६) 3. षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (पा ६,१,१७९)।

शब्दों में उपोत्तम स्वर की योग्यता ही नहीं, इसलिए उन शब्दों की हलादि विभक्तियों में यह नियम लगेगा। भाव यह कि 'झल्युपोत्तमम्' सूत्र का विषय छोड़कर ही इस नियम की प्रवृत्ति होगी। जैसे—पष्—षड्भिः (ऋ २,१८,४) ' दशन्—दशानाम् (ऋ १०, २७,१६)। त्रि—त्रिभिः (ऋ. १,३४,११), त्रिभ्यः (ऋ ८,७०,१५), त्रीणाम् (ऋ. १०,१८५,१), त्रिषु (ऋ. १,१५,४)। चतुर्—चतुर्णाम् (ऋ. ८,७४,१२) आदि।

६. गो, श्वन्, सावर्ण्य (प्रथमा के एकवचन 'सु' परे रहते जो शब्द अवर्णान्त स्थिति में हैं, जैसे—तद्>स, यद्>य, एतद्>एष यह सब शब्द सावर्ण्य हैं), राज् शब्द, अङ् (√अञ्चु 'पूजायाम्' धातु से निष्पन्न प्राञ्च्, प्रत्यञ्च् आदि शब्द। √अञ्चु 'गतौ' धातु से निष्पन्न प्राञ्च्, प्रत्यञ्च् आदि शब्दों में यह निषेध नहीं लगता, उनमें 'अञ्चेश्छन्दसि' [पा ६,१,१७०] इस सूत्र से विभक्ति-स्वर हो जाता है)। क्रुञ्च् और कृत् (√कृ धातु से मध्य में तुग्-आगम[1] करके क्विप्-प्रत्ययान्त शब्द) इन शब्दों में विभक्ति-स्वर नहीं होता[2]। भाव यह कि सब विभक्तियों में यह शब्द आद्युदात्त ही रहेंगे, इनमें विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्तत्व नहीं होता। जैसे—गो—गवा (ऋ. ५, ३०,७), गवे (ऋ. १,४३,२), गवाम् (ऋ. १,१०,७), गवि (ऋ. १, ११३ ६) यहाँ 'सावेकाचः' (पा. ६,१,१६८) से प्राप्त विभक्ति-स्वर का बाध हो गया है। श्वन्—शुनः (ऋ. १,१८२,४), शुने (शौ. १,११,४)। सावर्ण्य—एतेन (ऋ. १,३१,१८), एतेभिः (ऋ. ५, ५२,१०), एतेभ्यः (ऋ. १०,१७,३)। तेन (ऋ.१,२१,६), तेभिः (ऋ. १३५,११), तेभ्यः (ऋ. ३,२,६), तेषाम् (ऋ. १,२,१), तेषु (ऋ. १,१३१,६)। येन (ऋ. २, १२,४), यस्मात् (ऋ. २,१२,६), यस्य (ऋ. २,१२,१७) यासु (ऋ. २, १५,१)।

१०. समास-स्वर

१. समास में सामान्यरूप में अन्तोदात्तत्व होता है[3]। पञ्चमी तत्पुरुष, षष्ठी तत्पुरुष, कर्मधारय, अव्ययीभाव तथा द्वन्द्व समास का इस वर्ग में परिगणन हो सकता है। जैसे—षष्ठी समास— राजपुत्राः (ऋ. १०,४०,३) राजयक्ष्मात् (ऋ. १०,१६१,१)। कर्मधारय—

१. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (पा. ६, १,७१)। २. न गोश्वन्-साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः (पा. ६,१,१८२)। ३. समासस्य (पा. ६,१,२२३)।

अनातुरश्मान् (ऋ. १०,१६१,१)। अव्ययीभाव—अनुस्वधम (ऋ. १, ८१,४) आदि। द्वन्द्व—इन्द्राविष्णू (ऋ.१,१०१,१)। इसी सामान्य-रूप में विहित अन्तोदात्त-स्वर को समास-स्वर भी कहते हैं।

२. बहुव्रीहि-समास में पूर्व-पद की प्रकृति का उदात्त या स्वरित स्वर प्रकृति (अपनी यथास्थिति) में रहता है[1]। यदि पूर्व-पद आद्युदात्त शब्द है, तो समस्त पद आद्युदात्त होगा, अन्यथा मध्योदात्त। जैसे—इन्द्रज्येष्ठाः (ऋ. ६,५१,१५)। वज्रहस्तः (ऋ. १,१७३,१०)। सार्वधर्म्यम् (ऋ. ३,२,५) इन स्थलों में पूर्व-पद आद्युदात्त शब्द हैं। चित्रश्रवस्तमः (ऋ. १,१,५) में पूर्व-पद 'चित्र' शब्द अन्तोदात्त है, इसी लिए समस्त पद मध्योदात्त है, आद्युदात्त नहीं।

विश्वपोषम् (ऋ. २,१०,५) शब्द में 'विश्व' शब्द आद्युदात्त है, जैसे—विश्वस्मात् (ऋ. २,१०,६) विश्वा (ऋ. २,१०,४) आदि। परन्तु बहुव्रीहि-समास के कारण 'विश्व' शब्द को अन्तोदात्तत्व हो गया है[2], इसलिए मध्योदात्त शब्द है।

'प्र' आदि उपसर्ग पूर्व-पद होने पर शब्द का स्वरूप समास-विवक्षा पर निर्भर है। उपसर्ग के अर्थ की विलक्षणता दिखानी होगी तो प्रादि-समास होगा (देखिये पृष्ठ १३८)। अन्य-पदार्थ की प्रधानता में बहुव्रीहि। जैसे—प्रचेतसः (ऋ. २,११,२) आदि।

३. यदि पूर्वपद में तुल्य, सदृश आदि तुल्यार्थक शब्द हों, तृतीया-तत्पुरुष हो, सप्तमी-तत्पुरुष हो, पूर्व-पद में उपमान-वाची शब्द हो, या अव्ययों में नञ्, कु, और निपातों का कोई शब्द हो, द्वितीया-तत्पुरुष हो, तथा कृत्य-प्रत्ययान्त पूर्व-पद में हो तो तत्पुरुष-समास में पूर्व-पद की प्रकृति या स्वर यथा-स्थित रहेगा[3]। आद्युदात्त पूर्व-पद से शब्द आद्युदात्त और अन्तोदात्त पूर्व-पद से शब्द मध्योदात्त यह व्यवस्था पूर्ववत् है। इस सूत्र के सभी उदाहरणों का प्रदर्शन तो अशक्य है। निदर्शन के लिए कतिपय ये हैं—देवहूतमस्य, विप्रहूतमस्य, मनुर्हितस्य (ऋ. ८,१२) यहाँ सर्वत्र सप्तमी-समास में पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर उदात्त या स्वरित यथास्थित है। समस्त

१. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (पा. ६, २, १)। २. बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (पा. ६,२,१०६)। ३. तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीयाकृत्याः (पा. ६,२,२)।

शब्द आद्युदात्त और मध्य-स्वरित है। अनांत (ऋ. १,१००,२) शब्द में पूर्व-पद अन (नञ्) है।

तत्पुरुष-समास में ही अवान्तर भेद प्रादि-समास है। जहाँ 'प्र', 'परा' आदि प्रादि उपसर्ग पूर्व-पद में स्थित रहते हैं। उदाहरण के लिए अत्याशिनस्य (मै. ३,६,२) को ले लें। मैत्रायणी-संहिता में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। 'अत्यन्तम् आशितः' इस विग्रह में 'कुगतिप्रादयः' (पा. २,२,१८) सूत्र तथा उसके 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' इत्यादि वार्तिक से प्रादि-समास होने पर 'अति' यह उपसर्ग पूर्व-पद में आद्युदात्त स्थित है। इसलिए तत्पुरुष समास (प्रादि समास) में पूर्व-पद 'अति' की आद्युदात्तता के कारण 'अत्याशित' शब्द आद्युदात्त है।

ऐसे ही—अनुरूप, (मा. १६.२), प्रतिरूप (ऋ. ६.४७,१८), दुरर्वरितात् (मा. ४,२८) आदि शब्द तत्पुरुष समास (प्रादि-समास) में पूर्व-पद की अव्यय (प्रादि) प्रकृति के आद्युदात्त होने के कारण आद्युदात्त हैं।

४ ऐश्वर्यवाची पति-शब्द के साथ तत्पुरुष-समास में पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथास्थित होता है[1]। जैसे—वाजपति (ऋ ४,१५,३) शब्द में 'वाजानां पतिः' षष्ठी तत्पुरुष-समास है। पूर्व-पद में वाज (=अन्न) शब्द आद्युदात्त है। इसलिए उसी का आद्युदात्त स्वर शेष रहा। यदि पूर्व-पद अन्तोदात्त है। जैसे—गृणपतिम् (ऋ ७,१३,१)। तो उसकी प्रकृति के अनुसार मध्योदात्त शब्द होगा।

इस नियम के कुछ अपवाद हैं[2]—भू, वाच्, चित्, दिधिषू यह शब्द यदि पूर्व पद में हों तो उक्त पूर्वपद-प्रकृति स्वर नहीं होता। जैसे—वाक्पतये (मै. १११,३) चित्पतिं (मै. १,२,-) यहा दोनों स्थलों पर षष्ठी तत्पुरुष होने के कारण समास-स्वर (पृष्ठ १३७ देखें) से अन्तोदात्तत्व है। उक्त अपवाद-नियम के कारण पूर्व-पद की प्रकृति 'वाक' तथा 'चित्' का स्वर नहीं है। परन्तु मैत्रायणी संहिता में अन्तोदात्त 'वाक्पतिं' और 'चित्पतिं' शब्द माध्यन्दिन-संहिता में वाक्पतिं (मा ४,४) चित्पतिं (मा ४,४) मध्योदात्त हैं। जहा समास-स्वर से अन्तोदात्तत्व भी नहीं है। दिधिषूपतिम् (तैब्रा. ३,४,४,१) में 'दिधिषू' पूर्व-पद की प्रकृति के स्वर का निषेध हो रहा है।

---

१. पत्यावैश्वर्ये (पा. ६,२,१८)। २. न भूवाक्चिद्दिधिषु (पा. ६,२,१९)।

परन्तु भू-पति शब्द की स्थिति विलक्षण है। पूर्व निर्दिष्ट अपवाद-नियम के अनुसार भू पति शब्द की पूर्व-पद की प्रकृति 'भू' का स्वर निषिद्ध है। इसी लिए भूपतये (मै. ३,४,६) में समास-स्वर से शब्द अन्तोदात्त है। परन्तु यजुर्वेद की काण्व-शाखा में पाठ-भेद से यही शब्द आद्युदात्त है। जैसे—भूपतये (का २ १,३)। यहां स्पष्ट पूर्व-पद की प्रकृति 'भू' का उदात्त स्वर श्रूयमाण हो रहा है। भाव यह कि भू-पति शब्द में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर की विकल्प से प्रवृत्ति हो रही है। इन वैदिक उदाहरणों के आधार पर यह कहना युक्तिसंगत होगा कि यदि महर्षि पाणिनि ने वैकल्पिक पूर्वपद-प्रकृति-स्वर के विधायक 'वा भुवनम्' (पा. ६,२,२०) सूत्र में 'भू' शब्द का भी समावेश करके 'वा भूभुवनम्' ऐसा सूत्र पढ़ा होता तथा निषेध-सूत्र 'न भूवाक्चिद्दिधिषु' (पा. ६,२,१९) सूत्र से 'भू' शब्द का निराकरण करके 'न वाक्चिद्दिधिषु' इतना ही सूत्र पढ़ा होता, तो उक्त वैदिक उदाहरणों का भलीभांति सामञ्जस्य हो जाता। पाणिनि-निर्दिष्ट वैकल्पिक पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का उदाहरण वेद में उपलब्ध है। जैसे—माध्यन्दिन-संहिता में भुवनपतये (मा २,२) शब्द में पूर्व-पद भुवन (आद्युदात्त) शब्द की प्रकृति के कारण आद्युदात्तत्व है। और यही शब्द पाठ-भेद से मैत्रायणी-संहिता में अन्तोदात्त है। जैसे—भुवनप वे (मै ३,८,६)। यहां पूर्वपद-प्रकृति स्वर नहीं है। प्रत्युत समास-स्वर से अन्तोदात्त शब्द है।

४ द्विगु-समास में इगन्त (इ, उ, ऋ, लृ वर्ण जिनके अन्त में हों) शब्द ('कलि' आदि), कालवाचक शब्द, कपाल, भगाल और शराव इन शब्दों के परे होने पर पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथावस्थित होता है[1]। जैसे—एककपाल (मै. २,२,१,७)। यहां कपाल-शब्द पर में है और द्विगु-समास में पूर्व पद की प्रकृति 'एक' शब्द का आद्युदात्त-स्वर विद्यमान है।

५. द्वन्द्व-समास में संख्यावाची पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथावस्थित होता है[2]। जैसे—एकादश (ऋ १,१३९,११) पञ्चदश (ऋ. १०,८९,१४) इत्यादि शब्दों की पूर्व-पद प्रकृति संख्या-वाचक आद्युदात्त है। इसलिए पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से शब्द आद्युदात्त होंगे।

---

१. इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ (पा. ६,२,२९)। २. संख्या (पा. ६,२,३५)।

७ कर्म अर्थ में क्त-प्रत्ययान्त शब्द पर में हो तो तृतीयान्त पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर यथास्थित होता है[1]। जैसे—इन्द्रेगूत (ऋ ३,३२,११)। यहां 'इन्द्रेण गूत' (प्रेरित) यह तृतीया-समास है। और गत्यर्थक सकर्मक √जू धातु से कर्म अर्थ में क्त-प्रत्यय होकर 'जूत' शब्द पर में विद्यमान है। इसलिए तृतीयान्त पूर्व-पद की प्रकृति आद्युदात्त 'इन्द्र' शब्द के स्वर के कारण शब्द आद्युदात्त है। पहले स्पष्ट कर आये हैं कि पूर्व-पद की प्रकृति के आद्युदात्त या अन्तोदात्त होने पर ही उसके स्वर से शब्द की आद्युदात्तता या मध्योदात्तता संभव है। इसी लिए देवेषित (ऋ १०, १३६,५) इस तृतीया-समास (देवैः इषित) में पूर्व-पद की प्रकृति 'देव' शब्द के अन्तोदात्त होने के कारण मध्योदात्त शब्द है।

८ कर्म अर्थ में क्त-प्रत्ययान्त शब्द पर में हो तो अनन्तर (व्यवधान-रहित-पूर्व) गति (उपसर्ग) को प्रकृति-स्वर होता है[2]। जैसे—सर्वऽहित (ऋ १,१०५,१०) निऽहतस्य (ऋ १ १६२,११) आदि में √धा धातु से क्त प्रत्ययान्त 'हित' और √हन् धातु से 'हत' परे रहते अनन्तर आद्युदात्त गति (उपसर्ग) के प्रकृति स्वर के कारण शब्द आद्युदात्त है।

पुरोऽहितम् (ऋ १,१,१) शब्द में भी √धा धातु से निष्पन्न 'हित' पर में होते हुए अनन्तर पूर्व में अन्तोदात्त गतिसंज्ञक 'पुरस्' की प्रकृति का स्वर विद्यमान होने के कारण मध्योदात्त शब्द है। क्रिया के योग में 'पुरस्' अव्यय की गति संज्ञा होती है[3]। पुरोहित शब्द में हित-शब्द √धा धातु से कर्म अर्थ में क्त-प्रत्यय करके क्रियावाची है।

इसी प्रसङ्ग में वार्तिककार महर्षि कात्यायन ने 'पुनर्' और 'चनस' की अनन्तर प्रकृति का गति स्वर माना है। इसी लिए उन्होंने 'पुनर्' और 'चनस' (=अन्न) शब्द की विशेष वार्तिक से गति-संज्ञा की है[4]। उदाहरण रूप में जैसे—पुनरांसृतेषु (मै १,११,७) में √सृ धातु से निष्पन्न क्त-प्रत्ययान्त 'सृत' के अनन्तर पूर्ववर्ती गति (उपसर्ग) 'आ' का प्रकृति-स्वर होने के कारण 'गतिर्गतौ' (पा ८,१,७०) के नियम से गति-संज्ञक 'पुनर' को अनुदात्तत्व हो गया है। चनोहित

---

१ तृतीया कर्मणि (पा ६,२,४८)। २ गतिरनन्तर (पा ६,२,४९)। ३ पुरोऽव्ययम् (पा १,४,६७)। ४ पुनश्चनसी छन्दसि गतिसंज्ञे भवत इति वक्तव्यम् (पा १,४,६०)।

(ऋ. ३,११,२) में √धा धातु से क्त-प्रत्ययान्त 'हित' शब्द पर में है, इसलिए अनन्तर-पूर्ववर्ती गति 'चनस्' का आद्युदात्त प्रकृति-स्वर से श्रूयमाण है।

उक्त (७,८) नियमों की स्पष्टता में भी कविशस्त. (श.ब्रा. १,४,२,८) शब्द प्रकृति-स्वर से मध्योदात्त है। इसके विपरीत कविऽशस्तः (ऋ. १, १५२,२) शब्द तथा कविऽप्रशस्त (ऋ. ५,१,८) शब्द अन्तोदात्त हैं। पुनःऽसृष्ट. (तै. १,५,२,४) पुनरुत्स्यूतम् (तै १,५,२,४) पुनर्निष्कृतः (तै. १, ५,२,४) इत्यादि उदाहरण भी अन्तोदात्त शब्दों के उपलब्ध हैं जहां गति का प्रकृति-स्वर नहीं है। ऐसे ही प्रयोगों को अन्तोदात्त सिद्ध करने के लिए प्रवृद्धादि-गण (पा ६,२,१४७) की व्यवस्था की गई है।

९. तु-प्रत्ययान्त उणादि-निष्पन्न 'गन्तु' आदि शब्दों को छोड़कर यदि कोई भी तकारादि प्रत्ययान्त नित् शब्द होगा, तो उसके पर में रहते हुए अनन्तर गति के पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर होता है[1]। जैसे—क्तिन्—उपेतिः (ऋ. १,७६,१) में 'इति' शब्द √इण् 'गतौ' धातु से भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न होने के कारण नित् भी है और तादि (तकार आदि वाला) है। और उससे अव्यवहित-पूर्व 'उप' गति का प्रकृति-स्वर हो रहा है। 'उप' उपसर्ग आद्युदात्त होने के कारण यह शब्द भी आद्युदात्त है। तृन्—निऽचेतारः (ऋ. १, १८,४२)। तुमुन्—एतुम् (तै. २,५,२,३)। यहां शब्द के उत्तर-पद 'एतुम' में √इ धातु से तुमुन् (तादि नित्) प्रत्यय है। इसके अनन्तर-पूर्ववर्ती गति 'आ' का प्रकृति-स्वर हुआ है। तवेन्—प्रतिऽधातवे (ऋ १,२४,८)। यहां उत्तर-पद में √धा धातु से तुमुन्-प्रत्यय के अर्थ में तवेन्-प्रत्यय[2] नित् और तकारादि है। इसलिए अनन्तर-पूर्ववर्ती गति 'प्रति' का आद्युदात्त प्रकृति-स्वर हो गया है। ऐसे ही निऽईन्तवे (ऋ. ७, १३,८) है। तोसुन्—ऐ (आऽइ) तोः (अ. १९,३,५५) शब्द में √इ धातु से 'तोसुन्' प्रत्यय नित् और तादि पर में है।

१०. घिन-प्रत्ययान्त √भज् धातु का रूप पर में हो तो पूर्ववर्ती अनिगन्त (जो गति=उपसर्ग इगन्त न हो अर्थात् अभि, परि, अधि इत्यादि न हों, और अकारान्त प्र, परा आदि अवर्णान्त ही हों)

---

१. तादौ च निति कृत्यतौ (पा. ६,२,५०)। २. तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः (पा. ३,४,९)।

गति को प्रकृति-स्वर होता है[1]। जैसे—प्राञ्चः (ऋ. १,११०,२) परा॑ञ्चः (ऋ. १,१६४,१९) आदि में पूर्व-पद का गति (उपसर्ग) इग्-अन्त (इकारान्त) नहीं, अकारान्त है। इसलिए 'प्र' और 'परा' के प्रकृति-स्वर से शब्द आद्युदात्त हैं।

११. व-प्रत्ययान्त √अञ्चु धातु पर में रहते इगन्तों में भी यदि और 'नि' 'अधि' गति पूर्व-पद में हो तो प्रकृति-स्वर हो जाता है[2]। जैसे—न्यं नि-अ) ञ्चम् (ऋ. ५,८३,७) में पूर्व-पद में 'नि' के प्रकृति स्वर से शब्द के आदि में स्वरित है। क्योंकि उदात्तस्थानीय यणादेश के परवर्ती अनुदात्त को स्वरितत्व हो जाता है[3]। 'न्यञ्चम्' शब्द में निर्दिष्ट नियम से पूर्ववर्ती 'नि' गति को प्रकृति-स्वर से उदात्तत्व का निश्चय होने पर 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८) सूत्र के नियम से परवर्ती 'अ' अनुदात्त है। और 'नि>न्य्' ऐसा यण्-आदेश होने पर स्वरित है।

१२. सामान्य रूप से षष्ठी-समास में समास-स्वर[4] से अन्तोदात्त होता है, किन्तु यदि कहीं पूर्व-पद की प्रकृति का स्वर उपलब्ध होता है, तो उन शब्दों में स्वर-सिद्धि के लिए दासीभारादिगण (पा. ६,२,४२) की कल्पना की गई है। जैसे—देवहूतिभिः (ऋ. १,१२,१२)। यहां षष्ठी-समास है। और पूर्व-पद में अन्तोदात्त 'देव' शब्द की प्रकृति का अन्तोदात्त स्वर विद्यमान है।

काशिकाकार ने आद्युदात्त प्रकृति-स्वर का ज्ञान कराने के लिए वसुनीतिः (शौ. १२,२,६) शब्द को उद्धृत किया है। जो कि संदिग्ध है। मन्त्रार्थानुगम से यह विशेषण पद प्रतीत होता है, जो कि बहुव्रीहि-समास के पूर्व-पद प्रकृति-स्वर से सिद्ध है।

चन्द्रमसः (ऋ. १,८४,१५) शब्द में भी चन्द्र+मस् इन दो शब्दों का समास है। और उक्त नियम से पूर्व पद 'चन्द्र' की अन्तोदात्त प्रकृति का स्वर है।

ओषधीः (ऋ.१,६०,६) शब्द का स्वर भी इसी उक्त नियम से सिद्ध है। यहां ओष+धि (√धेट् 'पाने') इन दो पदों का समास है। इसी

---

१. अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये (पा. ६,२,५२)। २. न्यधी च (पा. ६,२,५३)।
३. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (पा. ८,२,४)। ४. समासस्य (पा. ६,१,२२३)।

लिए साम-वेद की कौथुम-शाखा में ओ[१]षं[२र] धी[३]षु (कौ. २,३३२) ऐसा पद-पाठ है।

१३. उपपद-समास में अण्-प्रत्ययान्त शब्दों में भी कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर[१] से अन्तोदात्त शब्द बनेंगे। जैसे—रथकारेभ्यः (मा. १६,२७) में 'रथं करोति' इस विग्रह में 'कर्मण्यण्' (पा. ३,२,१) सूत्र से रथ शब्द (कर्म) उपपद होते हुए √कृ धातु से अण्-प्रत्यय करके रथकार-शब्द अन्तोदात्त निष्पन्न है।

अन्नकामाय (ऋ. १०,११७,२), देवकामा (ऋ. १०,८५,४४)। देवकामा (शौ. १४,२,१७)। सुवर्मभाः (तै. ३,१,३,२) आदि शब्दों में उपपद-समास में कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर का बाधक कृत्-पूर्वपद-प्रकृति-स्वर विशेष वार्तिक-नियम[२] से विहित है। वार्तिक 'अन्नं कामयते', 'देवान् कामयते' आदि विग्रहों में उपपद-समास में अण्-प्रत्यय के मुख्य विधायक 'कर्मण्यण्' (पा ६,२,१) सूत्र का बाधक है। यहां कर्ता अर्थ में 'अण्' प्रत्यय नहीं, 'ण' प्रत्यय हो रहा है।

कतिपय आचार्य उत्तर-पद में भाव-वाचक 'काम' शब्द मानकर 'अन्ने कामो यस्य', 'देवेषु कामो यस्य' ऐसे विग्रह से बहुव्रीहि-समास में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा. ६,२,१) इस सूत्र-नियम से पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का निर्वाह कर लेते हैं।

१४. अच् (नकार का लोप हुआ √अञ्च् 'गतौ' धातु) पर में हो तो पूर्व को उदात्तत्व होता है[३]। जैसे—अनूचः (शौ. ३,१,४)। यहां अनु+अञ्च्+अस् इस स्थिति में अजादि सुप् विभक्ति 'अस्' परे रहते पूर्व अञ्च् की भ-संज्ञा[४] और न-लोप होकर 'अचः' (पा. ६,४,१३८) सूत्र से अञ्च् के 'अ' का लोप होकर 'च्' शेष रहा है और 'चौ' (पा. ६,३,१३८) से पूर्ववर्ती 'अनु' के 'उ' को दीर्घ होकर 'अनूचः' शब्द निष्पन्न हुआ है। यहां अनुदात्त सुप्-विभक्ति 'अस्' के कारण (भ-संज्ञा होकर) अञ्च् के उदात्त 'अ' का लोप हुआ है, इसलिए उदात्त-निवृत्ति-स्वर ('अन्तोदात्त-स्वर' प्रकरण में पृ. १२६ देखें) से अनुदात्त 'अस्' (सुप्-विभक्ति) को उदात्त-स्वर होकर अन्तोदात्त शब्द बनना चाहिए, परन्तु निर्दिष्ट नियम से उदात्त निवृत्ति-स्वर का बाध हो जाने के कारण

---

१. गतिकारकोपपदात् कृत् (पा. ६,२,१३९)। २. शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (वा. ३, २,१)। ३. चौ (पा. ६,१,२२२)। ४. यचि भम् (पा. १,४,१८)।

दीर्घ हुए 'ऊ' को ही उदात्तत्व होकर मध्योदात्त शब्द हो गया है। यही शब्द ऋग्वेद में विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त है। जैसे—अनूचः (ऋ. ३, ३०,६)। छन्द में लुप्त-नकार (नकार का लोप होकर 'अच्') √अञ्च् 'गतौ' धातु से परे 'शस्' आदि अ-सर्वनामस्थान विभक्तियों को विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्तत्व होता है[1] (पृष्ठ १३२ देखें)। इस नियम से ऋग्वेद में अन्तोदात्तत्व है। ऋग्वेद में मध्योदात्त शब्द नहीं होता, यह भी नहीं है। 'देवद्रीचीं नयत देवयन्तः' (ऋ. ३,६,१) प्रयोग में स्पष्ट पूर्व को उदात्तत्व होकर मध्योदात्त शब्द 'देवद्रीचीम्' विद्यमान है। ऐसे ही अनूची. (तै. ४,५,७,२) शब्द भी इसी नियम से मध्योदात्त है।

१५. बहुव्रीहि-समास में 'अ' (नञ्) से परे जर, मर, मित्र और मृत शब्दों को आद्युदात्तत्व[2] होकर मध्योदात्त शब्द निष्पन्न होते हैं। जैसे—अजरः (ऋ. १,५८,२)। अमरः (शत. १४.७,१,३०)। अमित्राः (ऋ. १,१३३,१)। अमृतम् (ऋ. १,२३,१९) आदि। यहां सर्वत्र 'अ' (नञ्) से परे आद्युदात्तत्व हो रहा है।

१६. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से पर में मन्नन्त और असन्त शब्दों को आद्युदात्त होता है[3]। जैसे—सुपेशसः (ऋ. २,३२,५)। परन्तु 'सु' के अतिरिक्त से भी पर में असन्त शब्दों को आद्युदात्तत्व मिलता है। जैसे—उरुचक्षसम् (ऋ १,२५,५)। पुरुपेशसम् (ऋ. ३,३,६)। पृथुपाजसे (ऋ ३,३,१) आदि।

१७. जो द्व्यक्षर शब्द आद्युदात्त है, बहुव्रीहि-समास में 'सु' से परे उत्तर-पद के रूप में भी आद्युदात्त ही रहता है[4]। यद्यपि अष्टाध्यायी में 'सु' शब्द से पर में ही उत्तर-पद में द्व्यक्षर आद्युदात्त शब्द के आद्युदात्त होने का नियम है। परन्तु वेद में ऐसे अनेकों शब्द हैं जहां 'सु' से भिन्न शब्दों से पर में भी उत्तर-पद में द्व्यक्षर आद्युदात्त शब्दों को आद्युदात्तत्व उपलब्ध होता है। जैसे—स्वर्-ज्योतिः (मै. ४,९,८) शब्द में द्व्यक्षर आद्युदात्त 'ज्योतिः' शब्द नित्-स्वर से सिद्ध है। जो कि √ज्युत् (=√द्युत्) धातु से इसिन्-प्रत्यय (उणादिसूत्र २,११०) करके निष्पन्न है।

१. अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् (पा. ६,१,१७०)। २. नञो जरमरमित्रमृताः (पा. ६,२,११६)। ३. सोर्मनसी अलोमोषसी (पा. ६,२,११७)। ४. आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि (पा. ६,२,११९)।

और स्वर् शब्द से पर में भी बहुव्रीहि-समास में आद्युदात्त हो रहा है।

१८. अव्ययीभाव-समास में उत्तर-पद के रूप में विद्यमान कूल, तीर, तूल मूल, शाला, अक्ष, सम इन शब्दों को आद्युदात्तत्व होता है[1]। जैसे—प्रतिकूलम् (शौ. ५,१४,१२)। प्रत्यक्षम् (तै. १,७,२,१) समक्षम् (काठ. १२,१२)। काठक-संहिता कृष्ण-यजुर्वेद की शाखा है। इसमें मैत्रायणी-संहिता के समान उदात्त का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। पुरो (रक्ष-अ) क्षम् (तै. १,७,२,१) आदि।

व्याकरण-शास्त्र के आचार्यों ने महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि के आधार पर[2] 'अक्ष्णः परम्' (आंख से परे) इस विग्रह में 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' (गण ५,४,१०७) इस गण-सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय के विधान की सामर्थ्य से अव्ययीभाव समास माना है। और समास में 'परावम्' शब्द को 'परोक्षे लिट्' (पा. ३,२,११५) सूत्र में 'परोक्ष' शब्द में ओकार के निर्देश की सामर्थ्य से ओकारादेश का निपातन करके अम-साध्य 'परोक्ष' शब्द सिद्ध किया है।

विचारणीय यह है कि अव्यय के साथ ही समास होकर टच् प्रत्यय समासान्त अव्ययीभाव समास में माना जाता है। 'पर' शब्द 'दूसरा' के पर्याय में वेद में आद्युदात्त शब्द है, जो कि अव्यय नहीं है, 'पर' ऐसा अकारान्त शब्द अव्ययों की श्रेणि में है भी नहीं, फिर 'अक्ष्णः परम्' इस विग्रह में अव्ययीभाव समास कैसे संभव है। आचार्य कैयट ने 'परोक्षे लिट्' सूत्र के महाभाष्य के अपने व्याख्यान में[3] इस कठिनाई को समझा है, और 'मयूरव्यंसकादि' (पा. २,१,७२) मानकर शब्द-सिद्धि का प्रयास किया है। स्वर-सिद्धि के लिए अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्° (पा. ५,४,७५) सूत्र में 'अच्' का योग-विभाग करके

---

१. कूलतीरतूलमूलशालाऽक्षसममव्ययीभावे (पा. ६,२,१२१)।

२. परोभावः पारस्याक्षे परोक्षे लिटि दृश्यताम्।
उत्वं वाऽऽदेः पराद् अक्ष्णः सिद्धं वाऽस्मान्निपातनात्॥
(महाभाष्य ३,२,११५)।

३. अत्र कैयटः—मयूरव्यंसकादित्वात्समासः। अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्साऽजिति योगविभागाद् अत एव वा निपातनाद् अच् समासान्तः। यद्वा-प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति टच् समासान्तः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते, तथापि परशब्दस्याऽवि-भक्त्वात् समासान्तरे विधीयते।

समासान्त 'अच्' का आश्रय लिया है। परन्तु तब भी चित्स्वर से अन्तोदात्त 'प॒रो॒क्ष' शब्द प्राप्त होता है।

शब्द यथार्थ में है मध्योदात्त जो निर्दिष्ट नियम से सिद्ध है, और अव्ययीभाव समास का नियामक है। यदि कहा जाय की 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' की सामर्थ्य से अव्ययीभाव समास हुआ है तो उक्त गण-सूत्र भी अव्यय शब्दों के ही अव्ययीभाव समास का नियामक है अव्ययेतर शब्दों के नहीं। जो कि पूर्वापर प्रति, सम्, अनु इन अव्ययों के परिगणन से सिद्ध है। फिर अव्ययेतर 'पर' शब्द का पाठ भी उक्त गण-सूत्र में संदिग्ध है। फिर क्या समाधान हो जब कि स्वर-विधायक उक्त सूत्र 'प॒रो॒क्ष' शब्द को अव्ययीभाव समास में सिद्ध मानकर ही उत्तर-पद को आद्युदात्त कर रहा है।

हमारी तुच्छ मति में 'प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः' इस गण-सूत्र में वस्तुतः 'पर' शब्द नहीं है, यह 'प॒रस्' (अन्तोदात्त) शब्द है। 'प॒रस्' शब्द सर्वत्र 'परे, दूर' का वाचक है। महर्षि पतञ्जलि से बहुत पूर्व 'प्रतिपरःसमनुभ्योऽक्ष्णः' ऐसा मध्य में विसर्गयुक्त पाठ गण-सूत्र में था जो कि कालक्रम से उच्चारण-दोष से या परवर्ती अघोष वर्ण 'स' के दबाव के कारण विसर्ग का लोप होकर 'प्रतिपरसम°' रह गया। आचार्य भट्टभास्कर ने भी अपने तैत्तिरीय-संहिता के भाष्य में 'अक्ष्णः परस्तात्' ऐसा विग्रह 'प॒रो॒क्ष' शब्द का माना है। वेद में अन्यत्र 'प॒रस्' शब्द के साथ अव्ययीभाव समास देखा भी गया है। जैसे—परोगो॑ष्ठम् (मै. १, १०,१३)। अव्ययीभाव समास में सामान्यरूप से 'समासस्य' (पा. ६,१,२२३) सूत्र से अन्तोदात्त होने का नियम है। जो 'परोगोष्ठम्' इस अन्तोदात्त शब्द में विद्यमान है। 'अच' शब्द के साथ अव्ययीभाव समास में उत्तर-पद के आद्युदात्तत्व के लिए उक्त सूत्र नियम समास-स्वर से प्राप्त अन्तोदात्तत्व का बाधक है। इसलिये 'प॒रो॒क्ष' शब्द अन्तोदात्त न होकर मध्योदात्त है। इससे सिद्ध है कि अव्ययीभाव समास 'प॒रस्' के साथ ही संभव है, 'पर' (आद्युदात्त) शब्द के साथ नहीं।

१६. शालाशब्दान्त तत्पुरुष-समास में नपुंसकलिङ्ग में उत्तर-पद का आद्यक्षर उदात्त होता है[1]। जैसे—अ॒ग्नि॒ऽशा॒ले॑म् (शौ. ६,६,७)।

---

१. तत्पुरुषे शालायां नपुंसके (पा. ६,२,१२३)।

पृतनाशालम् (का. १६,१८)। दोनों स्थलों में षष्ठी-तत्पुरुष समास है। 'शाला' शब्द को नपुंसक होकर[1] ह्रस्व 'शाल' बना है। सामान्यतया समास में समास-स्वर से अन्तोदात्तत्व होता है। उसका बाध करने के लिए यह नियम है।

२०. कर्मधारय समास से भिन्न कोई तत्पुरुष-समास हो तो उत्तर-पद में राज्य शब्द आद्युदात्त होता है[2]। जैसे—सूर्यराज्यम् (मै. १,८,६)।

२१. गति, कारक और उपपद से परे कृदन्त उत्तर-पद की प्रकृति का उदात्त-स्वर विद्यमान रहता है[3]। इसी नियम की व्याकरण में कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से ख्याति है। आद्युदात्तस्वर-विधायक नियमों के अनुसार जिन प्रत्ययों के कारण आद्युदात्त शब्द बने हैं, इस नियम से गति, कारक और उपपद से परे भी उन आद्युदात्त स्वरों की स्थिति प्रकृति-स्वर से अपरिवर्तनीय रहेगी, इसलिए संपूर्ण शब्द प्रायः मध्योदात्त होंगे। जैसे—यत् प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—निधेयी (मै. ४,८,४)। उपऽपद्यः (ऋ. २,२६,१३)। परिऽचक्ष्याणि (ऋ. ६, ५२,१४) आदि। यहां सर्वत्र गति से परे उत्तर-पद यत्-प्रत्ययान्त है। उपऽपद्यः क्यबन्त का उदाहरण भी हो सकता है। क्यप्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—द्रुऽहृयं (ऋ. ७,८५,२)। निरूप्य (तै. १,७,३,२) आदि। शबन्त-प्रकृति-स्वर—निऽआविंवते (ऋ. १,५५,७)। शानजन्त-प्रकृति-स्वर—निऽशिशाना (ऋ. ७,३,५)। ल्युट्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—देवऽयानम् (ऋ. १,६२,४)। देवयजनम् (मा. १,३१)। ल्यप्-प्रत्ययान्त-प्रकृति स्वर—परिऽगृह्य (ऋ. १०,१६७,१), प्रतिऽगृह्य (ऋ. १,१२५,१)। णमुल्-अन्त-प्रकृति-स्वर - विभाजम् (मै. १,६,४), अपलुम्पम् (मै. १,६,७)। क्विप्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—देवऽनिदः (ऋ. २, २३,८)। कमुल्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—विऽशृच्छम् (ऋ. ५,८६,२)। कसुन्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—निऽमिषः (ऋ. ८,२८,६)। सेन् प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—विऽसृचें (ऋ. ४,१३,३)। खल्-प्रत्ययान्त-प्रकृति-स्वर—दुःऽशंसः (ऋ. २,२३,१०)। यह निदर्शन मात्र है। ऐसे अनेक मध्योदात्त शब्द इसी वर्ग में आ जाते हैं। कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से अन्तोदात्तत्व का उदाहरण १६वें नियम में कहा गया है।

---

१. विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् (पा. २,४,२५)। २. अकर्मधारये राज्यम् (पा. ६,२,१३०)। ३. गतिकारकोपपदात् कृत् (पा. ६,२,१३९)।

कृद्-उत्तरपद-प्रकृति स्वर का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। कृत-पूर्व-पद-प्रकृति-स्वर के भी कुछ उदाहरण हैं, यह कृत्-पूर्वपद-प्रकृति-स्वर उक्त कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर का बाधक है। जैसे— जातऽवेदसम् (ऋ. १, ४४,४) शब्द में 'जातानि वेत्ति' इस विग्रह में उत्तर-पद 'वेदस्' शब्द कर्ता अर्थ में 'असुन्' प्रत्यय करके नित्-स्वर से आद्युदात्त निष्पन्न है। पूर्व निर्दिष्ट नियम की व्यापकता के कारण यहां भी कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर की सामर्थ्य से उत्तर-पद की प्रकृति 'वेदस्' का आद्युदात्तत्व होना चाहिए, और उदात्त का चिह्न 'वे' पर होना चाहिए, परन्तु वेद में उदात्त-स्वर 'जात' (पूर्व-पद) के 'त' पर श्रूयमाण है, इसलिए ऐसे स्थलों में कृद्-उत्तरपद-प्रकृति-स्वर का निवारक और कृत-पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का निष्पादक विशेष नियम उपलब्ध है[1]। ऐसे ही सर्वऽवेदसः (शौ. १६,४१,६) शब्द भी है।

'वेदस्' शब्द वेद में 'वित्त' का भी वाचक है। इसलिए सायणाचार्यजी ने ऋग्वेद (१,४४,१) के अपने भाष्य में एक पक्ष उपर्युक्त दिखाया, और पक्षान्तर में 'जातं वेदो धनं यस्य' यह बहुव्रीहि-समास मानकर उक्त वैदिक शब्द में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा. ६,२,१) सूत्र से भी पूर्वपद-प्रकृति-स्वर का निर्वाह किया है।

बहुव्रीहि-समास भी संभव है, इसी लिए विश्वऽवेदसम् (ऋ. १, १२,१) शब्द में बहुव्रीहि-समास मानकर ही पूर्व-पद की प्रकृति 'विश्व' शब्द को अन्तोदात्तत्व हुआ है[2]।

२२. गति, कारक तथा उपपद में थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र, क इन प्रत्ययों से युक्त शब्दों में अन्तोदात्तत्व होता है[3]। जैसे—थ—अवऽभृथम् (ऋ. ८,९३,२३) प्रऽभृथे (ऋ. २,३४,११)। अथ—आऽवसथान् (शौ. ६,६,७)। घञ्—उपऽत्रासम् (ऋ. १,१६४,८)। प्रमोदाः (मा. २०,६) प्रमोद (ते. ४४,१,३) सुतऽयामम् (ऋ. १०,८८,८)। अच्—प्रऽभवः (ऋ. २,३८,५) अभिऽक्रोशम् (शौ ७,३६,१)। अप्—आऽहवम् (ऋ. १,१५५,६)। क—प्रऽपा (ऋ. १०,४०,१) आदि।

---

१. गतिकारकपूर्वपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उणादिसूत्र ४,२२७)। २. बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (पा. ६,२,१०६)। ३. थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (पा. ६,२,१४४)।

११. नञ्-स्वर

यद्यपि 'नञ्-स्वर' तथा 'सु-स्वर' समास-स्वर के ही अङ्ग हैं, परन्तु 'नञ्' अव्यय के साथ तथा 'सु' अव्यय के साथ समस्त शब्दों में अनेक प्रकार का स्वर है। एक ही स्थल में सब का दिग्दर्शन कराने के लिए यह पृथक् निर्देश है।

१. 'नञ्' के साथ तत्पुरुष-समास में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से शब्द आद्युदात्त होंगे[1]। जैसे—अनग्निदग्धाः (ऋ. १०,१५,१४) आदि (पृष्ठ १३८ भी देखें)।

२. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में समस्त शब्द अन्तोदात्त होंगे[2]। जैसे—अनश्वैः (ऋ. १,१२१,६) अनपत्यानि (ऋ. ३,५४ १८) आदि।

३. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में जर, मर, मित्र, मृत शब्दों का आद्यक्षर उदात्त होता है[3]। जैसे—अजरं (ऋ. ३,६,४) अमरः (शत. १४.७,२,२०)। अमित्रस्य (ऋ. ६,२५,२) अमृतानि (ऋ. ३, ३८,४)। पृष्ठ १४४ में भी देखें।

४. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में समासान्त कप्[4] प्रत्यय पर में होने पर पूर्व को उदात्तत्व होता है[5]। जैसे—अनुत्तरवीकम (तैत्रा. २, ७,५,२) अच्छन्दस्कम् (मै. ४,७,५) आदि।

५. 'नञ्' के साथ बहुव्रीहि-समास में समासान्त कप् प्रत्यय पर में होने पर ह्रस्वान्त उत्तर-पद के अन्त्य से पूर्व अक्षर को उदात्त होगा[6]। जैसे—अचर्मकम (मै ३,३,५), अलोमिका (मै. २,५,२) आदि।

६. 'नञ्' से पर में तादर्थ्य के अतिरिक्त तद्धित-यत्-प्रत्ययान्त शब्दों में अन्तोदात्तत्व होता है[7]। जैसे—अनिषव्याः (ऋ. १०,१०८,६)। यहाँ उत्तरपद में 'इषु' से 'इषव्य' शब्द है। अपशव्यम् (तै. ६,१,२,७) आदि।

---

१. तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः (पा. ६,२,२)। अव्यये नञ्कुनिपातानाम् (फि. ६,२,२)। २. नञ्सुभ्याम् (पा. ६,२,१७२)। ३. नञो जरमरमित्रमृताः (पा ६,२,११६)। ४. शेषाद् विभाषा (पा. ५, ४,१५४)। ५. कपि पूर्वम् (पा. ६,२,१७३)। ६. ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम् (पा. ६, २,१७४)। ७. ययतोश्चातदर्थे (पा. ६,२,१५६)।

७. कृत्य प्रत्यय (क्यप्, ण्यत्, तव्य, अनीयर् आदि), उकञ् और इष्णुच् प्रत्ययान्त शब्दों को तथा चारु-आदि गण में पठित शब्दों को नञ्-समास में अन्तोदात्तत्व होता है[1]। कृत्य—अनपवृज्यान् (ऋ. १, १४६,३) । अननुकृत्यम् (ऋ. १०,६८,१०) । अनवद्यानीयानि (मै. २,५,५) । अभर्तव्यम् (मै. ३,६,७)। उकञ्—अनपक्रामुकः (मै. ४,२.४) आदि। उकञ्-प्रत्ययान्त शब्दों को नञ्-समास में अन्तोदात्तत्व नहीं भी होता। प्रत्युत तत्पुरुष-समास का पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से आद्युदात्तत्व ही होता है। जैसे—अघातुकः (मै. १,४,७) अनुपदासुका (तै. ६,१,७,८) आदि। इष्णुच्-प्रत्ययान्त शब्दों को नञ्-समास में निर्दिष्ट नियम से अन्तोदात्तत्व होना चाहिए, परन्तु मिलता है पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से आद्युदात्तत्व भी। जैसे—अप्रजनिष्णुः (मै. १,६,१०)। चार्वादि—अराजा (तै. ३,८,५,२) आदि।

८. नञ् से पर में तृन्-प्रत्ययान्त शब्द तथा अन्न, तीक्ष्ण, शुचि शब्दों में विकल्प से अन्तोदात्तत्व होता है[2]। जैसे—अनिशुरा (ऋ. १,१६२,२०)। अनन्नम् (मै. २ १,२)। अशुचितरः (मै. १,८,६)।

६. 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययान्त शब्दों में पहले नञ् का समास हो या प्रत्यय-स्वर? पूर्व-विप्रतिषेध से नञ्-समास होकर पीछे प्रत्यय होंगे, तभी 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का स्वर श्रूयमाण होगा[3]। 'अगोता' शब्द में 'गोता' (तल्-प्रत्ययान्त) के साथ नञ्-समास होगा तो आदि में 'अ' (नञ्) उदात्त होगा, परन्तु वेद में ऐसा नहीं मिलता। इसलिए अ+गो शब्द से तल्-प्रत्यय करके प्रत्यय लित् होने के कारण 'ता' से पूर्व 'गो' उदात्त होता है। जैसे—अगोतामनपत्यताम् (शौ. ४, १०,६)। अगोतायै (ऋ. ३,१६,५)। अपर्तुताम् (मै. २,१.८)। यह व्यवस्था छन्द में विकल्प से है[4], इसलिए 'त्व', 'तल्' प्रत्यय करने के पश्चात् भी नञ्-समास होकर पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से अ (नञ्) उदात्त होता है। जैसे—अनिधितरथाय (मै. २,२,३) मैत्रायणी-संहिता में उदात्त का चिह्न ऊर्ध्वरेखा है। अपीतसामत्वाय (तै. १,५,१,४)।

---

1. कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च (पा. ६,२,१६०)। 2. विभाषा तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु (पा. ६,२,१६१)। 3. त्वतल्भ्यां नञ्समासः पूर्वविप्रतिषिद्धं स्वरसिद्ध्यर्थम् (काशि. ५,१,११९)। 4. वा छन्दसि नञ्-समासो वक्तव्यः (काशि. ५,१,११९)।

१२. सु-स्वर

'सु' अव्यय के साथ प्रादि-समास, गति-समास, उपपद-समास, बहुव्रीहि-समास सब प्रकार का समास होता है।

१. सुऽब्रा॑ह्मणाः (शौ. ११,१,२६)। सुऽमेरवः (ऋ. ५,७,७)। सुऽव्रताः (ऋ. ७,६४,१) आदि में 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' इस वार्तिक के अनुसार 'कुगतिप्रादयः' (पा. २,२,१८) सूत्र से प्रादि-समास है। और पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ॰' (पा. ६,२,२) इत्यादि सूत्र से सब शब्द आद्युदात्त हैं (पृष्ठ १३८ देखें)।

२. 'सु' तथा उपमानवाची शब्द से पर में क्त-प्रत्ययान्त शब्दों में अन्तोदात्तत्व होता है[1]। जैसे—सुऽजातः (ऋ. ७,५१,१) शब्द में √जन् धातु के क्त-प्रत्ययान्त 'जात' शब्द के साथ 'सु' का प्रादि-समास है (सुष्ठु जातः)। प्रादि-समास में पूर्वपद-प्रकृति-स्वर से आद्युदात्त शब्द होना चाहिए। परन्तु निर्दिष्ट सूत्र-नियम से अन्तोदात्त है। ऐसे ही सुकृत (ऋ. ७,५८,६)।

३. गति-समास में सकर्मक धातुओं से क्त-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ 'सु' को अनन्तर-गति-स्वर से आद्युदात्तत्व होगा[2]। जैसे—सुऽधितः (ऋ. ३,२३,१)। सुऽधृतः (शौ. १३,२,१२)। सुसंभृतम् (ऋ. ४, ५७,२) आदि।

४. 'सु' शब्द उपपद में होने पर परवर्ती खल्-प्रत्ययान्त शब्द को उत्तरपद-प्रकृति-स्वर होता है[3]। जैसे—सुऽहवाम् (ऋ. २,३२,४) सुऽकरम् (ऋ. ८,८०,६) सुऽतरम् (ऋ. ७,६७,८) आदि।

५. गत्यर्थक धातुओं से तथा अन्य धातुओं से भी पर में खल्-प्रत्यय के अर्थ में युच्-प्रत्ययान्त शब्दों को उत्तरपद-प्रकृति-स्वर से चित्-स्वर अन्तोदात्त होगा[4]। जैसे—सुऽशुगान् (ऋ. ४,१६,१) सूपसदनः (तै. ७,५,२०,१) आदि।

६. 'सु' उपपद होने पर क्विबन्त आदि शब्दों में भी उत्तरपद-प्रकृति-स्वर होता है। जैसे—सुऽशर (ऋ. ३,५४,१२), सुऽगः (ऋ. १,४१,४), सुऽधर्जम (ऋ. ८,६०,१६)।

---

१. सूपमानात् क्तः (पा. ६,२,१४५)। २. गतिरनन्तरः (पा. ६,२,४९)। ३. ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (पा. ३,३,१२६)। ४. छन्दसि गत्यर्थेभ्यः, अन्येभ्योऽपि दृश्यते (पा. ३,३,१२९;१३०)।

७. 'सु' के साथ बहुव्रीहि-समास में शब्द अन्तोदात्त होता है[1]। जैसे—सुऽकीर्तिः (ऋ. १,६०,३), सुऽगुः (ऋ. १,१२५,२) आदि।

८. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से पर में अप्-प्रत्ययान्त शब्द की मध्योदात्त की स्थिति होगी। क्योंकि 'अप्' प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्त है। जैसे—सुगवः (ऋ. १,११६,१५) में सुगो+अप् इस स्थिति में 'अप्' प्रत्यय अनुदात्त है। इसलिए बहुव्रीहि-समास से सु-गो का अपना अन्तोदात्त-स्वर ही विद्यमान रहेगा।

९. बहुव्रीहि-समास में 'सु' के साथ 'क्रतु' आदि के समास में 'क्रतु' आद्युदात्त होगा[2]। जैसे—सुऽक्रतुः (ऋ. १,२५,१०)।

१०. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से पर में मन्नन्त और असन्त शब्दों को आद्युदात्तत्व होगा, लोमन् और उषस् शब्दों को छोड़कर[3]। जैसे—सुजनिमा (ऋ. ७,१००,४) सुचक्षसः (ऋ. १०,३७,७) आदि (पृष्ठ १४४ भी देखें)।

११. जो शब्द द्व्यच् (दो स्वर वर्णों वाला) है और आद्युदात्त है, वेद में 'सु' से पर में बहुव्रीहि-समास के उत्तर-पद में वह आद्युदात्त ही रहेगा[4]। जैसे—सुऽअर्थान् (ऋ. ८,९८,१६)। 'सु' से भिन्न से पर में भी उत्तर-पद में आद्युदात्त मिलता है (पृष्ठ १४४ देखें)।

१२. बहुव्रीहि-समास में 'सु' से पर में 'वीर' और 'वीर्य' शब्द आद्युदात्त होते हैं[5]। जैसे—सुऽवीरेण (ऋ. १०,१२२,३) सुऽवीर्यस्य (ऋ. ३,१६,१)।

१३. पाणिनीय-सूत्र से 'सु' के साथ तत्पुरुष समास में निन्दा में ही अन्तोदात्तत्व विहित है[6]। परन्तु वेद में प्रशंसा अर्थ वाले 'सु' के साथ तत्पुरुष-समास में भी शब्द अन्तोदात्त उपलब्ध है। जैसे—सुसारथिः (ऋ. ६,७५,६; मा. २४,६) शब्द अन्तोदात्त है, और शब्द का अर्थ 'उत्कृष्ट सारथि' है।

---

१. नञ्सुभ्याम् (पा. ६,२,१७२)। २. क्रत्वादयश्च (पा. ६,२,११८)। ३. सोर्मनसी अलोमोषसी (पा. ६,२,११७)। ४. आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि (पा. ६,२,११९)। ५. वीरवीर्यौ च (पा. ६,२,१२०)। ६. सोरवक्षेपणे (पा. ६,२,१९५)।

१३. आद्यन्त-उदात्त-स्वर

१. तवै-प्रत्ययान्त शब्द के आदि और अन्त्य के दोनों वर्णों को साथ ही उदात्तत्व होता है[1]। जैसे—दा॒तवै (ऋ. ४,२१,६)। सर्तवै (ऋ. १,५५,६)। पातवै (ऋ. ३,४६,५) आदि।

२. गति-समास में तवै-प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्तत्व और अनन्तर (व्यवधान-रहित) गति (उपसर्ग) को प्रकृति-स्वर दोनों साथ होते हैं[2]। जैसे—अन्वेतवै (ऋ. १.२४,८)। अपगन्तवै (ऋ. १०,१६०,५)। परिस्तरीतवै (मै.१,४,१०) आदि।

३. 'वाव' आदि अव्ययों के दोनों अक्षर उदात्त होते हैं[3]। जैसे—वाव (शत्रा. १,६,३,१६)।

१४. द्वि-उदात्त-स्वर

१. वनस्पति आदि शब्दों में पूर्व-पद और उत्तर-पद दोनों में प्रकृति-स्वर से उदात्तत्व होता है[4]। जैसे—वन॒स्पतिः (ऋ. १,६०,८) बृह॒स्पतिः (ऋ. १,६२,३) शचीपतिम् (ऋ. १,१०६,६) नराशंसम् (ऋ. १,१३,३) तनूनपात् (ऋ. ३,२९,११) शुनःशेपः (ऋ. १,२४,१२) आदि।

२. देवता-द्वन्द्व में पूर्व-पद और उत्तर-पद दोनों में प्रकृति-स्वर से उदात्तत्व रहता है[5] आमन्त्रित (संबोधन) को छोड़ कर। जैसे—इन्द्रावरुणौ (ऋ. ६,६८,१)। इन्द्राविष्णू (ऋ. ४,२,४)। मित्रावरुणौ (ऋ. १,२५,१) आदि।

१५. त्रि-उदात्त-स्वर

'बृहस्पति' शब्द द्वि-उदात्त ऊपर दिखाया गया है। जब 'इन्द्र' शब्द के साथ 'बृहस्पति' का देवता-द्वन्द्व होगा, तो तीन उदात्त-स्वर वाला शब्द होगा[6]। जैसे—इन्द्राबृहस्पती (ऋ. ४.४९,५)।

---

१. अन्तश्च तवै युगपत् (पा. ६,१,२००)। २. तवै चान्तश्च युगपत् (पा. ६,२,५१)। ३. वावादीनामुभावुदात्तौ (फिट्-सूत्र ४,१५)। ४. उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (पा. ६,२,१४०)। ५. देवताद्वन्द्वानि चाऽनामन्त्रितानि (शुभा. २,४८)। देवताद्वन्द्वे च (पा. ६,२,१४१)। ६. इन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि (शुभा. २,४९)।

नवम अध्याय

अनुदात्त-प्रकरण

[१. अनुदात्त-स्वर, २. अनुदात्त-स्वर के अपवाद, ३. सन्नतर की विशेषता]

१. अनुदात्त-स्वर

१. सुप् (सु, औ, जस् आदि २१ विभक्तियां) और पित् (तिप्, सिप्, मिप्, शप्, अप्, डीप् आदि, जिनके 'प्' की इत्संज्ञा होती है) प्रत्ययों को अनुदात्तत्व होता है[1]।

२. किसी भी पद में जहां एक अक्षर उदात्त या स्वरित हो रहा हो, उस अक्षर को छोड़कर शेष सब अक्षरों को अनुदात्तत्व होता है[2]। इसका व्याख्यान यथा-स्थान (पृष्ठ ८४-८७)किया जा चुका है।

३. 'तासि' विकरण, अनुदात्तेत्, ङित् और अदुपदेश धातुओं से पर में ल-सार्वधातुक प्रत्यय अनुदात्त होता है (पृष्ठ ६३ देखें)।

इसका भाव यह है—

तासि (लुट् लकार का विकरण), अनुदात्तेत् धातु (धातु-पाठ में कुछ धातुएं अकारान्त पढ़ी गई हैं, और उनके अन्त्य अकार की इत्संज्ञा दिखाने के लिए उनमें अनुदात्त का संकेत किया जाता है, ऐसी धातुएं अनुदात्तेत् कहलाती हैं, उन से आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्यय होते हैं[3]) ङित् धातु (√शीङ् 'स्वप्ने' इत्यादि अदादि-गण की धातुएं जिनमें 'ङ्' की इत्संज्ञा होती है। और उनसे भी आत्मने-पद-संज्ञक प्रत्यय होते हैं[3]। यद्यपि 'ङित्' धातुएं दूसरे गणों में भी उपलब्ध होती हैं, परन्तु इस सूत्र के नियम में योग्यता अदादि-गण की 'ङित्' धातुओं की ही प्रतीत होती है, जो कि 'अन्हिङ्वटोः' इस पर्युदास-प्रतिषेध से सिद्ध है, जिसका अर्थ है कि इस सूत्र-नियम की प्रवृत्ति √ह्नुङ् 'अपनयने' और √इङ् 'अध्ययने' धातुओं के ल-सार्वधातुक में नहीं होती, उक्त दोनों धातुएं अदादि-गण की ही हैं) और अदुपदेश धातुओं (भ्वादि-गण का

---

१. अनुदात्तौ सुप्पितौ (पा. ३,१,४)। २. अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (पा. ६,१,१५८)। ३. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (पा. १,३,१२)।

'शप्' विकरण तथा तुदादि-गण का 'श' विकरण अनुबन्ध-लोप करके 'अ' शेष रहता है, और इन विकरणों से युक्त भ्वादि-गण की और तुदादि-गण की हलन्त धातुएं भी अदुपदेश (उपदेशावस्था में ही अवर्णान्त कहलाती हैं) से पर में ल-सार्वधातुक (लट्, लेट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् लकारों के स्थानों में सार्वधातुक-संज्ञा वाले 'तिङ्') प्रत्यय अनुदात्त होते हैं[1]। ल-सार्वधातुक से 'तिङ्' प्रत्यय ही अभिप्रेत नहीं 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय भी ग्राह्य हैं, क्योंकि यह भी लादेश तथा सार्वधातुक-संज्ञक प्रत्यय हैं। लादेश चाहे तिङ् ('तङ्' प्रत्ययों को छोड़कर) प्रत्यय हों चाहे 'शतृ' प्रत्यय हो, उनकी परस्मैपद-संज्ञा होती है[2]। अर्थात् यह प्रत्यय परस्मैपदी धातुओं से होते हैं। तथा 'तङ्' प्रत्ययों और 'शानच्' प्रत्यय की आत्मनेपद-संज्ञा होती है[3] और यह प्रत्यय आत्मनेपदी धातुओं से होते हैं। इस नियम को उदाहरण से स्पष्ट करें—

तासि—लुट् लकार के निर्विवाद 'तासि' विकरण के प्रयोग वेद के ब्राह्मण-भाग से प्रस्तुत किये जाते हैं, क्योंकि उस प्रकरण में 'श्वः' (आगामी दिन) का प्रयोग स्पष्ट लुट् लकार की क्रिया का संकेत करता है। जैसे—भविता (शत्प. ४,३,१,११), दातारः (शत्प. ११,५,१,१२), भवितास्मि (शत्प. १,८,१,२), भवितास्मः (शत्प. १२,८,३,७) यह सब प्रयोग लुट् लकार में तासि-विकरण के योग से निष्पन्न हुए हैं। तासि-विकरण के पर-वर्ती ल-सार्वधातुक को निर्दिष्ट नियम से अनुदात्तत्व हो जाने के कारण प्रत्यय-स्वर (प्रति-शिष्टस्वर) से तासि-विकरण का उदात्त-स्वर स्वतः-सिद्ध है। शेष अक्षर 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८) के नियम से अनुदात्त हैं। स्मरण रहे कि शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न नीचे पड़ी रेखा है, और अनुदात्त का चिह्न कुछ भी नहीं।

[अनुदात्तेत्—√ईड 'स्तुतौ' धातु अदादिगणी है। उपदेशावस्था में धातु अकारान्त है, अन्त्य अकार पर अनुदात्त का संकेत होने के कारण यह धातु अनुदात्तेत् है। इस धातु के तिङन्त 'ईडे' (ऋ. १,१००,२) 'ईळते' (ऋ. १,१४,५) आदि प्रयोग इसी वर्ग

---

1. तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः (पा. ६,१,१८६)।

2. लः परस्मैपदम् (पा. १,४,९९)। 3. तङानावात्मनेपदम् (पा. १,४,१००)।

में परिगणित होंगे। अदादि-गण में शप्-विकरण का लुक् हो जाने के कारण प्रकृति (धातु) और प्रत्यय के ही √ईड्+ते (प्रथम-पुरुष एकवचन)=√ईड्+टे=ईट्टे। √ईड्+अते (प्रथम-पुरुष बहुवचन) इस प्रकार दो अवयव श्रूयमाण होंगे। सर्वत्र अनुदात्तेत् √ईड् धातु से पर में ल-सार्वधातुक प्रत्ययों को अनुदात्तत्व होने पर धातु-स्वर से √ईड् धातु का आद्युदात्तत्व स्वत-सिद्ध संपन्न हुआ है। ऐसे ही—आस्ते (ऋ. ७,५५,६), आसताम् (ऋ. ३,४,११) आदि इसी वर्ग में समझें।

ङित्—अदादि-गण की √चक्षिङ् (वेद में 'दर्शने' अर्थ है), √शीङ् आदि धातुओं में 'ङ्' की इत्संज्ञा होने के कारण ङित्व है, पूर्ववत् यहां भी शप्-विकरण का लुक् होने के कारण प्रकृति तथा प्रत्यय के दो अंश ही विद्यमान हैं। जैसे—चष्टे (ऋ. ८,१६,११)। शये (ऋ. ३,५५,४), शेये (ऋ ८,६०,१५), शेरते (मा. १३,७), आदि प्रयोगों में क्रम से चष्टे (√चक्ष्+ते=चष्+टे)। शये (√शी>शे+ए [प्रथम-पुरुष के एकवचन में 'ते' के 'त्' का लोप हो गया है[1]])। शेये (√शी>शे+ये) शेरते (√शी>शे+रुट्-आगम+अते)। इस प्रकार सर्वत्र ङित् धातुओं से पर में ल-सार्वधातुक प्रत्ययों को अनुदात्तत्व हो जाने से धातु-स्वर से धात्वंश का आद्युदात्त-स्वर स्वत-सिद्ध है।

यहां विशेष उल्लेखनीय यह है कि शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों में 'शानच्' प्रत्यय के चित्त्व के कारण 'चितः' (अ. ६,१,१६३) सूत्र से अन्तोदात्तत्व प्राप्त है। परन्तु ल-सार्वधातुक को अनुदात्तत्व विशेष-विहित होने से उसका बाधक है। इसी लिए भ्वादि-गण के शानज्-अन्त प्रयोग 'वर्धमान' (ऋ. ६,११८,१) में तथा अदादि-गण के ईळानाय (ऋ २,६,६), आसीन (ऋ. ७,४२,३), चक्षाण (ऋ. १,१२८,२), शयानम् (ऋ. १,३२,८) आदि शानज्-अन्त प्रयोगों में धातु-स्वर से आद्युदात्तत्व है। तुदादि-गण के इच्छमानः (ऋ. १,१२६,१), पृच्छमान (ऋ. ७,१,२२) आदि में विकरण-स्वर से मध्योदात्तत्व है।

क्योंकि अदादिगणी ङित् √इङ् 'अध्ययने' तथा √इङ् 'अध्ययने' धातुओं का सूत्र में पर्युदास-प्रतिषेध किया गया है, इसलिए अप√इ धातु से निष्पन्न अपह्नुते (ऋ. १,१२८,४) रूप में

१. लोपस्त आत्मनेपदेषु (पा. ७,१,४१)।

यह सूत्र-नियम चरितार्थ न होगा। और सति-शिष्टस्वर के बलवान् होने के कारण धातु-स्वर की अपेक्षा प्रत्यय-स्वर को प्रमुखता प्राप्त हुई है।

अनुपदेश—इस सम्बन्ध में उदाहरण देकर भ्वादि-गण तथा तुदादि-गण के ल-सार्वधातुक-स्वर में पहले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है (पृष्ठ ६६;१०४ देखें)।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उक्त सूत्र-नियम में पर्युदास प्रतिषेध केवल √ह्नुङ् 'अपनयने' तथा √इङ् 'अध्ययने' दो धातुओं का कहा गया है। महाभाष्य (६,१,१६१) के अनुसार √विद् 'विचारणे', √खिद 'दैन्ये' तथा √ञिइन्धी 'दीप्तौ' इन तीन रुधादिगणी धातुओं में भी वार्तिककार के मत में उक्त प्रतिषेध मानना चाहिए[1]। √विद और √खिद के वैदिक उदाहरण तो प्राप्त नहीं हैं। महर्षि पतञ्जलि ने 'विन्दाते', 'खिन्दाते' उदाहरण दिये हैं। जहां प्रथम-पुरुष के द्विवचन में ल-सार्वधातुक 'आते' को वार्तिक-नियम से अनुदात्तत्व का निषेध मानकर प्रत्यय-स्वर से मध्योदात्तत्व माना गया है। ञिइन्धी 'दीप्तौ' का वैदिक उदाहरण 'इन्धे' (ऋ. ७,१,१६) प्राप्त है। √इन्धू धातु आत्मनेपदी होने के कारण अनुदात्तेत् है। इस कारण 'तास्यनुदात्तेत्[०]' (पा.६,१,१८६) सूत्र से ल-सार्वधातुक 'ते' प्रत्यय अनुदात्त होकर धातु-स्वर से आद्युदात्तत्व होना चाहिए था, वार्तिक-नियम के प्रतिषेध से ल-सार्वधातुक को अनुदात्तत्व न होकर प्रत्यय-स्वर (सति-शिष्टस्वर) से अन्तोदात्तत्व हो गया है।

इन्धानः (ऋ. १,१४३,७) शब्द आद्युदात्त है। यह शब्द शानच्-प्रत्ययान्त है। 'तास्यनुदात्तेत्[०]' सूत्र के नियम से ल-सार्वधातुक प्रत्यय 'शानच्' को अनुदात्तत्व प्राप्त है। उक्त वार्तिक से निषेध हो जाता है। इस लिए चित्-स्वर से अन्तोदात्त शब्द प्राप्त है, परन्तु पाणिनीय सूत्र के विशेष नियम[2] से विकल्प से आद्युदात्तत्व हो जाने के कारण शब्द आद्युदात्त सिद्ध होता है।

---

1. विन्दिखिदीन्धिभ्यश्चेति वक्तव्यम् (वार्त्ता. ६,१,१६१)। 2. विभाषा चेण्यस्थानयोः (पा. ६,१,२१५)।

काशिकाकार ने 'विन्दीन्धिखिदिभ्यः०' इत्यादि वार्तिक का उल्लेख नहीं किया है। उनको अभीष्ट भी प्रतीत नहीं होता, इसी लिए 'इन्धान' शब्द के स्वर-विचार में उनके यह शब्द विचारणीय हैं। "इन्धान शब्द भी जब चानश्-प्रत्ययान्त है, तब चित् स्वर से अन्तोदात्त होगा। जब शानच्-प्रत्ययान्त है, तब ल-सार्वधातुक शानच्-प्रत्यय को अनुदात्तत्व करके उदात्त-निवृत्ति-स्वर से शब्द मध्योदात्त है[1]। इस प्रकार 'इन्धान' शब्द में सर्वथा अ-प्राप्त आनुदात्तत्व की व्यवस्था विकल्प से की जाती है"।

उदात्त-निवृत्ति-स्वर की संगति वार्तिककार की दृष्टि में यों प्रतीत होती है—√इन्ध् धातु में 'श्नम्' विकरण से अनुबन्ध-लोप के पश्चात् 'इ' और 'न्ध्' के मध्य में 'न' का श्रवण होगा, और √इनन्ध् ऐसा धातु का स्वरूप होगा। 'श्नान्नलोपः' (पा. ६,४,२३) सूत्र से 'श्नम्' के 'न' से परवर्ती धात्ववयव 'न्' का लोप होकर √इनध् ऐसा धातु का स्वरूप शेष रहेगा। फिर पर में ल-सार्वधातुक-निघात से 'शानच्' प्रत्यय अनुदात्त विद्यमान है। और 'शानच्' प्रत्यय अ-पित् (प् की इत्संज्ञा वाला नहीं) होने से ङित् भी माना जाता है[2]। अतः प्रत्यय को ङित् सार्वधातुक मानकर 'श्नसोरल्लोपः' (पा. ६,४,१११) सूत्र से 'श्नम्' के 'अ' का लोप हो गया। सति-शिष्ट-स्वर के कारण 'श्नम्' विकरण उदात्त था। ङित् सार्वधातुक 'शानच्' प्रत्यय को जो कि अनुदात्त भी है निमित्त मान कर √इनध् के मध्य में वर्तमान धात्ववयव 'श्नम्' के 'न' के उदात्त 'अ' का लोप हुआ है, इसलिए उदात्त-निवृत्ति-स्वर[3] से 'शानच्' के 'आन' के आद्यक्षर 'आ' को उदात्तत्व होगा, (यद्यपि उदात्त-निवृत्ति-स्वर से अन्तोदात्तत्व संभावित है, तथापि उदात्त-निवृत्ति-स्वर अनुदात्त प्रत्यय के आद्यंश को हो या अन्त्य अंश को यह विचार महाभाष्य (६,१,१६१) में आया है)। और शेष अक्षरों के स्वतः अनुदात्त हो जाने से 'इन्धान' शब्द मध्योदात्त होगा।

उक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि वार्तिककार √इन्ध् धातु से

---

१. इन्धानशब्दोऽपि यदा चानशन्तस्तदाऽन्तोदात्तः, यदा शानजन्तस्तदा सार्वधातुकानुदात्तत्वे कृते उदात्तनिवृत्तिस्वरेण मध्योदात्तः। तदेवमिन्धाने सर्वथाऽप्राप्तमानुदात्तत्वं पक्षे विधीयते (काशिका ६,१,२१५)। २. सार्वधातुकमपित् (पा. १,२,४)। ३. अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (पा. ६,१,१६१)।

पर में 'शानच्' प्रत्यय (ल-सार्वधातुक) को अनुदात्त स्वीकार करते हैं, और अनुदात्तत्व के प्रतिषेधक वार्तिक को नहीं मानते।

यथार्थ में काशिकाकार का मत ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि अनुदात्तेत् धातुओं से अदादिगणी ही कुछ परिगणित धातुएं ली जाती हैं। 'इन्धे' में अन्तोदात्तत्व प्रत्यय-स्वर से है। 'इन्धाते' में भी प्रत्यय-स्वर से 'आते' का 'आ' आद्युदात्त होने से मध्योदात्तत्व है।

४. किसी पद से पर में हो, और पाद के आदि में न हो ऐसा आमन्त्रित (संबोधन) सर्वानुदात्त होता है[1] (पृष्ठ ७० भी देखें)।

५. युष्मद्, अस्मद् शब्दों का सामान्य स्वर अन्तोदात्त होता है। ङस् (षष्ठी विभक्ति) और ङे (चतुर्थी विभक्ति) में आद्युदात्तत्व होता है[2] (पृष्ठ १२२ देखें)। परन्तु युष्मद् शब्द के आदेश—त्वा, ते, वाम्, वः और अस्मद् शब्द के आदेश—मा, मे, नौ, नः अनुदात्त होते हैं[3]। जैसे—त्वा (ऋ. २ ४२,१), ते (ऋ. २,४१,१८), वाम् (ऋ.१, २,४), वः (ऋ. १,७,१०)। मा (ऋ. १,२३,२३), मे (ऋ. १,१०,६), नौ (ऋ ७,८८,५), नः (ऋ. २,४१,२०)।

६. द्विरुक्त शब्द का पर-रूप अनुदात्त होता है[4]। द्विरुक्त के पर-रूप की आम्रेडित-संज्ञा है[5]। आम्रेडित-संज्ञक शब्द अनुदात्त होता है। अर्थात् पूर्व-रूप में प्रकृति-स्वर से उदात्त-स्वर रहता है। जैसे—द्विवेऽदिवे (ऋ. १,१,३)। जन्मंनुऽजन्मन् (ऋ. ३,१,२०)। यहां परले रूप में अनुदात्तत्व है और पूर्व-रूप में अन्तोदात्त 'दिवे' का तथा आद्युदात्त 'जन्मन्' का अपना उदात्त स्वर है।

७. अन्वादेश के विषय में 'इदम्' शब्द को तृतीयादि विभक्तियां पर में रहते 'अश्' आदेश होता है, और वह अनुदात्त होता है[6]। किसी कार्य को संपन्न करने के

---

१. आमन्त्रितस्य च (पा. ८,१,१९)। २. युष्मदस्मदोर्ङसि (पा. ६, १,२११), ङयि च (पा. ६,१,२१२)। ३. युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीया-स्थयोर्वांनावौ (पा. ८,१,२०)। बहुवचनस्य वस्नसौ (पा. ८,१,२१)। तेमयावेकवचनस्य (पा ८,१,२२)। त्वामौ द्वितीयायाः (पा. ८,१,२३)। ४. अनुदात्तं च (पा. ८,१,३)। ५. तस्य परमाम्रेडितम् (पा ८,१,२)। ६. इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ (पा. २,४,३२)।

पश्चात् कार्यान्तर के लिए आदेश को अन्वादेश कहते हैं[1]। जैसे—एुषाम् (ऋ. १,२४,७), अुस्मै (ऋ. १,३२,२), अुस्य (ऋ. १,६,१) सर्वत्र अन्वादेश के कारण ही इदम् शब्द को 'अश्' आदेश होने से 'अ' प्रकृति अनुदात्त है। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा. ३,१,४) सूत्र से विभक्ति अनुदात्त है। इस प्रकार सर्वानुदात्त शब्द हैं।

जहां अन्वादेश नहीं होता, वहां इदम् शब्द से पर में 'शस्' आदि विभक्तियों को 'ऊडिदंपदादि°' (पा. ६,१,१७१) सूत्र से विभक्ति-स्वर होता है।

८. अन्वादेश के विषय में संपूर्ण द्वितीया विभक्ति, और 'टा' (तृतीया विभक्ति का एकवचन) तथा 'ओस्' (षष्ठी विभक्ति का द्विवचन) पर में रहते 'इदम' और 'एतद्' शब्दों को अनुदात्त 'एन' आदेश होता है[2]। जैसे—एुनम् (ऋ. १,६,२), एुनोः (ऋ. १,१२६,१)।

९. चादि (च, वा, ह, घ, ईम्, इव, चित्, सीम्, स्म, स्वित्, उ, दुर्, इद्) और त्वत्, त्व, सम, सिम अनुदात्त होते हैं[3]। जैसे—च (ऋ. २,४१,१९), वा (ऋ. १,६,६), ह (ऋ. १,२७,१२), घ (ऋ. १,५,३), ईम् (ऋ. १,४,७), चित् (ऋ. २,४२,१), सीम् (ऋ. ३,१,६), स्म (ऋ. १,१२,५), स्वित् (ऋ. १,१५०,१), उ (ऋ. १,२४,८), दुर् (ऋ. २,४१,६)। त्वत् (ऋ. ७,१०१,३), त्व (ऋ. १,१४७,२), समम् (ऋ. १,१७६,४), समे (ऋ. ८,३६,१)।

'सिम' शब्द का फिट्-सूत्र में अनुदात्तों में परिगणन है, परन्तु वेद में अन्तोदात्त शब्द भी मिलता है। इसलिए सूत्रान्तर से अन्तोदात्तत्व का भी विधान[4] है। जैसे—सिमस्मै (ऋ. १,११५,४)।

---

१. किंचित् कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम् अन्वादेशः। २. द्वितीयाटौस्स्वेनः (पा. २,४,३४)। ३. चादयोऽनुदात्ताः (फिट्सूत्र ४,१६)। त्वत्वसमसिमेत्यनुच्चानि (फिट्सूत्र ४,१०)।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८   ९ १० ११ १२
चाहवाहघेवेत्यस्मिन्नादौ चित्सीमस्ते च हैवेदुदितौ चिदुर्घचेः।

समौ च सर्वानुदात्ता दृश्यास्तथाऽपरे ॥ (वेदभाष्यभूमिका ऋ. ३,७,१)।

४. सिमस्याथर्वणेऽन्त उदात्त (फिट्सूत्र ४,११) आथर्वण इति प्रायिकम्। 'तत्र दृश्य' इत्येतत् वा। तेन···ऋग्वेदेऽपि भवत्येव।

महर्षि यास्क ने कुछ निपातों को पाद-पूरणार्थक भी माना है, और आचार्य वेङ्कटमाधव ने उनका अच्छा विश्लेषण किया है[1]।

१०. पाद के अन्त में 'यथा' शब्द भी सर्वानुदात्त होता है[2]। जैसे—यथा (ऋ. २,४३,१)। अन्यत्र आद्युदात्त 'यथा' शब्द ही रहेगा। जैसे—पादादि में—यथा (ऋ. १,३०,१२)। पाद-मध्य में—यथा (ऋ. १,६,६) आदि।

११. अ-तिङन्त (सुबन्त, कृदन्त, निपात, उपसर्ग) शब्द से परवर्ती तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व होता है[3]। जैसे—अग्निमीळे (ऋ. १,१,१) में 'अग्निम्' शब्द के पर में 'ईळे' क्रिया सर्वानुदात्त है। ऐसे ही—'सर्वचारिषम्' (ऋ. १,२३,२३) में 'अचारिषम्' क्रिया 'अनु' उपसर्ग से पर में अनुदात्त है।

१२. गति (उपसर्ग) पर में रहते पूर्व गति (उपसर्ग) को अनुदात्तत्व होता है[4]। जहां क्रिया के पूर्व दो उपसर्ग होंगे, और तिङन्त क्रिया को 'तिङ्ङतिङः' सूत्र के नियम से अनुदात्तत्व हो रहा होगा, वहां इस नियम से पहले उपसर्ग को अनुदात्तत्व होगा और तिङन्त अनुदात्त क्रिया के पूर्ववर्ती उपसर्ग में उदात्तत्व होगा। जैसे—अभ्यारोहति (तै. २,५,५,५)। इस क्रिया में अभि+आ+रोहति यह तीन खण्ड हैं। 'रोहति' क्रिया सर्वानुदात्त है। शेष दो गतियों (उपसर्गों) अभि+आ

---

१. अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः 'कम् ईम् इद् उ' इति (निरुक्त १,९)। अत्र दुर्गाचार्यः—अमिताक्षरेषु गद्यग्रन्थेषु। मिताक्षरेषु पादबद्धेषु।

वाक्यार्थे ह्यप्रवृत्तेषु निपातास्चेदनन्विताः।
स्युष्पादपूरणास्ते स्युरिति यास्कस्य दर्शनम्॥
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३
न घे ङ्किद्ध नु लाभाय यदिद् आत्थ सोम उ कम्।
१४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२
इत नूनमिदेद्व स्म चिद् यथाः स्युरनर्थकाः॥
अन्येषां तु निपातानां पूरणत्वं न दृश्यते।
मानुषः पूरणास्य स्युर्यद्वा वाक्येष्वनन्विताः॥ (वेङ्कटमाधवभूमिका ऋ. ३, ७,१)

२. यथेति पादान्ते (फिट्सूत्र ४,१०)। ३. तिङ्ङतिङः (पा. ८, ११)। ४. [illegible] (पा. ८,१,७०)।

में से पूर्व-गति 'अभि' को इस नियम से अनुदात्तत्व हो गया, शेष 'आ' गति उदात्त है। विशेष विवेचन 'पद-पाठ में गति-निर्देश' इस शीर्षक के नीचे (पृष्ठ ६२) देखें।

(१३. यदि तिङन्त क्रिया उदात्त-स्वर से युक्त पर में हो तो पूर्ववर्ती 'उपसर्ग' को अनुदात्तत्व होगा'। इसका पूरा विवरण 'पद-पाठ में गति-निर्देश' शीर्षक के नीचे (पृष्ठ ६३-६४) देखें। यह स्मरण रहे कि यदि किसी उदात्त-स्वर वाली क्रिया के पूर्व दो गति अनुदात्त होंगे। तो क्रिया के अनन्तर-पूर्ववर्ती उपसर्ग को तो इसी नियम से अनुदात्त होगा, और पहले गति (उपसर्ग) को अनुदात्तत्व 'गतिर्गतौ' (पा. ८,१,७०) सूत्र के नियम से होगा।)

२. अनुदात्त-स्वर के अपवाद

१. लुट् लकार की क्रिया को अ-तिङन्त से पर में अनुदात्तत्व नहीं होता[२]। अर्थात् योग्यता के अनुसार क्रिया का स्वर स्थिर रहता है। जैसे—अथ श्वोभविता (शत. ४,३,१,११)। शतपथ-ब्राह्मण में उदात्त का चिह्न नीचे पड़ी रेखा है। यहां लुट् की क्रिया 'भविता' को अ-तिङन्त 'श्वः' से पर में अनुदात्तत्व न होकर 'तासि' का अपना स्वर विद्यमान है।

२. यद्, यदि, हन्त, कुविद्, नेद्, चेद्, चण्, कच्चिद्, यत्र इन निपातों के योग में भी तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता[३]। जैसे—यद्—यदग्ने स्यामहं त्वम् (ऋ. ८,४४,२३) में 'यत्' के योग में 'स्याम्' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं है। यदनृतं वदति (शत. १,१,१,१) में 'यत्' के योग में 'वदति' को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। यदि—यजाम देवान्यदि शक्नवाम (ऋ. १,२०,१३)। 'यदि' के योग के कारण 'शक्नवाम' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही यदि नाश्नाति पितृदेवत्यो भवति (शत. १,१,१,८) में 'अश्नाति' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। हन्त—हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै (शत. १,२,५,२) में 'हन्त' के योग में 'विभजामहै' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं है। बल्कि 'भजामहै' यह उदात्तवान् क्रिया-शब्द पर में रहते अनन्तर-पूर्ववर्ती 'वि' गति

---

१. तिङि चोदात्तवति (पा. ८,१,७१)। २. न लुट् (पा. ८,१,२९)।
३. निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम् (पा. ८,१,३०)।

(उपसर्ग) अनुदात्त हो गया है[1]। कुविद्— कुविन्मे प्रश्नमधीत (शता. १,६,२,६) यहां 'कुविद्' के योग में 'अध्यीत' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही 'कुविन्मा गोपां करसे जनस्य' (ऋ. ३,४३,५) में 'करसे' क्रिया में 'कुविद्' के कारण ही अनुदात्तत्व नहीं। नेद्—'नेद् ऋतून् अपवृणजै' (शत. ४,३,१,८) यहां 'नेद्' के योग में 'अपवृणजै' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। चेद्—'इदम् चेदस्मान् यज्ञे युङ्क्थाः' (शत. १,२,३,१५) में 'युङ्क्थाः' क्रिया में 'चेद्' के योग के कारण अनुदात्तत्व नहीं हुआ। कच्चिद्—अचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः (ऋ. ४,१२,४) में 'कच्चिद्' के योग में 'चकृमा' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। यत्र—पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ. १,८९,६) में 'यत्र' शब्द के योग में 'भवन्ति' क्रिया में अनुदात्तत्व नहीं।

३. अ-प्रातिलोम्य अर्थ में 'अङ्ग' शब्द के योग में क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता[2]। जैसे—यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि (ऋ. १, १,६) यहां 'अङ्ग' के योग के कारण 'करिष्यसि' क्रिया में अनुदात्तत्व नहीं है।

४. 'हि' के योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता[3]। जैसे—आ हि ष्मा याति नर्यः (ऋ ५,२६,२)। आ हि रुहतमश्विना (ऋ. ८,२२,६) में 'याति' और 'रुहतम्' दोनों क्रियाओं में 'हि' के योग के कारण अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही 'त्वे हार्ने' (ऋ.२,६,४) है।

५ 'यावत्' और 'यथा' शब्द के योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता[4]। जैसे—यावद्दिदं भुवनं विश्वमस्ति (ऋ. १, १०८,२), यावदीदं महद्‌गण्वयन्तमानः (ऋ. ३,१८,३) दोनों स्थलों में 'यावत्' के योग के कारण 'अस्ति' और 'ईशे' क्रियाओं को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। ऐसे ही 'यथा चित्कण्वमावतम' (ऋ. ८.५,२५) में 'आवतम्' क्रिया में 'यथा' के योग के कारण ही अनुदात्तत्व नहीं हुआ।

६. तु, पश्य, पश्यत, अह इनके योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता, पूजा अर्थ गम्यमान हो तो[5]। जैसे—पश्य—

---

१. तिङि चोदात्तवति (पा. ८,१,७१)। २. अङ्गाप्रातिलोम्ये (पा. ८, १,३३)। ३. हि च (पा. ८,१,३४)। ४. यावद्यथाभ्याम् (पा. ८,१,३६)। ५. तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम् (पा. ८,१,३९)।

द्वेवस्य॑ पश्य॒ काव्यं॑ महि॒त्वाद्या म॒मार॒ स ह्यः समा॑न (ऋ. १०,५५,५)। यहां 'पश्य' के योग में 'म॒मार' क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं हुआ। पश्यत— इ॒मां स॒मेत॒ पश्य॑त (ऋ. १०,८५,३३)। यहां 'पश्यत' के योग में 'स॒मेत' (<सम्-आ √इ) क्रिया में अनुदात्तत्व का निषेध है। अह—अ॒वसभा अ॒ह दे॒वानां॒ पत्नीः॑ क॒रोति (शब्रा. १,३,१,२१) में 'अह' के योग में 'करोति' क्रिया में अनुदात्तत्व का निषेध है। ऐसे ही 'आदह॑ स्व॒धामनु॒ पुन॑र्गर्भ॒त्वमे॑रि॒रे' (ऋ. १,६,४) भी है।

७. अविद्यमान-पूर्व (जिसके पूर्व में कोई शब्द विद्यमान न हो अर्थात् आदि में स्थित) 'जातु' शब्द के योग में तिङन्त क्रिया अनुदात्त नहीं होती[1]। वैदिक उदाहरण तो अनुसंधेय है। परन्तु वेद में विद्यमान-पूर्व (जहां पूर्व में कोई शब्द विद्यमान है) 'जातु' शब्द के योग में भी तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता, ऐसा वैदिक उदाहरण मिलता है। जैसे—न स जातु जनः श्रद्दध्यात् (तैब्रा. १,११,५) यहां 'जातु' शब्द मध्य में स्थित है, तो भी उसके योग में 'श्रद्दध्यात' क्रिया में अनुदात्तत्व नहीं हुआ।

८. यद्, हि, तु पर में होने पर तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता[2]। जैसे—उ॒दसृ॑जो॒ यदङ्गि॑रः (ऋ. २,२३,१८), उ॒शन्ति॒ हि (ऋ. १,२,४)। यद्यपि यद्-वृत्त के कारण 'यद्' के योग में, और 'हि' के योग में तिङन्त क्रिया का अनुदात्तत्व सिद्ध है। किन्तु यहां योगमात्र अभीष्ट नहीं, परवर्ती होना इष्ट है।

९. यद्-वृत्त('यद्' शब्द के रूप)से पर में तिङन्त क्रिया को सर्वथा अनुदात्तत्व नहीं होता[3]। जैसे—यस्मि॒न्नधि॑ सं॒द॒धुः (ऋ.३,३,३) आदि।

१०. समानार्थक 'एक' और 'अन्य' शब्द के योग में तिङन्त क्रिया को अनुदात्तत्व नहीं होता[4]। जैसे—प्र॒जामे॑का॒ जिन्व॑ति (मै. २,१३,१०), तयो॑र॒न्यः पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्ति॑ (ऋ. १,१६४,२०), सम॒न्या यन्त्युप॑ यन्त्य॒न्याः (ऋ.२,३५,३) आदि।

३. सन्नतर (अनुदात्ततर) की विशेषता

पहले कह आये हैं कि अनुदात्त-स्वर की पहिचान सामान्य-रूप में

---

१. जात्वपूर्वम् (पा. ८,१,४७)। २. यद्धितुपरं छन्दसि (पा. ८,१,५६)। ३. यद्वृत्तान्नित्यम् (पा. ८,१,६६)। ४. एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् (पा. ८,१,६८)।

अक्षर के नीचे पड़ी (–) रेखा से होती है। जिसका यथार्थ ज्ञान सर्वानुदात्त तिङन्त क्रियाओं विन्दन्ति (ऋ. १,१०७,१), विपते (ऋ. १०, ११,२) आदि में, वा सर्वानुदात्त आमन्त्रित (संबोधन) शब्दों जातव्या (ऋ. १,३४,७), कुशिकाः (ऋ. ३,५३,१०) आदि में हो सकता है। परन्तु सन्नतर का ज्ञान संहिता-पाठ में मन्त्र के आरम्भ में तीन या चार पांच अक्षरों वाले अन्तोदात्त शब्द में ठीक-ठीक हो सकता है। जैसे—अनुक्रामम् (ऋ. १,१७,३) शब्द अन्तोदात्त है। शेष तीन अक्षर 'अनुक्रा' अनुदात्त हैं, और उनके नीचे अनुदात्त का चिह्न (–) नीचे पड़ी रेखा भी लगी हुई है। परन्तु हमें यहां अनुदात्त और सन्नतर में विवेक करना होगा। जो अन्त्य 'मम्' इस उदात्त का पूर्ववर्ती अनुदात्त अक्षर 'क्रा' है, वह सन्नतर कहलायेगा, शेष दो 'अनु' अनुदात्त ही कहलायेंगे, सन्नतर नहीं। क्योंकि उदात्त या स्वरित से अव्यवहित-पूर्ववर्ती अनुदात्त की ही सन्नतर (अनुदात्ततर) संज्ञा है[1]। ऐसे ही अरालीयुतः (ऋ. १,११,१) आतुदुमम् (ऋ. १०,११४,६) आदि अन्तोदात्त शब्दों में उपान्त्य (अन्त्य वर्ण से अव्यवधान-पूर्व में स्थित) अक्षर 'यु' और 'दु' सन्नतर हैं, शेष अक्षर अनुदात्त हैं। संहिता-पाठ के मध्यवर्ती ऐसे शब्दों में अनुदात्त और सन्नतर का भेद कठिन है। क्योंकि प्रायः संहिता-पाठ में सन्नतर से पूर्व एकश्रुति का अवकाश रहता है। इसलिए अनुदात्त और सन्नतर का विवेक पद-पाठ में सरलता से होता है।

सामान्य अनुदात्त से सन्नतर को विशेषता इसी लिए दी गई है कि यह उदात्त या स्वरित अक्षरों के स्पष्ट उच्चारण में विशेष सहायक है। जैसे ऊँचे उठने के लिए असाधारण तौर पर निचले अङ्ग पर विशेष बल देना पड़ता है, वैसे ही उदात्त या स्वरित अक्षर के स्पष्ट उच्चारण के लिए पूर्ववर्ती अनुदात्त पर विशेष बल पड़ता है। इससे यह अनुदात्त न होकर अनुदात्ततर हो जाता है। इसी को सन्नतर कहा जाता है।

---

1. उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (पा. १,२,४०)।

दशम अध्याय

स्वरित-प्रकरण

[१. स्वरित-स्वर, २. नित्य-स्वरित, ३. संधि-स्वरित, ४. संहिता-स्वरित, ५. पदपाठीय-स्वरित, ६. विभिन्नशास्त्रीय-स्वरितचिह्न ।]

१. स्वरित-स्वर

स्वरित अक्षर में उदात्त और अनुदात्त का समाहार होता है[1]। पूर्व उदात्त अक्षर के साथ उत्तरवर्ती अनुदात्त की संश्लिष्ट ध्वनि ही स्वरित-स्वर की प्रवृत्ति में हेतु है। इस संश्लेष का विवेक संहिता-स्वरित और सन्धि-स्वरित में तो स्पष्ट ज्ञात होता है। किन्तु जात्य-स्वरित में ग्रोयँम् (ऋ. २,१२,११) आदि में यह संश्लिष्ट स्थिति तिरोहित है। पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् जात्य-स्वरित को पृथक् स्वरित-स्वर नहीं मानते। वह 'ग्रोयँम्' शब्द में भी 'ग्रोरि+अम्' इन दो शब्दों का संश्लिष्ट सन्धि-स्वरित ही मानते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने प्रातिशाख्यों में स्वरित के सात भेद माने हैं। १. जात्य (नित्य-स्वरित), २. क्षैप्र, ३. प्रातिहत, ४. अभिनिहत, ५. प्रश्लिष्ट, ६. पाद-वृत्त, ७. तैरोव्यञ्जन। यह सातों स्वरित संहिता-पाठ से सम्बन्ध रखते हैं।

शुक्ल-यजुर्वेद प्रातिशाख्य में तैरोविराम तथा ताथाभाव्य इन दो स्वरितों का उल्लेख अधिक है। यह दोनों स्वरित पद-पाठ से सम्बन्ध रखते हैं।

विषय के स्पष्टीकरण की दृष्टि से हम इन ६ स्वरितों को चार विभिन्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। १. नित्य-स्वरित, २. सन्धि-स्वरित, ३. संहिता-स्वरित, ४. पदपाठीय-स्वरित।

२. नित्य-स्वरित

उदात्त और अनुदात्त के संश्लेष की स्पष्ट अभिव्यक्ति के बिना ही 'य्' और 'व्' के योग से नित्य-स्वरित की प्रतीति होती है। इसी को

---

१. समाहारः स्वरितः (पा. १,२,३१)।

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में जात्य (=जन्म-सिद्ध) स्वरित कहा है[1]। तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य में इस को यों समझाया गया है—

"या तो कोई अक्षर पूर्व में न हो, या पूर्व में हो तो अनुदात्त अक्षर हो ऐसे 'य्' या 'व्' से संयुक्त अक्षर एक पद में नित्य-स्वरित होता है"[2]। जैसे—क्वे॑ोऽर्थाः (ऋ. ५,६१,२) और स्व॑र्णं (ऋ. ७, ३२,११) दोनों स्थलों में 'क्व' और 'स्वर्' से पूर्व कोई अक्षर नहीं है, और अक्षर में स्पष्ट 'व्' का योग भी है। यह नित्य-स्वरित है। इसी प्रकार वी॒र्यं॑ तत् (ऋ. ३,३३,७) में 'र्यं' इस अक्षर में 'य्' की श्रुति है। और इसके पूर्व अनुदात्त अक्षर 'वी' विद्यमान है। पाणिनीय व्याकरण में 'वीर्यम्' शब्द में स्वरितत्व की सिद्धि के लिए 'तित्स्वरितम्' (पा. ६,१,१८५) सूत्र है। जिसका अर्थ है—जो अक्षर तित् (त् की इत्संज्ञा वाले) से बना हो, वह स्वरित होता है। 'क्व' शब्द में तित् है। 'कस्मिन्' इस सप्तम्यन्त से 'अत्' प्रत्यय होगा तो 'कुत्र' और 'अत्' (तित्) प्रत्यय[3] होगा तो 'किम्' के स्थान में 'क' आदेश होकर 'क्व' शब्द बना है। 'स्वर्' शब्द यद्यपि अव्यय है, तथापि तैत्तिरीय-संप्रदाय में 'स्वर्' के स्थान में 'सुवर्' पाठ-भेद से[4] (जहां 'स्वर्' आदेश से शब्द में परिवर्तन आया है) यह प्रतीत होता है कि 'सु+अर्' से ही 'स्वर्' यह 'व्' के योग से युक्त शब्द निष्पन्न है। 'वीर्यम्' शब्द 'वीरस्य कर्म' इस अर्थ में 'वीर' शब्द से यत्-प्रत्यय करके बना है। यत् प्रत्यय तित् है। फिट्-सूत्रों में न्यङ्, स्वर् दोनों शब्दों को[5] तथा तिल्य, शिक्य, काश्मर्य, धान्य, कन्या, राजन्य और मनुष्य[6] शब्दों के अन्त में, एवम् बिल्व, भक्ष्य, वीर्य[8] इन तीनों के अन्त में स्वरित माना गया है। यह पाणिनीय-प्रक्रिया का ही प्रपञ्च है। ऋग्वेद के महान् भाष्यकार आचार्य वेङ्कटमाधव ने भी अपनी भूमिका में (ऋ. ३,७,१) 'स्वःक्वौ तु स्वरितौ विद्यात् मनुष्याय तथाऽपरे'

---

1. वङ्कटमाधवम्—स्वरूपं॑यो॑नोदात्तानुदात्तसंगति विना जातो जात्यः (ऋमा. ३,८)। २. सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते न्यते परेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव जानीयात् (तैप्रा. २०,२)। ३. किमोऽत् (पा. ५,३,१२)। ४. क्वाति (पा. ७,२,१०५)। ५. सुवर्॑ (तै. २,२,१२,१) का पाठभेद स्व॑र्धं (ऋ. २,२,७) है। ६. न्यङ्स्वरौ स्वरितौ (फिट्सूत्र ४,१)।
७. तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः (फिट्सूत्र ४,८)।
८. बिल्वभक्ष्यवीर्याणि छन्दसि (फिट्सूत्र ४,६)।

को स्वरितत्व विकल्प से होता है'[1] इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार दोनों निर्दिष्ट स्थलों में परवर्ती 'अग्नि' शब्द अन्तोदात्त है और 'अह्न' शब्द स्वरितान्त है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८) सूत्र के अनुसार शेष पहले दोनों 'अ' अनुदात्त हैं। अनुदात्त 'अ' के साथ पूर्ववर्ती 'अध्वरे' के 'रे' तथा 'यद्' शब्द के 'यो' दोनों उदात्तों का एकादेश स्वरित है। जिसकी प्रतिपत्ति कम्प स्वर के चिह्न से स्पष्ट है। ऐसे ही रायो३ऽवनिः (ऋ १,४,१० पपा रायः। अवनिः) में भी समझें।

४. संहिता-स्वरित

इस स्वरित को प्रातिशाख्यों में प्रातिहत स्वरित कहा गया है[2]। उदात्त अक्षर से पर में अनुदात्त को संहिता में स्वरित होता है[3]। अग्निम्। ईळे। यह दो भिन्न पद हैं। संहिता-पाठ में 'ग्निम्' इस उदात्त से परवर्ती 'ई' अनुदात्त को स्वरितत्व होकर संहिता-पाठ में अग्निमीळे (ऋ १,१,१) यह स्वरित-विशिष्ट पाठ बन गया है (देखें पृष्ठ ११-१२ तथा ७६-८०)। यह नित्य-स्वरित तथा सन्धि-स्वरित दोनों से विलक्षण निर्विकार स्वरित है।

यदि अ-व्यवहित पर में उदात्त या स्वरित अक्षर विद्यमान हो तो पूर्ववर्ती अनुदात्त को स्वरितत्व नहीं होता[4]। जैसे—प्र व आरुः (ऋ ३,७,१) इस स्थल में लिट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'आरुः' अन्तोदात्त है, और उसका पूर्ववर्ती 'आ' अनुदात्त 'व' उदात्त से पर में होकर भी स्वरित नहीं है। कन्योऽइव काश्मीर्शव (ऋ. ४, ६१,२) में 'व' स्वरित पर में रहते पूर्व अनुदात्त 'आ' को स्वरितत्व नहीं है। बल्कि दोनों स्थलों में सन्नतर है।

इसी संहिता-स्वरित के दो भेद हैं—१. पाद-वृत्त[5], २ तैरोव्यञ्जन[6]।

---

१. स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (पा ८,२,६) २. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तम् अथ चत् साहितेन विधिना स्वर्यते स प्रातिहतः (तैप्रा. २०,३)। ३. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (पा. ८,४,६६)। ४. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् (पा. ८,४,६७)। ५. पदविवृत्त्यां पादवृत्त (तैप्रा २०,६) स्वरयोरसन्धिर्विवृत्ति। ६ उदात्तपूर्वस्तैर व्यञ्जन (तैप्रा. २०,७)। एकपदस्योदात्तपूर्वं व्यञ्जनव्यवहितं स्वरितं इत्यर्थः। उदात्तपूर्वो नियतं विवृत्या व्यञ्जनेन वा स्वर्यतेऽन्तर्हितम् (ऋप्रा. ३,१७)।

१. पादवृत्त-स्वरित—दो पदों की विवृत्ति (अ-सन्धि) में यह स्वरित होता है। जैसे—स ईधान. (ऋ. १,७१,५)। यहां परवर्ती 'ई' के कारण 'स' शब्द के 'सु' का लोप है। इस लिये गुण-संधि होगी नहीं। परवर्ती 'इधान' शब्द √ञिइन्धी 'दीप्तौ' से 'चानश्' प्रत्यय या 'शानच्' प्रत्यय करके चित्-स्वर से अन्तोदात्त शब्द है। शेष अक्षर अनुदात्त होने से संहिता-पाठ में उदात्त 'स.' से परवर्ती 'इ' को यह स्वरित हुआ है। ता अंस्य सूदोहस (ऋ. ८,६९,३) और ता अस्मार मृगा (तै ७,१,२,१) इन दोनों स्थलों में भी दीर्घ-सन्धि न होकर पादवृत्त-स्वरित हो रहा है। दो स्वरों की अ-सन्धि में स्वरित होना ही पादवृत्त-स्वरित है। प्रउंगम् (ऋ १०,१२०,३)। यहां एक ही पद में 'प्र' और 'उ' की अ-सन्धि में पाद-वृत्त-स्वरित है।

२ तैरोव्यञ्जन-स्वरित—जहाँ पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त के मध्य में किसी व्यञ्जन वर्ण का व्यवधान हो, उस स्थिति में निष्पन्न स्वरित को तैरोव्यञ्जन कहेंगे। तैरोव्यञ्जन यह तद्धित शब्द है, जो कि तिरो-व्यञ्जन[1] (व्यञ्जन से व्यवहित) शब्द से निष्पन्न है। यह स्वरित दो भिन्न पदों में भी और एक पद के मध्य में भी होता है। दो पदों का उदाहरण—अग्निमीळे (ऋ. १, १,१) है। यहाँ 'नि' उदात्त और 'ई' अनुदात्त के मध्य में एक व्यञ्जन वर्ण 'म' वर्तमान है। एक पद का उदाहरण—विश्वे देवास (ऋ १,३,७) है। यहा एक ही 'विश्वे' शब्द में 'वि' उदात्त और 'श्वे' अनुदात्त के मध्य में 'श्' और 'व्' दो व्यञ्जन हैं।

५. पदपाठीय-स्वरित

शुक्ल-यजुर्वेद में दो अन्य स्वरितों का भी निरूपण है। जिनका सम्बन्ध पद पाठ से है। १. वैरोविरोम-स्वरित २. तथाभाव्य-स्वरित।]

[१. वैरोविराम-स्वरित—समस्त-पद के पद-पाठ में जहां अवग्रह से पूर्ववर्ती अक्षर उदात्त है, और अवग्रह से उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर स्वरित हुआ विद्यमान है, तो ऐसे अवग्रह के व्यवधान से युक्त स्वरित

1 [illegible] व्यञ्जनं स्वरं इति उच्यते (ऋप्रा ३,१८)।

इन शब्दों में 'स्वः' और 'कः' का ऋग्वेद में विशेष उल्लेख किया है। तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के अनुसार इस स्वरित के साथ अनुदात्त की संधि में भी स्वरित ही रहेगा[1]। जैसे—कन्यैव (ऋ. १,१२३,१० पपा. कुन्या। इव)।

३. सन्धि-स्वरित

यद्यपि संधि-स्वरित का प्रतिपादन विस्तार से अन्य प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, तथापि सौकर्य और सरल प्रतिपादन-शैली के विचार से तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के प्राञ्जल स्वरित-लक्षणों का ही यहां निर्देश किया जायेगा।

तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य में प्रतिपादित १. क्षैप्र, २. प्रश्लिष्ट, ३. अभिनिहित यह तीन स्वरित केवल सन्धि की विलक्षणता से पृथक्-पृथक् हैं। हम ने तीनों को सन्धि-स्वरित के एक ही सूत्र में पिरो दिया है।

१. क्षैप्र—यण्-सन्धि से निष्पन्न स्वरित को क्षैप्र-स्वरित माना गया है[2]। इसमें पूर्व अक्षर 'इ' या 'उ' उदात्त या स्वरित होना चाहिए और परवर्ती अक्षर अनुदात्त, दोनों में यण् सन्धि से स्वरित-स्वर निष्पन्न होगा[3]। जैसे—अभ्युद्भम (ऋ. ३,४६,४) का पद-पाठ अभि। उद्भम है। परवर्ती अनुदात्त 'उ' अक्षर के साथ 'भि' उदात्त की यण्-सन्धि से 'भ्यु' यह क्षैप्र-स्वरित होगा। ऐसे ही—अप्स्वन्तः (ऋ. २,३५,७) का पद-पाठ अप्ऽसु। अन्तः है। यहां भी 'सु' उदात्त की यण्-सन्धि से 'स्व' यह क्षैप्र-स्वरित बनेगा। दोनों स्वरितों में अनुदात्त से परवर्ती उदात्त अक्षर होने के कारण संहिता-पाठ में कम्प के साथ स्वरित का निर्देश है (देखें पृ. २२-२३)। जहां सर्वानुदात्त पद के आद्यवयव के साथ पूर्व उदात्त की क्षैप्र-संधि है, वहां स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा होगा, कम्प-स्वर नहीं। जैसे—व्युच्छ (ऋ. ५,७९,९ पपा. वि। उच्छ)। यद्यपि स्वरित अक्षर के यण्-संधि का उदाहरण काशिका और सिद्धान्त-कौमुदी में 'खल्वाशा' प्रस्तुत किया गया है, परन्तु यह वैदिक-साहित्य में अनुपलब्ध है।

---

१. स्वरितानुदात्तसंनिपाते स्वरितम् (तैप्रा. १०,१२)। २. इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः (तैप्रा. २०,१)। ३. उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (पा. ८,२,४)।

२. प्रश्लिष्ट—इ+इ और उ+उ में दीर्घ-सन्धि से पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त अक्षरों के एकादेश को प्रश्लिष्ट-स्वरित कहा गया है[1]। जैसे—अभीऽमम् (ऋ ३,४,५) का पद-पाठ अभि। इमम् है। 'अभि' उपसर्ग अन्तोदात्त है। 'इमम्' शब्द भी अन्तोदात्त है, और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा ६,१,१५८) के नियम से 'इ' अनुदात्त है। अभि+इमम् इस स्थिति में पूर्व उदात्त 'भि' के साथ परले अनुदात्त 'इ' का दीर्घ एकादेश 'भी' स्वरित है। और परवर्ती उदात्त अक्षर 'मम्' के कारण संहिता-पाठ में दीर्घ कम्प ३ का चिह्न लगा है। मधूदकम् (ऋ. ६,६०,२२) में मधु+उदकम् इस स्थिति में 'धु' उदात्त के साथ अनुदात्त 'उ' का दीर्घ एकादेश 'धू' अक्षर स्वरित है। यहां स्वरित का परवर्ती 'द' अक्षर अनुदात्त है उदात्त नहीं, इससे कम्प-स्वर की प्रवृत्ति नहीं हुई। ऐसे ही मासूत्तिष्ठन् (तै ७,५,१,२) में पूर्व-पद 'मासु' शब्द 'मास्' शब्द के सप्तमी-बहुवचन में विभक्ति-स्वर से अन्तोदात्त है[२]। 'उत्तिष्ठन्' शब्द 'उद्' उपसर्ग के योग से √स्था धातु का शतृ-प्रत्ययान्त रूप है। जो कृदुत्तरपद-प्रकृति-स्वर[३] से मध्योदात्त है। 'सु+उ' के दीर्घ-एकादेश से सू' स्वरित बना है। तैत्तिरीय-संहिता में कम्प स्वर के चिह्न लगाने की रीति नहीं है इसलिए उदात्त पर में होने पर भी कम्प-स्वर का निर्देश नहीं।

३ अभिनिहत—उदात्त 'ए' या 'ओ' के साथ परवर्ती अनुदात्त अकार की पूर्वरूप-सन्धि से निष्पन्न स्वरित को अभिनिहत स्वरित कहा गया है[४]। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य आदि में इसे अभिनिहित कहा है[५]। जैसे—अग्नेऽऽभि (ऋ ३,२०,४) में 'ने' के उदात्त 'ए' के साथ अनुदात्त 'अ' की पूर्वरूप-संधि है। योऽस्य (ऋ. १०,१४४,४) में 'यो' के साथ 'अ' की पूर्वरूप-संधि है। 'दो पदों (शब्दों) में परवर्ती पद का पदादि अक्षर यदि अनुदात्त हो तो पूर्ववर्ती पद के अन्तिम उदात्त अक्षर के साथ एकादेश

१ उभयोः प्रश्लिष्टः (तैप्रा. २०,५)।
इकारौ यत्र दृश्येते इकारेणैव संयुतौ।
उदात्तश्चानुदात्तेन प्रश्लिष्टो भवति स्वरः॥ (व्यासशिक्षा ८१)।
२. ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (पा ६,१,१७१)। ३. गतिकारकोपपदात् कृत् (पा. ६,२,१३९)। ४. एकारौकाराभ्यामभिनिहतः (तैप्रा. २०,४)।
५. एङ्पूर्वोऽकारस्त्वभिनिहितो न तत्र।
अभिनिहितं च ... (ऋप्रा ३.१८)।

को स्वरितत्व विकल्प से होता है'[1] इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार दोनों निर्दिष्ट स्थलों में परवर्ती 'अ॒ग्निः' शब्द अन्तोदात्त है और 'अ॒ह्वः' शब्द स्वरितान्त है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८) सूत्र के अनुसार शेष पहले दोनों 'अ' अनुदात्त हैं। अनुदात्त 'अ' के साथ पूर्ववर्ती 'अ॒ध्व॒रे' के 'रे' तथा 'यद्' शब्द के 'यो' दोनों उदात्तों का एकादेश स्वरित है। जिसकी प्रतिपत्ति कम्प-स्वर के चिह्न से स्पष्ट है। ऐसे ही रा॒यो॒३॒॑व॒निः (ऋ. १,४,१० पपा. रा॒यः। अ॒व॒निः) में भी समझें।

४. संहिता-स्वरित

इस स्वरित को प्रातिशाख्यों में प्रातिहत-स्वरित कहा गया है[2]। उदात्त अक्षर से पर में अनुदात्त को संहिता में स्वरित होता है[3]। अ॒ग्निम्। ई॒ळे। यह दो भिन्न पद हैं। संहिता-पाठ में 'ग्निम्' इस उदात्त से परवर्ती 'ई' अनुदात्त को स्वरितत्व होकर संहिता-पाठ में अ॒ग्निमी॑ळे (ऋ. १,१,१) यह स्वरित-विशिष्ट पाठ बन गया है (देखें पृष्ठ ११-१२ तथा ७६-८०)। यह नित्य-स्वरित तथा सन्धि-स्वरित दोनों से विलक्षण निर्विकार स्वरित है।

यदि अ-व्यवहित पर में उदात्त या स्वरित अक्षर विद्यमान हो तो पूर्ववर्ती अनुदात्त को स्वरितत्व नहीं होता[4]। जैसे—प्र व आ॒रः (ऋ. ३,७,१) इस स्थल में लिट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'आ॒रः' अन्तोदात्त है, और उसका पूर्ववर्ती 'आ' अनुदात्त 'वः' उदात्त से पर में होकर भी स्वरित नहीं है। क॒ण्वो॑ऽश्वा॒ः ग्रा॒व॑भी॒र्ग्न॑ः (ऋ. ५, ६१,२) में 'व' स्वरित पर में रहते पूर्व अनुदात्त 'श्वाः' को स्वरितत्व नहीं है। बल्कि दोनों स्थलों में सन्नतर है।

इसी संहिता-स्वरित के दो भेद हैं—१. पाद-वृत्त[5], २. तैरो-व्यञ्जन[6]।

---

१. स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (पा. ८,२,६) २. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत् संहितेन विधिना स्वर्यते स प्रातिहतः (तैप्रा. २०,३)। ३. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (पा. ८,४,६६)। ४. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् (पा. ८,४,६७)। ५. पदविवृत्त्यां पादवृत्तः (तैप्रा. २०,६) स्वरयोरन्तर्विवृत्तिः। ६. उदात्तपूर्वस्तिरोव्यञ्जनः (तैप्रा. २०,७)। एकपदस्थोदात्तपूर्वः व्यञ्जनव्यवहितः स्वरित इत्यर्थः। उदात्तपूर्वो नित्यो विवृत्या व्यञ्जनेन वा स्वर्यतेऽन्तर्हितम् (शुप्रा. ३,१०)।

३. पादवृत्त-स्वरित—दो पदों की विवृत्ति (अ-सन्धि) में यह स्वरित होता है। जैसे—स इधानः (ऋ. १,७९,५)। यहां परवर्ती 'इ' के कारण 'स' शब्द के 'सु' का लोप है। इस लिये गुण-संधि होगी नहीं। परवर्ती 'इधान' शब्द √इन्धी 'दीप्ती' से 'चानश्' प्रत्यय या 'कानच्' प्रत्यय करके चित्-स्वर से अन्तोदात्त शब्द है। शेष अक्षर अनुदात्त होने से संहिता-पाठ में उदात्त 'स' से परवर्ती 'इ' को यह स्वरित हुआ है। या अन्यु सूर्ददोहम (ऋ. ८,६६,३) और ता संमात मूधा (तै ७,१,२,१) इन दोनों स्थलों में भी दीर्घ-सन्धि न होकर पादवृत्त-स्वरित हो रहा है। दो स्वरों की अ-सन्धि में स्वरित होना ही पादवृत्त-स्वरित है। प्रउगम् (ऋ १०,१३०,३)। यहा एक ही पद में 'प्र' और 'उ' की अ-सन्धि में पाद-वृत्त-स्वरित है।

४ तैरोव्यञ्जन-स्वरित—जहाँ पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त के मध्य में किसी व्यञ्जन वर्ण का व्यवधान हो, उस स्थिति में निष्पन्न स्वरित को तैरो-व्यञ्जन कहेंगे। तैरोव्यञ्जन यह तद्धित शब्द है, जो कि तिरो-व्यञ्जन[1] (व्यञ्जन से व्यवहित) शब्द से निष्पन्न है। यह स्वरित दो भिन्न पदों में भी और एक पद के मध्य में भी होता है। दो पदों का उदाहरण—अग्निमीळे (ऋ. १, १,१) है। यहाँ 'नि' उदात्त और 'ई' अनुदात्त के मध्य में एक व्यञ्जन वर्ण 'म्' वर्तमान है। एक पद का उदाहरण—विश्वे देवास (ऋ १,३,७) है। यहां एक ही 'विश्वे' शब्द में 'वि' उदात्त और 'ए' अनुदात्त के मध्य में 'श्' और 'व्' दो व्यञ्जन हैं।

५. पदपाठीय-स्वरित

शुक्ल-यजुर्वेद में दो अन्य स्वरितों का भी निरूपण है। जिनका सम्बन्ध पद पाठ से है। १. तैरोविराम-स्वरित २. ताथाभाव्य-स्वरित।]

[१. तैरोविराम स्वरित—समस्त-पद के पद-पाठ में जहां अवग्रह से पूर्ववर्ती अक्षर उदात्त है, और अवग्रह से उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर स्वरित हुआ विद्यमान है, तो ऐसे अवग्रह के व्यवधान से युक्त स्वरित

1. तिरोभावो ... (सूत्र ३,१८)।

को तैरोविराम कहा जायेगा[1]। तैरोविराम शब्द तद्धित है जोकि तिरोविराम (विराम = अवग्रह से तिरस् = व्यवहित) शब्द से निष्पन्न है। जैसे—गोपतौ (मा. १,१) का पद पाठ गोपताविति॑गो पतौ है। यहां 'गो' शब्द उदात्त है। उसके बाद रिक्त स्थान अवग्रह का सूचक है। इससे आगे 'प' यह स्वरित अक्षर है। इसी स्थिति के स्वरित को तैरोविराम-स्वरित कहेंगे। यही पदपाठीय स्वरित संहिता पाठ में तैरोव्यञ्जन-स्वरित कहलाता है।

७ ताथाभाव्य स्वरित—यदि समस्त पद के पद-पाठ में आदि में भी उदात्त और अन्त में भी उदात्त हो, मध्य में अवग्रह से पूर्व अक्षर अनुदात्त हो, तो ऐसी स्थिति में निष्पन्न स्वरित को ताथाभाव्य स्वरित कहेंगे[2]। ताथाभाव्य शब्द तद्धित है। तथा-भाव (= आदि अन्त में उदात्त की समान स्थिति) शब्द से बना है। जैसे—तनूनप्त्रे (मा ५,५) का पद-पाठ तनूनप्त्र इति तनू नप्त्रे है। यहां 'तनू' का उदात्त 'त' अक्षर आदि में तथा 'नप्त्रे' का उदात्त 'न' अक्षर अन्त में है। दोनों के मध्य में अनुदात्त 'नू' अक्षर अवग्रह से पूर्व विद्यमान है। यह ताथाभाव्य स्वरित कहलायेगा। यथार्थ में यह अनुदात्त प्रतीत होने वाला 'नू' स्वरित था, क्योंकि 'तनू' शब्द में आदि 'त' के उदात्त होने पर शेष अनुदात्त 'नू' को संहिता-स्वरित से स्वरित हो गया, परन्तु आगे नप्त्र शब्द के आदि उदात्त 'न' की प्रतीति कराने के लिये पूर्ववर्ती स्वरित 'नू' को सन्नतर हो जाने से 'नू' अनुदात्त है।

---

१ उदवग्रहस्तैरोविरामः (शुप्रा १।११६)। उदवग्रह = उदात्तावग्रह। अवग्रहात् पूर्वम् उदात्तवान् इति भाव।

अवग्रहात् परो यस्तु स्वरितः स्यादनन्तरः।
तैरोविरामः स ज्ञेयः उदात्तो यदवग्रहः॥
(याशि स्वरप्रकरण ८२)।

२ उदात्तान्तो न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः (शुप्रा १।१२०)। उदात्तादिर् उदात्तान्तो नीचावग्रहस्ताथाभाव्य स्वरित इत्यर्थः।

उदात्तयोर्मध्ये नीचेऽर्वाग्यवग्रहः।
ताथाभाव्यो भवेत्स्वार तनूनप्त्रे निदर्शनम्॥
(याशि स्वरप्रकरण ८५)।

माध्यन्दिनशाखीय औज्जिहायनक आचार्यों के मत में यह स्वरित नहीं इष्ट है[1]। स्वरित में तो उदात्त अनुदात्त मिलकर एक-प्राय हो जाते हैं। यहां अवग्रह से पूर्व उदात्त और अनुदात्त दो भिन्न स्वर दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

६. विभिन्नशाखीय-स्वरितचिह्न

स्वरित-चिह्नों के दिग्दर्शन से पूर्व स्वरित शब्दों की निष्पत्ति पर व्यापक विचार कर लेना चाहिये। जो शब्द कृदन्त या तद्धित प्रक्रिया से यत्-प्रत्ययान्त होते हैं, वहां सर्वत्र 'तित् स्वरितम्' (पा. ६,१, १८५) सूत्र की सामर्थ्य से स्वरितत्व प्राप्त है। परन्तु 'नौ' शब्द के 'नाव्य' शब्द को छोड़कर अन्य द्व्यच् (दो अक्षरों वाले) शब्दों को सर्वत्र 'यतोऽनाव' (पा. ६,१,२१३) सूत्र से आद्युदात्तत्व होता है (पृ.१२१ भी देखें)। यह ध्यान देने योग्य है कि नित्य-स्वरित और संधि-स्वरित में स्वरित अक्षर से पूर्व सन्नतर (अनुदात्त) का चिह्न अनिवार्य है। क्योंकि संधि-नियम से उदात्त ही स्वरित में परिणत होता है अतः उदात्त से पूर्व की सन्नतर (अनुदात्त) की निम्न रेखा स्वरित से पूर्व भासती है और संहिता-स्वरित में इससे विपरीत स्थिति है। यहां स्वरित से पूर्व अनुदात्त का चिह्न नहीं लगता। क्योंकि यहां पर पूर्ववर्ती अक्षर उदात्त होता है।

ईर्य, वर्य, वार्य, वीर्य, शीर्ष शब्द द्व्यच् (दो अक्षर वाले) हैं। धातु से कृत्य (ण्यत्) प्रत्यय करके निष्पन्न हैं। यत्-प्रत्ययान्त न होने के कारण 'यतोऽनाव' (पा ६,१,२१३) से आद्युदात्त भी नहीं होने चाहिये, यथार्थ में हैं परन्तु सब आद्युदात्त शब्द ही, इस लिये 'ईडवन्द०' (पा. ६,१,२१४) इत्यादि विशेष सूत्र से यहां आद्युदात्तत्व की व्यवस्था हो जाती है (देखें पृ. १२३)। और तित्-स्वर का अवकाश नहीं रहता। 'शीर्ष' शब्द दो अक्षर वाला भी है, यत्-प्रत्ययान्त भी है, परन्तु 'यतोऽनाव' से यहां आद्युदात्तत्व नहीं होता, प्रत्युत तित् स्वर

1. माध्यन्दिन-शिरोभी स्यन् नातोऽप्यवन्तु च स्वर ।
स्वरौ चैवात्र दृश्येते (अन्योदात्तानुदात्तयो) ॥
यत्राहो यत्र सोऽवग्रहपूर्वं तद्भवेत् ।
तत्रावग्रहे भवेद् स्वरावनुगतौ निर्णयः ॥
(याज्ञ शिक्षायां ८१)।

से अन्त स्वरित ही होता है। इसमें प्रमाण 'सु' शब्द से पर में 'वीर्य' शब्द को आद्युदात्त सिद्ध करने के लिये 'वीरवीर्यौ च' (पा. ६,२,१२०) सूत्र में विशेष कर 'वीर्य' शब्द का ग्रहण है। अन्यथा 'वीर्य' शब्द द्व्यच् और यत्-प्रत्ययान्त होने से यतोऽनावीय-स्वर से ही आद्युदात्त सिद्ध था, और 'आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि' (पा. ६,२,११९) सूत्र से 'सु' शब्द से पर में आद्युदात्त ही रहता, फिर सूत्र में आद्युदात्तत्व करने के लिये 'वीर्य' शब्द का ग्रहण इस रहस्य में ज्ञापक है कि महर्षि पाणिनि की दृष्टि में 'वीर्य' शब्द में यतोऽनावीय-स्वर से आद्युदात्तत्व नहीं प्रत्युत तित् स्वर से स्वरित प्राप्त है। समास में उत्तर-पद के आद्युदात्तत्व के लिये इस लिये विशेष सूत्र में वीर्य-शब्द को पढ़ा। ऐसे ही अुर्ध्यः (ऋ १०,१४४,४) भी अन्त-स्वरित है। तीन वर्णों वाले 'दुव्य' आदि यत्-प्रत्ययान्त शब्दों में तित्स्वर से स्वरित ही होगा।

अब वेद की प्रत्येक शाखा के विभिन्न स्वर-चिह्नों पर ध्यान दीजिये। १. नित्य-स्वरित, २. सन्धि-स्वरित, ३. संहिता-स्वरित का क्रम से विवेचन इस प्रकार है।

१. ऋग्वेद में जात्य (नित्य-स्वरित) में स्वरित-चिह्न का प्रकार यह है—

(क) यदि स्वरित अक्षर का परवर्ती अक्षर अनुदात्त होगा, तो स्वरित का चिह्न स्वरित अक्षर के ऊपर ऊर्ध्वरेखा(।) होगा। पद-पाठ हो या संहिता-पाठ स्वरित से पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे सन्नतर (अनुदात्त) का चिह्न निम्न-रेखा (–) होगा। जैसे—कुन्यां वव्रवुषे से (ऋ. ३,३१,१०), वीर्यं सुपद्योः (ऋ. १,८०,८)। यहां 'कुन्यां' और 'वीर्यम्' शब्दों से पर में अनुदात्त अक्षर हैं, उदात्त नहीं। इसलिए 'न्यां' और 'र्यम्' पर ऊर्ध्व-रेखा है।

(ख) यदि स्वरित अक्षर से परवर्ती उदात्त अक्षर है, तो ह्रस्व स्वरित के लिए १ ऐसा ह्रस्व-कम्प का चिह्न तथा दीर्घ स्वरित के लिए ३ यह दीर्घ-कम्प का चिह्न लगेगा। संहिता-पाठ में सर्वत्र यही सिद्धान्त है। पद-पाठ में द्वि-उदात्त शब्दों में है (देखें पृष्ठ २३)।

१. ह्रस्व-कम्प का उदाहरण जैसे—वृ॒ष्ण्य॑१ वीरः (ऋ. ४,१०,१)। यहां 'व्य.' उदात्त अक्षर परवर्ती है, और उसके पूर्व 'ष्' स्वरित के ह्रस्व होने के कारण ह्रस्व-कम्प का चिह्न १ है। वीर्यं॑ परेषंम

(ऋ. २,१२,११)। यहां परवर्ती 'यद्' उदात्त के कारण पूर्ववर्ती ह्रस्व 'यम्' स्वरित को १ ह्रस्व-कम्प का चिह्न लगा हुआ है। ऐसे ही— वीर्यं१ तव (ऋ. १,५७,५) है।

दीर्घ-कम्प का उदाहरण जैसे—क्वे३दानीम् (ऋ. १,३५,७)। यहां गुण-सन्धि से क्व+इ>क्वे यह दीर्घ-स्वरित की स्थिति है। परवर्ती उदात्त 'दा' के कारण दीर्घ-कम्प का चिह्न ३ लगा है। ऐसे ही— कन्या३ नामभिः (ऋ. १,१६१,५)।

(ग) आधे मन्त्र के अन्त में स्वरित अक्षर हो और मन्त्र के अर्ध-भाग के आदि में उदात्त अक्षर हो, तो कम्प-स्वर का चिह्न नहीं लगता। जैसे—वीर्यं। यद् (ऋ. १,८०,७)। यहां मन्त्र के पूर्वार्ध के अन्त में 'वीर्यम्' है, और शेष मन्त्र के आदि में 'यद्' है। यहां उदात्त पर में होते हुए भी कम्प का चिह्न नहीं है।

(घ) संधि-स्वरित में भी यही व्यवस्था है। जैसे—अप्स्व१न्तः (ऋ. १,२३,१९)। स्वाध्य१ः पवमानास (ऋ. ९,२१,१) ये दोनों उदाहरण क्षैप्र-स्वरित के हैं। अप्सु+अन्त. में पूर्वापर संधि से 'उ' को 'व्', और स्वाधी+अस् में 'ई' को 'य्' हुआ है। 'अप्स्व१न्त' में उदात्त अक्षर 'न्त' पर में है। अन्तर् (निपात) अन्तोदात्त है। 'स्वाध्य.' शब्द के पद-पाठ में तो ऊर्ध्व-रेखा वाला स्वरित ही होगा, परन्तु संहिता पाठ में 'पवमानास.' का 'प' उदात्त पर में होने से कम्प का चिह्न लगेगा। 'पवमान' शब्द √पूङ् 'पवने' धातु से 'शानन्'[1] प्रत्यय करके नित्-स्वर से आद्युदात्त है।

(ङ) धुरी३वात्यः (ऋ. ७,३४,५)। यह प्रश्लिष्ट-स्वरित का निदर्शन है। पाणिनीय-न्याय में इसी सन्धि को दीर्घ-सन्धि कहते हैं। यहां धुरि+इव+अत्यः इन तीन शब्दों की संधि में धुरि+इव के पूर्वापर 'इ' की प्रश्लिष्ट-संधि और इव+अत्यः में पूर्वापर अनुदात्त के साथ उदात्त 'अ' के एकादेश[2] से 'वा' उदात्त है। प्रश्लिष्ट-स्वरित में भी दीर्घ-स्वरित की स्थिति दीर्घ-कम्प (३) से दिखाई गई है।

(च) हितो३ऽभि (ऋ. ९,२५,२)। यह अभिनिहित स्वरित (पाणिनीय-सम्प्रदाय में पूर्वरूप-संधि) का उदाहरण है। हि (त>) तो+अभि

1. पूङ्यजोः शानन् (पा. ३,२,१२८)। 2. एकादेश उदात्तेनोदात्तः (पा. ८,२,५)।

इस स्थिति में पूर्व-रूप होकर 'तो' उदात्त और 'ऽ' अनुदात्त के योग से स्वरित है। 'अभि' उपसर्ग अन्तोदात्त है, शेष आदि का 'अ' अनुदात्त है। √धा धातु से क्त-प्रत्ययान्त 'हितः' शब्द अन्तोदात्त है। इस प्रकार निष्पन्न दीर्घ-स्वरित का ज्ञान कराने के लिए ३ यह दीर्घ-कम्प का चिह्न लगा है।

(छ) संहिता-स्वरित को ही प्रातिशाख्यों में प्रातिहत-स्वरित कहा गया है। इसका चिह्न संहिता-पाठ में या पद-पाठ में ऊर्ध्व-रेखा है। परन्तु इससे पूर्व बिना चिह्न का उदात्त अक्षर होना अनिवार्य है। सन्नतर (अनुदात्त) की नीचे पड़ी रेखा (–) पूर्व में नहीं होगी। उदाहरण 'अग्निमीळे' (ऋ. १,१,१) आदि हैं।

२. (क) शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा (प्रसिद्ध यजुर्वेद) में संहिता-स्वरित की स्थिति ऋग्वेद के समान है। जैसे—शिवसंकल्पम् (मा. ४३,५) में अन्तोदात्त 'शिव' शब्द के 'संकल्प' शब्द के साथ बहुव्रीहि-समास में पूर्व-पद की प्रकृति 'शिव' का अन्तोदात्त-स्वर श्रूयमाण है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा. ६,१,१५८) के नियम से शेष सब अक्षर अनुदात्त हैं। 'व' उदात्त से पूर्व 'शि' अनुदात्त के नीचे सन्नतर की निम्न-रेखा है। 'व' उदात्त से परवर्ती अनुदात्त 'सं' पर संहिता-स्वरित की ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न है। और शेष एक-श्रुति है।

(ख) नित्य-स्वरित हो या संधि-स्वरित, पद-पाठ हो या संहिता-पाठ यदि स्वरित अक्षर का परवर्ती अक्षर अनुदात्त है तो स्वरित का चिह्न (L) स्वरित अक्षर के नीचे लगता है। इस स्वरित-चिह्न से युक्त स्वरित अक्षर से पूर्व सन्नतर की निम्न-रेखा वाला अक्षर अनिवार्य है। जैसे—वीर्यमसि (मा. २,८) वीर्येण (मा. ५,२०) कृत्या इव (मा. १७,१७) शिवा स्या इव (मा. ६,१०) आदि में यहां सर्वत्र स्वरित से पर में अनुदात्त अक्षर है और पूर्व में सन्नतर के चिह्न वाला अक्षर है।

(ग) यदि नित्य-स्वरित या संधि-स्वरित का परवर्ती अक्षर उदात्त है, तो पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (ᴗ) यह स्वरित का चिह्न लगता है। यह स्वर ऋग्वेद के कम्प-स्वर का प्रतिनिधि है। जैसे—वीर्यं मयि धेहि (मा. १६,१)। पुत्रेऽजनयें (मा. ४,०)। योऽस्मान् (मा. १,८)। शुश्रुवस्. (मा. ६,१) आदि में सर्वत्र उदात्त अक्षर पर में रहते निर्दिष्ट स्वरित का चिह्न है।

(घ) यदि मन्त्रारम्भ में स्वरित अक्षर हो तो स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा ही होगा। जैसे—त्र्यम्बकं यजामहे (मा. ३,५८,६०)।

(ङ) यदि मन्त्रार्ध के आदि में उदात्त अक्षर हो, और उसके पूर्ववर्ती मन्त्रार्ध के अन्त में स्वरित अक्षर हो तो स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा ही होगा। जैसे—वृष्ण्यं। वसुरग्नि (मा. ३,२५)।

३. (क) शुक्ल-यजुर्वेद की काण्व-संहिता में सधि-स्वरित का ज्ञान कराने के लिए अनुदात्त अक्षर पर में हो तो ऋग्वेद के समान ही ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न लगेगा। जैसे—विष्णों ध्रुवोऽसि (काण्व. ५,५,९)। यहां 'ध्रुवोऽसि' अभिनिहृत स्वरित का उदाहरण है। पूर्ववर्ती अनुदात्त (सन्नतर) अक्षर 'ध्रु' से पर में 'वो' स्वरित के बोध के लिए ऊर्ध्व-रेखा है। और उसके पर में अनुदात्त अक्षर 'सि' वर्तमान है। माध्यन्दिन-संहिता (५,२१) में यही मन्त्रांश 'विष्णों ध्रुवोऽसि' है।

(ख) नित्य-स्वरित में भी यही स्वरित-चिह्न का प्रकार है। जैसे—वीर्याणि (काण्व. ५,५,६)। माध्यन्दिन-संहिता में यही शब्द वीर्याणि (मा. ५,१८) है।

(ग) ऋग्वेद के कम्प-स्वर के स्थान में माध्यन्दिन-संहिता में स्वरित का चिह्न (‿) ऐसा है। परन्तु इसके स्थान में काण्व-संहिता में (–) ऐसी निम्न-रेखा है। जैसे—योऽस्माम् (५,३,२)। माध्यन्दिन-संहिता में योऽस्माम् (मा. ५,६)। काण्व-संहिता में प्रतुर्तेऽश्विनौ (का. ५,७,१)। माध्यन्दिन-संहिता में प्रतुर्तेऽश्विनौ (मा. ५,२६)। काण्व-संहिता में योऽस्मान् (का. १,६,४)। माध्यन्दिन-संहिता में योऽस्मान् (मा. १,८)। यह सब उदाहरण अभिनिहृत स्वरित के हैं।

(घ) क्षैप्र-स्वरित में काण्व-संहिता में अप्स्वन्तः (का. १०,२,३) माध्यन्दिन-संहिता में अप्स्वन्त (मा. ६,६)।

(ङ) नित्य-स्वरित में काण्व-संहिता में स्वर्यौर्व (का. ५,१,५) माध्यन्दिन-संहिता में स्वर्यौर्व (मा. ५,५)।

(च) काण्व-संहिता में भी संहिता-स्वरित का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है।

४. (क) कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा का स्वरित-चिह्न सर्वत्र ऊर्ध्व-रेखा है। जैसे—विश्वें वीर्याणि (तै. ४,६,८,१) में दो पद हैं। 'विश्वें' में संहिता-स्वरित है। क्रम से ऋ (सन्नतर) 'घ्

(उदात्त) 'थे' (संहिता-स्वरित) में स्वर-संचार का साधारण क्रम है। 'वीर्याणि' शब्द नित्य-स्वरित का उदाहरण है। जहां 'वी' सन्नतर के बाद 'र्या' यह जात्य-स्वरित प्रत्यक्ष है। 'णि' एक-श्रुति है। ऐसे ही 'वर्चस्वन्तं मनुष्येषु' (तै. ३,३,१,२) में भी दो पद हैं। पहले पद में संहिता-स्वरित और दूसरे 'मनुष्येषु' में नित्य-स्वरित। शेष चिह्न-शून्य अक्षर स्वरित के बाद एक-श्रुति के हैं।

(ख) 'सुवि॒नुः प्र॒सुवेऽश्विनोः' (तै. १,१,४,२) में 'सुवितुः प्र°' तक संहिता-स्वरित है। जिसमें 'स' (अनुदात्त) 'वि' (सन्नतर) 'तुः' (उदात्त) 'प्र' (संहिता-स्वरित) यह स्वर-क्रम है। शेष '°सवेऽश्विनोः' इतना अंश अभिनिहत-स्वरित (पूर्वरूप-संधि) का है। पूर्व-प्रतिपादित नियम के अनुसार यहां 'स' (सन्नतर) के पश्चात् 'वेऽ' स्वरित पर ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न है। जबकि परवर्ती उदात्त अक्षर 'श्वि' भी वर्तमान है।

(ग) 'उर्वन्तरिक्षम्' (तै. १,१,४,१)। यह क्षैप्र-स्वरित का निदर्शन है। यहां 'उ' सन्नतर के बाद 'रु' (उदात्त) और 'अ' (अनुदात्त) की यण्-संधि से 'र्व' स्वरित की अभिव्यक्ति हुई है। क्षैप्र-स्वरित के पश्चात् 'न्त' उदात्त है। इस प्रकार तैत्तिरीय-शाखा में स्वरित-मात्र का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है।

५. कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी-शाखा के दो संस्करण उपलब्ध हैं। पाश्चात्य विद्वान् श्रोडार का संस्करण तथा सातवलेकर-संस्करण।

(क) पाठ और स्वर-निर्देश की दृष्टि से श्रोडारमहोदय का संपादन अधिक परिष्कृत है। इस संस्करण में अनुदात्त और संहिता-स्वरित के चिह्न निर्दिष्ट नहीं हैं। सातवलेकर-संस्करण में सब स्वरों का यथावत् निर्देश है। जिनमें संहिता-स्वरित का चिह्न (ᴗ) अक्षर के नीचे होता है। यदि स्वरित अक्षर उदात्त के पश्चात् और सन्नतर के पूर्व हो। जैसे—चक्षुषे स्वाहा, मंनुसे स्वाहा (मै. ३,१२, १०)। यहां पर ऊर्ध्व-रेखा का चिह्न उदात्त का है। इस लिये 'च' (उदात्त) 'क्षु' (संहिता-स्वरित) 'षे' (सन्नतर) फिर 'स्वा' (उदात्त) का स्वर-क्रम है। यही 'मंनुसे स्वाहा' में भी क्रम है।

यदि सन्नतर पर में नहीं तो (L) ऐसा चिह्न होगा। जैसे—विष्णुः स्तवते (मै १.२,१) में संहिता-स्वरित का चिह्न (L) अक्षर के नीचे निर्दिष्ट है। यहां 'वि' उदात्त से पर में 'ष्णुः' स्वरित है और उसके आगे सन्नतर का

चिह्न नहीं है। ऐसे ही—मेघ्यो (मै. १,११,१०) में स्वरित के बाद सन्नतर नहीं है।

(ख) नित्य-स्वरित और संधि-स्वरित के निर्देश के लिये यदि उदात्त अक्षर परवर्ती न हो तो अक्षर के नीचे (◡) चिह्न लगता है। जैसे—धीरुमस्मिन् (मै. ३,२,८) में 'धी' (सन्नतर) के आगे 'रु' अक्षर जात्य-स्वरित है और उसके पश्चात् उदात्त अक्षर नहीं है। ऐसे ही मनुष्येभ्यः (मै. ३,६,१) में भी है।

(ग) संधि-स्वरित में क्षैप्र-स्वरित का उदाहरण जैसे—व्युश्वताम् (मै. १,१,१४) अभिव्युनताम् (मै. १,१,५)। यहां दोनों क्रियाओं में वि+उ=व्यु इस प्रकार उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर के साथ यण्-सन्धि से स्वरित है।

(घ) प्रश्लिष्ट-स्वरित का उदाहरण—वीहि (मै. १,२,१६) है। यहां वि+इहि=वीहि उदात्त तथा अनुदात्त की दीर्घ-सन्धि से स्वरित निष्पन्न है।

(ङ) अभिनिहित-स्वरित—स्कम्भोऽसि (मै. १,१,७) में °म्भः+असि =°म्भोऽसि यह पूर्वरूप-सन्धि से स्वरित बना है।

(च) उदात्त अक्षर पर में होते हुए भी पराक्षर जात्य-स्वरित का यही (◡) स्वरित-चिह्न है। जैसे—स्वः पश्य (मै. १,१,१०)।

(छ) यदि उदात्त अक्षर पर में हो तो नित्य-स्वरित और सन्धि-स्वरित का बोध कराने के लिये स्वरित अक्षर के ऊपर (।) ऊर्ध्व-रेखा और उससे पूर्व ३ का अङ्क लगता है। जैसे—जात्य-स्वरित—सुवीर्य३र्यं वं (मै. ३,६,६)। समुद्र३र्य तेज° (मै. ३,६,७) आदि।

सन्धि-स्वरित—यु३वंन्नरिक्षम् (मै. १,१,१२) तथा तु३भ्यां संमर्पयति (मै. ३,२,६) में क्षैप्र-स्वरित के पूर्व ३ अङ्क है। बाहे३भ्योऽभ्यायाः (मै. २,६,१) में अभिनिहित-स्वरित के कारण 'भोऽ' के पूर्व तथा ३र्वीरिषाः (मै. १,१,११) में प्रश्लिष्ट-स्वरित के कारण 'वी' के पूर्व ३ अङ्क है। सर्वत्र पर में उदात्त है और '३भ्यो' के पूर्ववर्ती अक्षर पर सन्नतर का निम्न-रेखा का चिह्न है।

६. कृष्ण-यजुर्वेद की काठक-शाखा में सर्वत्र स्वर का निर्दे उपलब्ध नहीं है। मैत्रायणी-शाखा के समान इसके भी श्योडा संस्करण तथा सातवलेकर-सरकरण दो सस्करण हैं।

(क) मैत्रायणी के समान यहां भी अनुदात्त अक्षर पर रहते नित्य-स्वरित और सन्धि-स्वरित दोनों का चिह्न अक्षर नीचे सातवलेकर-सस्करण में (◡) है और श्योडार-सस्करण (c) ऐसा चिह्न है। जैसे—जात्य-स्वरित—असुर्यम् (काठ ४,१२) धीर्यम् (काठ ४, १५) है। ऐसे ही वीर्यावन्तम् (काठ ७,६) भी है।

सन्धि-स्वरित मे क्षैप्र स्वरित—उक्थ्यायुम्, देवाय्युम् (काठ ४,१ म्युवम् (काठ ११ १२)। प्रश्लिष्ट स्वरित—नीहि (काठ २,६)। नित्रीव (का ३ ३)। अभिनिहित स्वरित—सोऽस्मिं (काठ ११,१०) आदि। सर्व स्वरित चिह्न से युक्त अक्षर स्वरित है। इस शाखा मे उदात्त या स्वरि से पूर्व सन्नतर का चिह्न दृष्टिगत नहीं होता।

(ख) मन्त्र के आदि मे स्वरित का चिह्न (ω) है, यदि पर उदात्त हो। जैसे—क्व स्था यो मरुत (काठ ६,१८)। स्मरण र काठक सहिता मे भी मैत्रायणी के समान उदात्त का चिह्न उदा अक्षर के ऊपर ऊर्ध्व-रेखा है।

(ग) यदि उदात्त अक्षर पर मे हो तो श्योडार सस्करण नित्य-स्वरित या सन्धि-स्वरित मे पूर्ववर्ती स्वरित अक्षर के नी स्वरित का चिह्न (∧) है। और सातवलेकर सस्करण मे (ω) है जैसे—वि स्वः पश्य (काठ ४ ३) मे नित्य-स्वरित स्व के नी स्वरित का चिह्न है। न्यू नविषम् (काठ ४,१)। यो हीन्द्रस्य (कठ १ २) योऽस्मान् (काठ ३,८) इन उदाहरणों मे क्रम से क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तथ अभिनिहित स्वरितों मे स्वरित अक्षर के नीचे स्वरित चिह्न है।

(घ) इस शाखा मे सहिता स्वरित का चिह्न उपलब्ध नहीं है।

७ (क) सामवेद की कौथुम शाखा मे सहिता-स्वरित क सामान्य चिह्न अक्षर के ऊपर २ के अङ्क का चिह्न है। जैसे—
अग्न[1] आयाहि[2] वीतये[3 1 2], बर्हिषि[3 1 2] (की १ १) सर्वत्र क्रम से उदात्त अक्षर 'ग्ना', 'त' हि के ऊपर १ सख्या और सहिता स्वरित के कारण परवर्ती स्वरित के ऊपर २ सख्या और सन्नतर (अनुदात्त) का चिह्न ३ सख्या है।

(ख) नित्य-स्वरित (जात्य) तथा सन्धि-स्वरित के ज्ञान के लिये यदि उदात्त पर में न हो तो स्वरित अक्षर के ऊपर २र (२ संख्या से युक्त रेफ) का चिह्न है। जैसे नित्य-स्वरित—मनुर्ध्येभिः (कौ. १,७१) में 'नु' अक्षर अनुदात्त (सन्नतर) है (स्वरित के पूर्ववर्ती सन्नतर अक्षर पर सामवेद में ३क का चिह्न लगता है)। उसके बाद 'ध्ये' पर स्वरित का चिह्न निर्दिष्ट है।

(ग) सन्धि-स्वरित में—देव्येतु (कौ. १,७६) में 'वे' सन्नतर के आगे वी+ए=व्ये क्षैप्र-स्वरित है। अग्नो न्यस्मिन् (कौ. १, ३१३) भी क्षैप्र-स्वरित का उदाहरण है। यहां 'न्यो' सन्नतर के आगे नि+अ=न्य ऐसा यण्-सन्धि से क्षैप्र-स्वरित निष्पन्न हुआ है। ऐसे ही चम्वोः (कौ. १,५१३) है। ऐसे ही प्रश्लिष्ट तथा अभिनिहित स्वरित की स्थिति जानें।

(घ) उदात्त अक्षर पर में होने पर नित्य-स्वरित और सन्धि-स्वरित में स्वरित अक्षर के ऊपर (२) का निर्देश और अक्षर के आगे ३ संख्या का चिह्न लगेगा। जैसे नित्य-स्वरित—रथ्यो३ यथा (कौ. २, २३२)। यहां पाद के अन्त में 'यथा' शब्द का अन्तिम अक्षर अनुदात्त होने के कारण पहला अक्षर 'य' उदात्त है। और उदात्त अक्षर पर में होने से नित्य-स्वरित 'ध्यो३' के सिर पर २ तथा आगे ३ संख्या का चिह्न है। और स्वरित से पूर्व सन्नतर 'र' वर्तमान है। संधि-स्वरित में क्षैप्र-स्वरित का उदाहरण—तन्वे३ वारेषि (कौ १,६५)। अप्स्व३न्तः (कौ. १,५१२)। दोनों स्थलों में ३ संख्या से युक्त स्वरित अक्षर के ऊपर २ का चिह्न वर्तमान है। पूर्ववर्ती सन्नतर पर अनुदात्त या ३ का चिह्न और परवर्ती उदात्त पर उदात्त का चिह्न है। अभिनिहित-स्वरित में—इमे३ऽभि (कौ. २, १४१), सुपे३श्मन्तः (कौ. १,३३१), हिते३ऽधि (कौ. २,७७१)। यही न्याय प्रश्लिष्ट-स्वरित में भी है।

(ङ) दो या तीन उदात्त अक्षरों के अनन्तरवर्ती संहिता-स्वरित के ऊपर भी २र का स्वरित चिह्न लगता है। जैसे—नि होता (कौ. १,१) में 'नि' और 'हो' दोनों उदात्तों के परवर्ती 'ता' स्वरित पर २र का चिह्न है।

८ शौनक-संहिता (प्रसिद्ध अथर्ववेद) में स्वरित के चिह्न प्रायः ऋग्वेद के समान हैं। अन्तर स्वल्प ही है।

(क) संहिता स्वरित का चिह्न यहां पर भी ऋग्वेद के समान ऊर्ध्व-रेखा (ꣳ) है। जैसे—ध्रुव विश्वमिदं जगत् (शौ. ६,८८,१)। यहां भी ऋग्वेद के समान 'ध्रु' (सन्नतर) व 'वि' (उदात्त) 'श्व' (स्वरित) 'मि' (सन्नतर) 'द ज' (उदात्त) 'ग' (स्वरित) यही क्रम संहिता-स्वरित का है।

(ख) उदात्त परवर्ती न हो तो ऋग्वेद में नित्य-स्वरित (जात्य) का चिह्न ऊर्ध्व-रेखा है। परन्तु अथर्ववेद में ऐसी स्थिति में स्वरित का चिह्न (ऽ) यह है। जैसे—वीर्यम् (शौ १७,१)। मनुष्याऽ (शौ ११, ७,२७)। घृत्याऽ (शौ. १,१४,२)। पुरुष्याऽन (शौ ६,६६,२)। यह सब जात्य-स्वरित के उदाहरण हैं।

(ग) सन्धि-स्वरित में भी यही स्थिति है। जैसे—सहस्त्यऽर्णे (शौ. ११, ८,२), न्यऽक्तपति (शौ. ६ ६१,२)। यहां क्षैप्र-स्वरित है। अभीऽच्छाद् (शौ १०,२, ४)। यहां °भि+इ° के प्रश्लिष्ट स्वरित से 'भी' स्वरित के आगे स्वरित का चिह्न है। शत्रुद्धोऽसि (शौ ६ ८८ ३)। अप्रतिष्ठानोऽनायतन (शौ ११,३ [२ पटल] ४९) इन दोनों उदाहरणों में अभिनिहत-स्वरित से अनुदात्त 'अ' के साथ पूर्ववर्ती उदात्त का स्वरित-स्वर है।

(घ) यदि उदात्त अक्षर परवर्ती हो तो जात्य-स्वरित या सन्धि-स्वरित में ऋग्वेद के समान ह्रस्व-स्वरित में ह्रस्व-कम्प १ का और दीर्घ-स्वरित में ३ ऐसा दीर्घ-कम्प का चिह्न होगा। (ऋग्वेद में यही दोनों कम्प १ ३ हैं)।

जात्य-स्वरित में जैसे—नपुंष्यां३दधो (शौ ६,६६,२)। यहां परवर्ती उदात्त अक्षर 'द' ('द्' व्यञ्जन से युक्त 'अ') है। और पूर्व में दीर्घ स्वरित 'ष्या' के ज्ञान के लिए ३ का चिह्न है।

(ङ) सन्धि स्वरित में क्षैप्र-स्वरित—न्वे१ग्वतो याति (शौ ६,६१,२) सुध्य१ङ् माम् (शौ. ६,८१,२) दोनों स्थलों में क्रम से नि+अच् तथा

सु + अं + अत् की यण्-संधि से क्षैप्र-स्वरित न्वं, सु॒न्वं॑ निष्पन्न है उदात्त परवर्ती होने के कारण ह्रस्व-कम्प का १ चिह्न ह्रस्व-स्वरित के ज्ञान के लिए है।

प्रश्लिष्ट-स्वरित—अ॒भी॒३मे (शौ. ६,१२६,२)। यहां 'अभि' शब्द के अन्तोदात्त 'भि' के साथ अन्तोदात्त 'उमे' शब्द के आद्य अनुदात्त अक्षर 'उ' का दीर्घ-संधि से प्रश्लिष्ट-स्वरित 'भी' सम्पन्न हुआ है। दीर्घ-स्वरित के ज्ञान कराने के लिए मध्य में दीर्घ-कम्प का ३ चिह्न है। क्योंकि 'मे' शब्द उदात्त पर में वर्तमान है। 'अभि' का 'अ' पूर्व में सन्नतर (अनुदात्त) के चिह्न से निर्दिष्ट है।

अभिनिहत-स्वरित—अ॒ग्न॒रो॑३ऽयम॑स्तु (शौ. ५,२०,६)। यहां पूर्वरूप-संधि से अन्तोदात्त 'अग्नरः' शब्द के अन्तिम उदात्त अक्षर 'रः' और 'अयम्' शब्द के आद्य अनुदात्त 'अ' का अभिनिहत-स्वरित 'रो' है। परवर्ती उदात्त 'य' के कारण दीर्घ-स्वरित का निर्देशक चिह्न ३ साथ है।

६. अथर्ववेद की पैप्पलाद-शाखा में स्वरित के विलक्षण चिह्न हैं। यद्यपि सर्वत्र स्वर नहीं हैं।

(क) संहिता-स्वरित में स्वरित अक्षर के नीचे बिन्दु लगता है। जैसे—शंनो॑ स्यु॒ पंनः (पै. २,५,१)। पैप्पलाद-शाखा में भी उदात्त का चिह्न (।) ऊर्ध्व-रेखा है। 'सं' उदात्त के परवर्ती संहिता-स्वरित 'पु' के नीचे स्वरितत्व-बोधक बिन्दु है। फिर आगामी ऊर्ध्व-रेखा से युक्त उदात्त 'पं' के ज्ञान कराने के लिए पूर्ववर्ती सन्नतर 'स्य' के नीचे खड़ी रेखा अनुदात्त की परिचायक है (पृष्ठ ७५ देखें)।

(ख) उदात्त पर में हो या अनुदात्त नित्य-स्वरित तथा संधि-स्वरित का बोध कराने के लिए (L) स्वरित-चिह्न है। जैसे—मनुष्यम् (पै. १,१०६,३) वीर्यम् (पै. १,६५,४) यहां सर्वत्र सन्नतर की निचली खड़ी रेखा के बाद 'ष्य' नित्य-स्वरित का निदर्शन वर्तमान है।

संधि-स्वरित—धिधि॒ष्व॑न्निन्द्रम् (पै. १,११०,२)। यहां 'धि' सन्नतर के बाद धी + अ = ध्व (यणू-संधि से क्षैप्र-स्वरित है) जिसके नीचे संधि-स्वरित का चिह्न है। उससे आगे उदात्त अक्षर 'न्नं' तथा उसके पश्चात् संहिता-स्वरित से 'द्रि' फिर स्वरित है, जिसके नीचे बिन्दु का ... है। ऐसे ही त्वम् वारं वारि स्पृह (पै. १,११३,१) में दो

संधि-स्वरित के और एक संहिता स्वरित का उदाहरण है। इन दो संधि-स्वरितों का पहला 'न्यक्' मन्त्र के आदि में होने के कारण सन्नतर से पर में नहीं है। दूसरा 'न्यक्' सन्नतर 'ति' से पर में है। 'तो' अक्षर उदात्त 'वा' से पर में संहिता-स्वरित का सूचक है।

(ग) विशेष प्रतिपत्ति के लिए प्रथमं हिर्वतं (पै. १,८३,२) का तुलनात्मक शौनक-शाखा का पाठ प्रथमं हुँहृतत् (शौ १,२५ २) प्रस्तुत किया जा सकता है। यहां 'म' अक्षर सन्नतर के बाद 'अं हिं' यह दो उदात्त हैं। 'हिं' के साथ 'पर्वत' शब्द के अनुदात्त 'प' का यण् संधि से 'ह्ये' क्षैप्र-स्वरित है। इसी लिए शौनक-शाखा में दीर्घ-कम्प का चिह्न ३ निर्दिष्ट है। ऐसे ही वीर्यम् (पै. १,६५,४) की तुलना ऋग्वेद के वीर्यम् (ऋ १०,६७,२१) से करें।

१०. (क) माध्यन्दिन-शाखा के शतपथ ब्राह्मण (वेबर-संस्करण) में स्वरितमात्र का ज्ञान कराने के लिए स्वरित अक्षर के पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (=) दो पडी रेखायें लगाते हैं। परन्तु काण्व-शाखा के शतपथ-ब्राह्मण (कैलेंड-संस्करण) में स्वरित अक्षर से पूर्व के अक्षर के नीचे केवल (–) एक नीचे पडी रेखा लगाते हैं। जैसे—जात्य-स्वरित—वीर्यवन्त (माध्य. १,३,४,१)। मनुष्यान् विवेद (माध्य.१,२,५,२४)। यहां स्पष्ट 'र्य' तथा 'ष्य' स्वरितों के बोध के लिए पूर्ववर्ती अक्षरों 'वी' और 'नु' के नीचे दो पडी रेखायें हैं।

(ख) संधि-स्वरित में क्षैप्र-स्वरित—उर्वन्तरिक्षम् (माध्य. १,१,२,४)। यर्यमु ह्येवैतान् वर्धयति (माध्य १,१,४,२०) यह दो उदाहरण हैं। पहले में यण्-संधि से उरु+अन्त°=उर्वन्त° इस प्रकार 'र्व' स्वरित का ज्ञान कराने के लिए 'उ' के नीचे दो निम्न पड़ी रेखाओं का चिह्न है। दूसरे उदाहरण में दो स्वरित हैं। एक 'ह्ये' (हि+ए°) स्वरित है, जिसके ज्ञान के लिए पूर्ववर्ती 'अ' के नीचे दो पड़ी रेखायें हैं। दूसरा 'वै' (°व+ए°) स्वरित है, जिसके बोध के लिए पूर्ववर्ती 'ह्ये' स्वरित अक्षर के नीचे दो पड़ी रेखायें विद्यमान हैं। प्रश्लिष्ट-स्वरित—यदि नाभिचरेत (माध्य. १,१,४,७) यहां 'यु' और 'च' तो दोनों उदात्त हैं। दीर्घ-संधि से न+अ°=ना° स्वरित के ज्ञान कराने के लिए पूर्व

अक्षर 'दि' के नीचे दो पडी रेखायें है। अभिनिहत-स्वरित—एतद्वेषोऽ-
स्या अपहते (माश. १,२,४,१७) यहा °षः+अ°=°षो° स्वरित के ज्ञान
के लिए पूर्ववर्ती 'दे' के नीचे दो पडी रेखायें वर्तमान है।

११. काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण का उदाहरण जैसे—किंदेवत्यानि
(काश. २,५,३ १६) मे 'किंदेवत्य' शब्द 'देवतान्तात् तादर्थ्ये यत्' (पा. ५,
४,२४) सूत्र से यत्-प्रत्ययान्त तथा 'तित्स्वरितम्' (पा. ६,१,१८५) सूत्र
से स्वरितान्त शब्द है। और 'त्य' के स्वरितत्व के ज्ञान के
लिए पूर्व अक्षर 'व' के नीचे एक रेखा का चिह्न है।
ऐसे ही कुक्कुटोऽसि (काश २,१,३,२०) मे 'ट' अन्तोदात्त के साथ अनुदात्त
'अ' के अभिनिहत-स्वरित के ज्ञान के लिए पूर्व अक्षर 'क्कु' के
चे एक रेखा है। माध्यन्दिन शतपथ मे यही शब्द 'कुक्कुटोऽसि' (माश.
,१,४,१८) निर्दिष्ट है। सोऽभिमुद्रत्त (काश ४,६,१,४)। यहा 'सः' शब्द
दात्त है, उसके साथ आगामी 'अ' अनुदात्त के साथ पूर्वरूप-संधि से
सो' अभिनिहत-स्वरित है। 'स' के नीचे पडी एक रेखा उसके
दात्तत्व को और स्वरितत्व को साथ ही बता रही है। ऐसे ही—
त्वप्स्वेवानुविन्दन्ति (काश. १,०,१ ३) इस उदाहरण में दो स्वरित हैं।
हला अप्सु+एव=अप्स्वेव मे 'प्सु' उदात्त का परवर्ती अनुदात्त 'ए'
के साथ क्षैप्र-स्वरित दिखाने के लिए पूर्व अक्षर 'अ' के नीचे स्वरित
की एक रेखा है। दूसरा एव+अनुविन्दन्ति=एवा° मे अन्तोदात्त 'एव'
के 'व' के साथ किया के आद्यक्षर 'अ' अनुदात्त का प्रश्लिष्ट स्वरित
है। उसके निर्देश के लिए पूर्व अक्षर 'प्स्वे' के नीचे स्वरित का
चिह्न है।

१२. तैत्तिरीय-ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक के उदात्त, अनुदात्त,
स्वरित स्वरों का क्रम ऋग्वेद के समान है, अत उनका पृथक्
उल्लेख नहीं। स्वरित-चिह्नों का पूर्ण विवेचन आगे निर्दिष्ट तालिका से
स्पष्ट हो जावेगा।

क्रम-संख्या	वेद या ब्राह्मण	संहिता स्वरित	नित्य-स्वरित (जात्य)	संधि-स्वरित
१	ऋग्वेद	(उदात्त-पूर्व) ⊥	(सन्नतर पूर्व) ह्रस्व-स्वरित १ दीर्घ-स्वरित ३ (उदात्त पर में) ⊥ (अनुदात्त पर में)	नित्य-स्वरित के तुल्य ,,
२	(शुक्ल-यजुर्वेद) माध्यन्दिन-संहिता	,,	ω (उदात्त पर में) L (अनुदात्त पर में)	⊥ (मन्त्र के आरम्भ में)
३	काण्व शाखा	,,	— (उदात्त पर में) ⊥ (अनुदात्त पर में)	⊥ (मन्त्र के आरम्भ में)
४	(कृष्ण-यजुर्वेद) तैत्तिरीय शाखा	⊥	⊥	⊥
५	मैत्रायणी-शाखा	ω	(स्वरित से पूर्व) ३ संख्या (उदात्त पर में) L (अनुदात्त पर में)	नित्य स्वरित के तुल्य तथा एकाक्षर स्वरित का चिह्न (उदात्त पर में भी)
६	काठक-शाखा	अनुपलब्ध	∧ या ω (उदात्त पर में) ⌣ (अनुदात्त पर में) (मन्त्र के आदि में) ω (उदात्त पर में)	नित्य स्वरित के तुल्य
७	सामवेद (कौथुम शाखा)	(एक उदात्त से पर में) २ संख्या (दो उदात्तों से पर में) २र (मन्त्र के अन्त में) २र	(अक्षर के आगे) ३ संख्या (उदात्त पर में) २र (अनुदात्त पर में)	,,
८	अथर्ववेद (शौनक-शाखा)	⊥	ह्रस्व-स्वरित १ दीर्घ स्वरित ३ (उदात्त पर में) ∫ (अनुदात्त पर में)	,,
९	(पैप्पलाद शाखा)	स्वरित के नीचे बिन्दु	L (उदात्त पर में या अनुदात्त पर में)	,,
१०	शतपथ-ब्राह्मण (माध्यन्दिन)	(स्वरित के पूर्व अक्षर के नीचे) =	संहिता स्वरित के तुल्य	संहिता-स्वरित के तुल्य
११	शतपथ-ब्राह्मण (काण्व)	,, —	संहिता-स्वरित के तुल्य	,,

इति श्रीअमरनाथशास्त्रिव्याकरणाचार्यप्रणीतो दशाध्यायी
वैदिकस्वरमीमांसाख्यो ग्रन्थः समाप्तः ॥

वंशादि-परिचय

ख्याते रावलपिण्ड्यास्तु, मण्डले झेलमाऽऽह्वये ।
मोह्यालवंश-जातानां, कर्यालीग्राम-वासिनाम् ॥१॥

यया: प्राप्तेतिविख्यातस्तदीये छिब्बराऽन्वये ।
धन्यो भाई मतिदासो धर्मार्थं जीवनोत्सृजाम् ॥२॥

तद्वंशे जितरामस्य पौत्रोऽस्याऽर्जुनदास-जः ।
काशीरामस्तु जनको, जननी च सरस्वती ॥३॥

जातं दोबेरल-ग्रामे पुत्रं त्यक्त्वा दिवं गतौ ।
लक्ष्मीः पितृष्वसा स्वेन पालयित्वा स्तनन्धयम् ॥४॥

प्रावेशयद् ऋषिकुले पुण्ये भागीरथी-तटे ।
तत्र घूटरथा-मिश्रहरिवंशादि-सूरिभिः ॥५॥

कृतो व्याकरणेऽधीती तथा द्रव्येशाऽऽह्वयैः ।
मन्य-कृत् क्वींस-कालेजे तिवारीविप्रतिष्ठितात् ॥६॥

देवनारायणात् शास्त्रं लब्ध्वा विशिष्टपाठनम् ।
श्रीविश्वनाथप्रीत्यर्थमिमं ग्रन्थं प्रणीतवान् ॥७॥



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५६	३१	अप√हृ	अप√हृ
१५७	८	हुड्	हुड्
१५८	टिप्पण २	युष्मदस्मदो°	युष्मदस्मदो°
१५८	२१	'जन्मन्'	'जन्मन्'
१६६	९-१२ (चार पंक्तियां)	सर्पूदकम से··· नहीं हुई तक	अशुद्ध है, नेष्ट है
१७०	टिप्पण ६	°वंस्तेरो°	°वंस्तैरो°
१७१	६	'इ'	'इ'
१७१	१०	हैं	है
१७५	७	कन्यउ	कन्याउ
१७५	१६	सहिता-पाठ	संहिता-पाठ
१७९	१७	'सं'	'सं'
१८०	२८	'हिं'	'हिं'
१८७	२१	घर्मपति	घर्मपति

अशुद्धि-शोधक पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१६ (टिप्पण में)	वैर्युत्पादनाय	वैर्युत्पादनाय
७	२२ (टिप्पण में)	बहुव्रीहि	बहुव्रीहि
८	१६	उच्चाऽधो-तिर्य°	उच्चाऽधस्तिर्य°
६	१६	एग्रोड	एग्रोड्
१२	२	सश्लिष्ट	संश्लिष्ट
१३	१५	रुह (साढ)	सह् (साढ्)
१४	१४	क्त प्रत्ययान्त	अभि √वृ से क्त प्रत्ययान्त
१६	११	पुरिऽगत्य	पुरिऽगत्यं
१६	१७	'र' से	'र्' से
२१	६	वर्धः, जघान	वर्धः, जघान्
२१	८	अविभः	अविभः
२१	२५	विश्वं ऋतेन	त्रिश्वं ऋतेनं
२२	१	'ऊहं'	'ऊहं'
२७	१८	'ध्' होगा	'ध्' नहीं होगा
३२	४	स्वर्थे इति	स्वर्थे इति
३२	१६	पद है	पद है
३२	२०	'अन्या'	'अन्या'
३४	८	'इति'	'इति'
३५	२६	नीत्ति	नीतिं
३८	१३	सुगुम	सुगुम
४०	६	अमी इति	अमी इति
४०	१०	वायो इत	वायो इति
४०	टिप्पण २	समासेंगु	समासेंगु
४०	टिप्पण २	(ऋग्रा. २१,३१)	(भाषा. ११,३१)
४३	टिप्पण १	पूर्वपदं	पूर्वपदं
४५	१६	मति-स्वम्	मतिऽस्वम्
४७	टिप्पण २	प्रतिमिद्रुनाऽप्र°	प्रतिश्चिद्वैनाऽप्र°

अशुद्धि-शोधक पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५१	१०	प्रऽथानम्	प्रऽथातम्
५१	टिप्पणी ४	(पा. १,४,६१)	(पा. १,४,६०)
५५	८	पव	पत्र
५८	१०	अयुज्यमान	अप्रयुज्यमान
६२	२१	आ। प्रद्व	आ। प्रदेव
६२	२२	उदात्त	उदात्तयुक्त
६५	शीर्षक में	अध्यायः	अध्याय
६६	टिप्पणी ४	पूर्वम°	पूर्वम°
७१	१२	अरवा भवंय	अरत्रा भवंथ
७१	१७	स्वम्	स्वम्
७२	२५	भ्रन्यामिं	भ्रन्त्यामिं
७७	१२	शयपथ-	शतपथ-
८०	२५	भूतं	भूत
१०५	२८	शानच-प्रग्य°	शानच्-प्रत्य°
१०६	१२	क्रियतें	क्रियते
११०	१३	पुश्नि	पुन्दसि
११२	२०	जागर्ति	जागर्ति
११३	२०	परे में	पर में
१२१	१३	धंक्षाचुक्षामः	धंलाचुन्मार्थः
१३२	१०	अभ्यम्	आभ्यम्
१३६	१	शान्दी	शान्दौ
१३६	५	भूपनये	भूर्तये
१३६	१६	भुवनपनये	भुवनपतये
१३६	२१	आपदाप	आपदाप
१४०	६	पूवस्र	पूर्वर
१४४	१६	अप्-ववौंगि	आस्यौंगि
१४४	टिप्पणी ४	दृष	इमप्
१४५	०	पुरी (रम द)	पुरो (रम् द)
१४८	टिप्पणी १	°नाउर्विश°	°नाउर्विश°
१५१	टिप्पणी १	इन्दु इन्दा°	इन्दा इन्दा°

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५६	२१	अप√द्र_	अप√द्रु
१५७	८	द्रद्	द्रुद्
१५९	टिप्पण २	युष्मदस्मदो°	युष्मदस्मदो°
१५९	२१	'जन्मन्'	'जन्मन्'
१६६	६-१२ (सात पंक्तियाँ)	सुपूर्वकम् से ·· नहीं हुई तक	अशुद्ध है, मेट है
१७०	टिप्पण १	°वैन्मेरो°	°वैन्मैरो°
१७१	१	'ह'	'ह'
१७१	१०	है	है
१७६	७	पुरुषुः	पुरुषाः
१७५	११	संहिता-पाठ	संहिता-पाठ
१७६	१७	'नी'	'नी'
१८०	१८	'हि'	'हि'
१८४	३१	कर्वेन्ति	कर्वेन्ति
